प्रकाशक

हिन्दी-साहित्य-कुटीर

हाथीगली, बनारस

सं० १९९१ प्रथम संस्करण ११००
सं० २००२ द्वितीय संस्करण १०००
सं० २००६ तृतीय संस्करण १०००
सं० २०११ चतुर्थ संस्करण १०००
सं० २०१४ पंचम संस्करण १५००

समर्पण

पूज्य मातामह गोलोकवासी भारतेंदु बा० हरिश्चंद्र

के

अनुज

स्व० बा० गोकुलचंद जी

के

पुत्र

स्व० बा० ब्रजचंद जी

को

(स्मृत्यर्थ)

सादर समर्पित

स्नेहभाजन

रेवतीरमणदास

(ब्रजरत्नदास)

विषय-सूची

संख्या		पृ० सं०
१.	आर्य भाषाएँ—उर्दू भाषा की उत्पत्ति	१
२.	काव्य भाषा—उर्दू साहित्य का विकास	१९
३.	उर्दू साहित्य का दक्षिण में आरंभ	३१
४	दिल्ली-साहित्य-केंद्र का आरंभिक-काल	४९
५.	" " पूर्व-मध्य-काल	५९
६	" " उत्तर-मध्य-काल	८०
७.	" " उत्तर-काल	९९
८.	लखनऊ साहित्य-केंद्र—नासिख और आतिश	११९
९.	" " मर्सिए और मर्सिएगो	१४९
१०.	उर्दू साहित्य के अन्य केंद्र	१६६
११.	" का वर्तमान काल	१९५
१२.	उर्दू-गद्य-साहित्य का विकास	२१७
१३.	नाटक-उपन्यास-पत्र आदि	२७१
	परिशिष्ट (क)	२९८
	परिशिष्ट (ख) (सहायक पुस्तकों की सूची)	३१०
	अनुक्रमणिका	३११-२०

भूमिका

बीसवीं शताब्दी विक्रमाब्द के उत्तरार्द्ध के प्राय आरंभ तक अपदस्थ होने के बाद बालकों को उर्दू-फारसी की शिक्षा देना हिंदू समाज में उतना ही आवश्यक समझा जाता था जितना बाद में अंग्रेजी का हो गया। पर अब यह बात नहीं रह गई और अच्छा ही हुआ है क्योंकि एक विदेशीय भाषा के कारण मातृ भाषा की हानि पहुँच ही रही थी और अब दो विदेशीय भाषाओं के बीच पड़ कर उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जाता। अभी भी हिंदू कहलानेवाले सरस्वती के वर पुत्र ब्राह्मण तथा कायस्थों का कुछ समाज हिंदी को अपनी मातृ भाषा न कहने में जरा भी नहीं सकुचाता। समय परिवर्तित हो गया है और दोनों भाषाओं को अब अपने अपने क्षेत्र में अग्रसर होने का पूरा अवसर प्राप्त है। अस्तु इसी प्रकार इस पुस्तक के लेखक को भी आरंभ में कुछ वर्ष तक उर्दू फारसी की शिक्षा प्राप्त करनी पड़ी और कुछ बड़ा हो जाने पर अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करते समय भी उस ओर से दृष्टि नहीं हटी। इतिहास से प्रेम होने के कारण फारसी के तवारीखों से लाभ उठाने के लिए उस भाषा का कुछ न कुछ अध्ययन चलता रहा जिसके फल स्वरूप दो तीन पुस्तकों का हिंदी में अनुवाद भी हो चुका है। उर्दू-साहित्य का भी मनन होता रहता था पर विशेषतः हिंदी क्षेत्र ही में कार्य करता था। खुसरो को प्रो० आजाद ने उर्दू-साहित्य-क्षेत्र में ले जाने का व्यर्थ प्रयास किया था, जिस कारण खुसरो की हिंदी कविता का एक संग्रह बहुत कुछ खोज कर सन् १९२२ ई० में प्रकाशित कराया था। दूसरी पुस्तक रानी केतकी की कहानी के लेखक इंशा पर लिखी, क्योंकि उर्दू लिपि में प्राप्त होने के कारण इस कहानी की हिंदी के धुरंधर लेखकों ने भी खासी दुर्दशा कर दी थी। इनके सिवा उर्दू-साहित्य के इतिहास पर प्रथम उर्दू कवि, गद्य-साहित्य का विकास, उर्दू कहानियों का इतिहास आदि कई लेख क्रमशः ना० प्र० पत्रिका, सुधा, हंस आदि में छपे। दक्षिण के एक महाराष्ट्र सज्जन के अनुरोध पर उर्दू साहित्य का अति संक्षिप्त इतिहास पुस्तकरूप ४५ पृष्ठों के लगभग लिखा

गया पर वह अपनी माला मे केवल एक पुस्तक बगला साहित्य पर प्रकाशित कर सके। अंत में उन्होंने उस पुस्तिका को माधुरी में प्रकाशनार्थ भेज दिया, जहाँ से उसे सुधार करने की इच्छा से लौटा लिया गया।

राष्ट्रभाषा हिंदी मे भारत के प्रचलित तथा अप्रचलित सभी भाषाओं के साहित्य का इतिहास, सक्षिप्त ही सही, अवश्य होना चाहिए, ऐसा विचार बहुत दिनों से चला आ रहा था और हिंदी के सिवा उर्दू ही पर कुछ मनन किया गया था, इससे इसी का एक सक्षिप्त इतिहास लिखने का प्रयास, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, चलता रहा और अत मे वह इस रूप में तैयार हो गया। इसमें कवियों की कविता के उद्धरण नही दिए हैं, जिससे कुछ लोगों को इसमें नीरसता का भान होगा पर कई कारणों से ऐसा नहीं किया गया। गभीर इतिहास तथा सरस सुभाषित का संगम अवश्यमेव सुन्दर होता है पर उससे इतिहास के गंभीर विषय से मन बराबर उचटता रह कर सुभाषितों की ओर विशेष आकृष्ट होता है। साथ ही इतिहास के साथ दो-दो चार-चार शैर देकर उन महा-कवियों की काव्य-सुधा का आस्वादन पूरा नहीं कराया जा सकता, जिससे ऐसा प्रयास व्यर्थ हो जाता है। इसी विचार से अपने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' मे भी उद्धरण न देकर लिख दिया गया है कि 'इस अभाव की पूर्ति के लिए एक दूसरे भाग मे इस पुस्तक में उल्लिखित कवियों की काफी कविता दी जाय, जिससे पाठकगण स्वय उन रचनाओं पर स्वतत्र रूप से विचार करे।' ऐसा ही इस पुस्तक के लिए विचार है।

जिस प्रकार संस्कृत तथा हिंदी में सुभाषितों के संग्रह प्राप्त हैं, उसी प्रकार उर्दू में भी प्राप्त हैं। उर्दू में प्रायः उन्तीस तीस के लगभग संग्रह तैयार हुए हैं। मीर, दर्द, मीर हसन, मुसहफ़ी आदि के तजकिरों का उल्लेख ग्रथ में हो चुका है। 'सरापा सखुन' भी एक संग्रह है, जो सन् १८६१ ई० में तैयार हुआ था। इसमें नखशिख पर लिखी गई कविताओं का संग्रह है और प्राचीन कवियों के गुरु, स्थान आदि का उल्लेख महत्वपूर्ण है। प्रो० आज़ाद ने आबेहयात में मुख्य मुख्य कवियों पर विस्तृत रूप से लिखा है और उनकी कविताओं के भी काफी उद्धरण दिए हैं। इधर कुछ ही वर्षों के बीच में कई संग्रह निकले, जिनमें

खुमखानए जावेद का उल्लेख ग्रंथ में हो चुका है। एक संग्रह शोअराए हिंद भी निकला है, जिसमें उर्दू के हिंदू कवियों का हाल संगृहीत है। इसी प्रकार एक भारी संग्रह और भी पहले निकल चुका है, जिसमें उर्दू के काश्मीरी कवियों का हाल है। पर पूर्वोक्त सभी ग्रंथ, आबेहयात को छोड़कर, सुभाषित-संग्रह कहे जाएँगे, इतिहास नहीं कहे जा सकते। इनके सिवा कुछ छोटे समालोचनात्मक लेख तथा पुस्तकें भी निकलीं। ऐसे ही संग्रह-ग्रंथों के आधार पर इस इतिहास के लिखे जाते समय एक प्रकाशक महोदय ने इस दास को आग्रह किया और डा॰ बाबूराम सक्सेना रचित अंग्रेजी का 'हिस्ट्री आव उर्दू लिटरेचर' नामक ग्रंथ इस विचार से भेंट किया कि इससे भी सहायता ली जाय। वास्तव में ग्रंथ भी इस योग्य है। उसके अनेक विचारों तथा निर्णयों से मतभेद होते और उसमें बहुत सी अशुद्धियों के रहते भी यह ग्रंथ बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ, जिसके लिए उस ग्रंथ के लेखक का विशिष्ट रूप से आभारी हूँ। इसके सिवा अन्य जिन लेखों तथा पुस्तकों से सहायता ली गई है उनके लेखकों का भी धन्यवाद देता हूँ।

हिंदी में उर्दू के बहुत से प्रसिद्ध कवियों की संक्षिप्त जीवनियाँ निकल चुकी हैं तथा कई संग्रह भी निकल चुके हैं। कविता कौमुदी भा॰ ४ भी ऐसा ही संग्रह है पर उर्दू साहित्येतिहास का अभाव अब तक बना ही था। उसी की पूर्ति के लिए यह अध्यवसाय किया गया है और आशा है कि हिंदी-उर्दू प्रेमी-गण इसे अपना कर मेरे श्रम को सफल करेंगे।

विजय-दशमी
सं॰ १९९१ वि॰

विनीत
ब्रजरत्नदास

द्वितीय संस्करण की भूमिका

प्रायः दस वर्ष में इस पुस्तक का प्रथम संस्करण समाप्त हुआ है, यह कम सौभाग्य की बात नहीं है परंतु ऐसा होने का प्रधान कारण यह भी था कि इसका प्रचार आरंभ मे कम हो पाया और बाद में हिंदी-प्रेमियों के जान लेने ही पर इसका विक्रय बढ़ा। यह दक्षिण भारत में पहले पाठ्यक्रम मे आया और बाद में उत्तरी भारत के भी दो एक विश्वविद्यालयों में नियत किया गया।

प्रथम संस्करण में एक बात विशेष खटकती थी कि उर्दू के कवियो की कविता से कुछ भी उदाहरण नहीं दिए गए थे, जिससे वह कुछ नीरस सा था। कई मित्रों ने यह सम्मति भी दी कि दूसरे संस्करण में उदाहरण अवश्य दिए जायँ। इसे ध्यान में रखकर इस संस्करण में उदाहरण बढ़ा अवश्य दिए गए है पर समय की कमी से अधिक न दिए जा सके क्योंकि सुंदर पदो के चुनने में समय अधिक चाहता था। अब यह संस्करण इस रूप में प्रकाशित हो रहा है और आशा है कि इसका पहले से अधिक आदर होगा।

कार्तिकी पूर्णिमा
सं० २००६ वि०

विनीत
ब्रजरत्नदास

उर्दू साहित्य का इतिहास

पहला परिच्छेद

आर्य भाषाएँ—उर्दू भाषा की उत्पत्ति—उर्दू की मौखिक और साहित्यिक अवस्थाएँ—समय और देश

आर्य भाषाएँ

जिस साधन द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरे पर प्रकट करते हैं, उसी को भाषा कहते हैं। यद्यपि इसके अंतर्गत वे मूक या मौखिक संकेतादि भी आ जाते हैं जिनसे मनुष्य अपने अनेक विचार प्रकट कर सकता है परन्तु वे इस परिभाषा में सम्मिलित नहीं किए जा सकते। मौखिक संकेतों को जब शब्द रूप दे दिया जाता है तब वे भी भाषा के अंतर्गत समझे जाते हैं, जैसे आह, वाह इत्यादि। भारतवर्ष का प्राचीनतम साहित्य संस्कृत में मिलता है परंतु यह जिस प्राचीनतर भाषा का संस्कृत रूप है उसको जानने का विशेष साधन ही नहीं बच रहा है। मध्य एशिया से जब आर्य जाति पश्चिम और दक्षिण दिशाओं की ओर बढ़ने लगी तब आरंभ ही में उसके दो विभाग हो गए—एक योरोप की ओर अग्रसर हुआ और दूसरा पश्चिम-दक्षिण एशिया पहुँचकर ठहर गया। यह विभाग भी ईरान पहुँचकर दो मार्गों में विभाजित हो गया, जिसका एक भाग वहीं रह गया और दूसरा भारतवर्ष की ओर चला आया। मूल भाषा भी साथ ही साथ सर्वत्र गई, परन्तु कई सहस्र वर्षों के बीच स्थानीय परिवर्तनों के कारण

उसके अनेक स्वरूप हो गए, जो आज भिन्न भिन्न ज्ञात होते हैं। ईरानी वंश की भाषाएँ मोड़ी, पह्लवी, फारसी आदि हैं। आर्यों की जो मूल भाषा भारतवर्ष में आई, वह मँजते और सुधरते हुए संस्कृत हो गई और यही नियमबद्ध भाषा साहित्यिक भाषा का कार्य देने लगी। वह स्वाभाविक प्राचीन भाषा अवश्य ही व्यवहार में आती थी, जिसे असंस्कृत या प्राकृत भाषा कहने लगे थे। इस प्राकृत भाषा का रूप भी समय पाकर परिवतिन होने लगा और वह अपभ्रंश कहलाने लगी। भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रान्तों में इसके परिवर्तन कुछ कुछ विभिन्न रूपो में हो रहे थे, जिससे फलतः कुछ समय के अनतर वह भाषा कई प्रांतीय भाषाओं के रूप में परिणत हो गई। इनमें हिंदी, पंजाबी, बंगाली, गुजराती, मराठी आदि मुख्य हैं। आर्यों की मूल भाषा के इन्हीं दो विभागों—ईरानी और भारतीय—की वंशधर फारसी और हिंदी के मेल से उर्दू भाषा का संगठन हुआ है। भिन्न भिन्न आर्य भाषाओं की समानता दिखलाने के लिए कुछ शब्द उदाहरणार्थ नीचे की तालिका में दिए जाते हैं।

संस्कृत	हिंदी	फारसी	उर्दू	लैटिन	अंग्रेजी
पितृ	पिता	पिदर	पिदर	पेटर	फादर
मातृ	माता	मादर	मादर, माँ	मेटर	मदर
भ्रातृ	भ्राता, भाई	बिरादर	बिरादर, भाई	फ्रेटर	ब्रदर
दुहितृ	दुहिता, धी	दुख्तर	दुख्तर	दिटर	डौटर
एक	एक	यक	एक, यक	अन	वन
द्वौ	दो		दो	डुओ	टू
अस्मि	हूँ	अम	हूँ	सम	ऐम

संसार की प्रत्येक भाषा का नामकरण उस देश या जाति के नाम पर होता है जिस देश या जाति की वह बोली होती है। वे भाषाएँ

उर्दू भाषा की उत्पत्ति

जिनका नामकरण इस नियम के विरुद्ध होता है वे किसी विशेष कारण से, दो भिन्न जातियों के संपर्क से उत्पन्न हो जाती हैं, जैसे उर्दू। साथ ही यह विचारणीय है कि किसी भाषा का उत्पत्ति-काल निश्चित रूप से इस प्रकार नहीं कहा जा सकता कि अमुक समय मे इस भाषा का प्रचार हुआ है। प्रायः भाषाएँ, जो किसी देश या जाति की संपत्ति हैं, किसी अपने से पूर्व की भाषा की संस्कृत या विकृत रूपान्तर होती हैं और यह परिवर्तन बहुत समय के बीच में होते हुए नया रूप धारण करता है। इसलिये यह कहना कि अमुक भाषा अमुक भाषा से अमुक संवत् में उत्पन्न हुई है, भ्रमोत्पादन मात्र है। पर यह भाषा जो दो भिन्न भाषाभाषी जातियों के संपर्क से संगठित हो, उसका समय निश्चित किया जा सकता है। उर्दू की उत्पत्ति तथा उसके उत्पत्तिकाल के विषय में कुछ निश्चित करने के पहले यह जानना आवश्यक है कि हिंदू और मुसलमानों का संपर्क कब से आरंभ हुआ है। पर साथ ही यह ध्यान रखना होगा कि उर्दू भाषा की उत्पत्ति हिंदुओं की उस भाषा के संपर्क से हुई है जिसे 'खड़ी बोली' कहते हैं। भारतवर्ष से विशाल देश में किसी भी समय में, वर्तमान या प्राचीन, अनेकानेक भाषाएँ एक ही समय में व्यवहृत होती रही हैं, रहती हैं और रहेंगी तथा सभी में फारसी-अरबी के मेल कर देने से उर्दू भाषा नहीं बन सकती। केवल उस हिंदी के साथ, जो मुसलमानों के सैनिक पड़ावों में और सुल्तानों तथा बादशाहों के निवासस्थान के पास बोली जाती थी, उन नवागंतुकों की भाषा के मिश्रण से उर्दू का रूप गठित हुआ था। यह कहना कि ब्रजभाषा और फ़ारसी के मिश्रण से उर्दू बनी है, उतना ही भ्रांतिमूलक है, जितना यह कहना कि यह गुजराती या राजपुतानी के मिश्रण से बनी है। अब यह देखना है कि भारत में मुसलमानों का आगमन कब हुआ। सबसे पहले सन् ७१२ ई० में सिंध पर मुसलमानों की चढ़ाई हुई, पर इस चढ़ाई का विशेष कुछ भी प्रभाव नहीं

पड़ा। इसके अनंतर लगभग ढाई सौ वर्ष बाद उत्तर-पश्चिम से आक्रमण होने लगे और क्रमशः मुसलमानों के पैर धीरे धीरे भारत में जमते गए। यहाँ तक कि सन् ११९२ ई० में दिल्ली पर महम्मद गोरी का अधिकार हो गया। इन आक्रमणकारियों के सिवा तथा पहले इन दो जातियों का संपर्क व्यवसाय आदि के लिये तथा पड़ोसी होने के कारण भी होता रहा था। प्रथम अरबी यात्री सुलेमान सौदागर के सन् ८५१ ई० के यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है कि हिंदू तथा मुसलमान राजाओं में उस समय भी प्रेम-भाव रहता था। 'अलबेरूनी का भारत' नामक पुस्तक मे इसका विशेष रूप से वर्णन है। इस प्रकार इन दो जातियों का संपर्क अधिकतर उत्तरी भारत में दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विशेष रूप से हुआ और इन दोनों के विचार-विनिमय के लिये एक व्यावहारिक भाषा इसी समय के आसपास सगठित हुई होगी।

उर्दू क्या है

कुछ लोगों का कथन है कि उर्दू की उत्पति फारसी से है, क्योंकि वह उसी भाषा के बोलने वालों के पड़ावों में सगठित हुई है। परन्तु यह निरा भ्रम है, जो वर्तमान काल की उर्दू में फारसी-अरबी शब्दों के बाहुल्य, फारसी लिपि तथा फारसी छंद शास्त्र के प्रयोग से फैला है। उर्दू की उत्पत्ति जब वह केवल व्यावहारिक भाषा मात्र थी, विचारों के आदान प्रदान में सुगमता लाने के लिये हुई थी। जो कार्य सहज ही मे हो सके, उसे ही मनुष्य स्वभावतः ग्रहण करता है। फ़ारसी, तुर्की आदि हिंदी से अधिक जटिल थीं, इसलिये हिंदुओं के इन भाषाओं के सीखने के शताब्दियों पहले मुसलमानों ने हिंदी में बोलना सीख लिया था। वे इसमें कविता भी करने लगे थे। यह हिंदी दिल्ली तथा मेरठ के आसपास बोली जाने वाली भाषा थी, जिसका सच्चा तथा प्राचीन स्वरूप एक मुसलमान ही द्वारा आज सब पर व्यक्त है, नहीं तो कुछ लोग उसे केवल सौ सवा सौ वर्ष ही प्राचीन मान बैठे थे। इस

हिंदी की उत्पत्ति आदि लिखने का यह स्थान नहीं है, इसलिए उस पर विशेष नहीं लिखा जाता।[1] इसी हिंदी में फारसी आदि भाषाओं के शब्द प्रयुक्त होने लगे और यह मिश्रित भाषा बहुत दिनों बाद उर्दू कहलाई। यह व्यावहारिक भाषा अपने उत्पत्तिकाल से लगभग पाँच शताब्दी तक इसी रूप में रही और इसने तब तक साहित्यिक रूप नहीं धारण किया था। स्यात् यह कभी भी साहित्यिक रूप न धारण करती यदि यह दक्षिण की यात्रा न कर आती।

प्रोफेसर आजाद अपने ग्रंथ आबेहयात में लिखते हैं कि 'हमारी उर्दू जबान ब्रजभाषा से निकली है और ब्रजभाषा खास हिंदोस्तानी जबान है।' इसी बात का अनेकानेक विद्वान् उर्दू और ब्रजभाषा समर्थन करते चले गए, जिससे यह बात निश्चित सी मान ली गई थी। पर यह कहाँ तक ठीक है इसका विचार करना वाछनीय है। प्राचीन आर्य भाषा की प्रांतिक बोलियों को समेट कर, पश्चिमोत्तर की भाषा को आधार मानकर, जिस प्रकार संस्कृत साहित्यिक भाषा हुई, उसी प्रकार पीछे पछाँह की बोली (ब्रज से लेकर मारवाड़ और गुजरात तक) के आधार पर यह काव्य भाषा बनी, जो बहुत दिनों तक अपभ्रंश या भाषा कहलाती रही। यही प्राचीन भाषा हिंदी के काव्यभाषा का पूर्व रूप है। पच्छिमी ढाँचा होने पर भी यह काव्य की भाषा के लिए सारे उत्तरापथ में प्रचलित थी। इसी व्यापकत्व के कारण इसमें गुजरात से लेकर अवध आदि मध्यप्रदेश तक के शब्द और रूप मिलते हैं। यद्यपि इसका ढाँचा पछाहीं (ब्रज का सा) था पर यह साहित्य के लिए एक व्यापक भाषा हो गई थी। अब इस कवि-समय-सिद्ध भाषा को उस समय के किसी एक स्थान की बोलचाल की भाषा मान लेना निरा भ्रम है। देश के बोलचाल की चलती भाषा से अपना रूप भिन्न रखकर काव्य की

---

१ इसके लिए इसी लेखक द्वारा लिखी 'खड़ी बोली हिंदी साहित्य का इतिहास' देखिए।

इस भाषा ने अपनी साहित्यक गुरुता बनाए रखी। जब मुसलमान इस देश में आकर बसने लगे तब उन्हें दिल्ली के आसपास की चलती भाषा (खड़ी बोली) से काम पड़ा था न कि काव्य या साहित्य की भाषा से। जब पठानों ने दिल्ली को राजधानी बनाया तब वहाँ की बोली उन्हें ग्रहण करनी पड़ी। पठान सुलतानों के सिक्कों पर हिंदी लिपि ही में नाम दिए जाते थे जैसे, 'अयं महमद बिन साम हंमीरः'। खुसरो ने इसी बोली में बहुत सी पहेली और पद कहे थे और उनमें कुछ ऐसे भी हैं, जिनमें इस बोली और फारसी का मिश्रण था पर कहीं कहीं परंपरागत काव्य भाषा अर्थात् ब्रजभाषा का भी पुट झलक जाता था। उर्दू के पुराने शायर बहुत दिनों तक इस परंपरागत काव्यभाषा से अपना पीछा नहीं छुड़ा सके थे। ब्रजभाषा के इसी पुट को देखकर पूर्वोक्त भ्रांति उर्दूभाषा के इतिहास-लेखकों में फैल गई थी।

उर्दू भाषा की उत्पत्ति व्यवहार और बोलचाल के लिये हुई थी और लगभग पाँच शताब्दियों तक वह केवल इसी रूप मे रही।

उर्दू की मौखिक अवस्था

मुसलमानो को हिंदी शब्दों का ज्ञान कराने के लिये किसी खुसरो ने खालिक बारी नामक पुस्तक तैयार कि, जिसकी असख्य प्रतिलिपियाँ गाँव गाँव में वितरित की गई। कहावत प्रसिद्ध है—

एक लख ऊँट सवा लख गारी। तिसपर लादी खालीकबारी ॥

इसमें हिंदी (अर्थात् खड़ी बोली), पंजाबी तथा ब्रजभाषा शब्दो के फारसी-अरबी पर्याय दिए हैं। फारसी भाषा के क्लिष्ट और जटिल होने से भारतबासी मुसलमानों ने हिंदी को ही मातृ भाषा का स्थान देना आरंभ किया। इस हिंदी में स्वभावतः फारसी के शब्द अधिक रहने लगे। साथ ही फारसी के शब्द हिंदी की काव्यभाषा में भी स्थान पाने लगे और मुसलमान कवियों ने हिंदी भाषा में अनेक अमूल्य ग्रंथ रच कर हिंदी साहित्य-भांडार की पूर्ति में सहायता दी। चंद कवि ने, जो बारहवीं शताब्दी के अंत में हुआ था, अपने ग्रंथ पृथ्वी-

रासो में बहुत से फारसी शब्दों का प्रयोग किया है। कबीर, नानक, गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास आदि से लेकर आधुनिक कवि तक फारसी शब्द कविता में लाते रहे, क्योंकि व्यवहार में आने के कारण इनका उपयोग सरल हो गया था। खुसरो, जायसी, रहीम, रसखान आदि मुसलमान गण हिंदी के प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। इससे ज्ञात होता है कि उर्दू की व्यावहारिक अर्थात् मौखिक अवस्था बहुत अच्छी थी पर इसकी साहित्यिक भाषा का रूप बहुत प्राचीन नहीं है। कुछ अंग्रेज विद्वानों का यह मत है कि उर्दू में फारसी के बड़े बड़े शब्दों की प्रचुरता के कारण हिंदू ही हैं, जिन्होंने फारसी शिक्षा प्राप्त कर ली थी। कुछ अंशों में यह बात ठीक भी है क्योंकि जिस समय राजा टोडरमल ने अकबर के राजत्वकाल में हिंदुओं को फारसी पढ़ने की उत्तेजना दी थी, उससे पूर्व ही हिंदुओं में फारसी के अच्छे अच्छे विद्वान् पैदा हो चुके थे। आज कल भी अंग्रेजी के एम. ए. और बी. ए. गण हिंदी भाषा में अंग्रेजी शब्दों का व्यवहार बढ़ा रहे हैं।

उर्दू लिपि और व्याकरण

उर्दू नाम की हिंदी जब तक देवनागरी लिपि में लिखी जाती रही और उसकी वाक्य-योजना हिंदी व्याकरण के अनुसार रही तब तक यह नाम मात्र ही को पृथक् कही जा सकती थी परन्तु जब यह फारसी लिपि में और फारसी भाषा के नियमानुसार कुछ परिवर्तित वाक्य-योजना के साथ लिखी जाने लगी अर्थात् इस रूप में उसकी साहित्यिक अवस्था का आरम्भ हुआ तब यह वास्तव में एक पृथक् और नई भाषा कही जाने योग्य हुई। उर्दू की वाक्य-रचना में बहुधा विशेष्य विशेषण के पहले आता है और फारसी संबंधवाचक सर्वनाम का प्रयोग होता है। शब्दों का मुअर्रब (अर्थात् अरबी रूप) और मुफर्रस (फारसी रूप) भी काम में आने लगा। विदेशी शब्दों का अधिकता से प्रयोग होने लगा और इस प्रकार उर्दू एक नया स्वाँग धारण कर नई भाषा बन बैठी।

हिंदी और उर्दू नाम से जो भाषाएँ उत्तरी भारत में प्रसिद्ध और प्रचलित हैं उनके रूप, लक्षण आदि में क्या विभिन्नता है, इसमें मतभेद है। किसी का कहना है कि ये दोनों एक ही हैं और किसी का कहना है कि ये दोनों पृथक् भाषाएँ हैं। मुसलमानों के भारत में बसने से भाषा का यह रूपांतरण केवल पश्चिमोत्तर प्रांत ही मे नहीं हुआ है, प्रत्युत् बंगाल, गुजरात आदि प्रांतों में भी हुआ है और वहाँ की भाषाओं में भी इस प्रकार उपभेद हो गए हैं। परंतु ये भेद मौखिक या व्यावहारिक मात्र हैं, इसलिये उन्होंने नए रूप धारण करने का साहस नहीं किया। उत्तरी भारत में उर्दू भी कई शताब्दियों तक इसी रूप में रही और अब तक सरल बोलचाल की उर्दू हिंदी ही है जिसमें कुछ फारसी शब्द आ गए हैं। अंग्रेजी शब्द-संयुक्त हिंदी को तीसरी भाषा निर्द्धारित करना अनुचित है। आश्चर्य्य नहीं कि ऐसी हिंदी का कुछ शताब्दियों के बाद 'जहाजी' नामकरण हो जाय। पूर्वोक्त विचारों से सिद्ध होता है कि उर्दू और हिंदी एक ही भाषा हैं और इनके नाम केवल पर्यायवाची समझे जाने चाहिएँ। मौखिक क्षेत्र तक इस प्रकार मान लेने से कोई भी कठिनाई या बाधा नहीं पड़ती परंतु साहित्यिक क्षेत्र के आरंभ होते ही दोनों में विभिन्नता प्रगट रूप में दिखलाई पड़ने लगती है। एक अपने ही छंदशास्त्र को, जो उसे रिक्थक्रम (वरासत) में मिली है, अपनाती है और दूसरी इस देश की भाषा होने पर भी दूसरे देश के छंदशास्त्र को अपना कर पृथक हो जाती है। हिंदी और उर्दू की विभिन्नता का पता केवल साहित्यिक क्षेत्र में मिलता है अन्यथा नहीं।

उर्दू और हिंदी

उर्दू का जन्म किस प्रकार हुआ है, इसकी विवेचना हो चुकी परंतु अब यह विचार करना है कि इसका साहित्यिक पुनर्जन्म अर्थात् आरंभ कब हुआ था। इसमें भी मतभेद है और उनमें दो मुख्य हैं। ग्यारहवीं विक्रमी

समय और देश

शताब्दी के अन्त में साद के पुत्र मसऊद ने रेख्ता में एक काव्य संग्रह बनाया और तेरहवीं शताब्दी के अंत में खुसरो ने कविता की। इसी प्रकार अनेक अन्य मुसलमान कवियों ने इसमें रचनाएँ की हैं। ये रचनाएँ हिन्दी छंदशास्त्र के अनुसार हिंदी भाषा में प्रणीत हैं और इनके रचनाकाल को उर्दू का साहित्यिक आरंभ मानना नितांत अशुद्ध और भ्रममूलक है। ऐसी रचनाएँ हिंदी साहित्य के अंतर्गत समझी जायँगी। कवि के जाति-धर्म भेद के अनुसार उनकी कविता की भाषा का नामकरण नहीं होता। हिंदी की रचनाओं में फारसी या अंग्रेजी के केवल कुछ शब्द आ जाने से उसकी भाषा उर्दू या अंग्रेजी नहीं हो सकती। उर्दू और हिंदी साहित्य की विभिन्नता का निष्कर्ष उनका व्याकरण और छंदशास्त्र है तथा उनकी प्रकृति के भेद हैं। इसलिए हिंदी में फारसी शब्दों का कब प्रयोग होने लगा या हिंदी फारसी लिपि में कब से लिखी जाने लगी आदि प्रश्नों का उत्तर उर्दू के साहित्यिक आरंभ का द्योतक नहीं है। इसके लिए यही जानना मुख्य है कि किस समय फारसी छंदशास्त्र के अनुसार हिंदी भाषा में पहले पद की रचना हुई, चाहे उसमें फारसी का शब्द मिला हो या नहीं। वही रचना-काल उर्दू साहित्य का आरंभ है। यह आरंभ विक्रमीय सत्रहवीं शताब्दी का मध्य है जब कि गोलकुंडा के सुलतान मुहम्मद कुली कुतुबशाह ने फारसी छंदशास्त्र के अनुसार हिंदी में कविता की थी।

जिस प्रकार बंगाल के मुसलमान फारसी शब्द मिश्रित बंगाली बोलते हैं और गुजरात के मुसलमान फारसी मिश्रित गुजराती बोलते हैं उसी प्रकार उत्तरी भारत में फारसी शब्द मिली हुई हिंदी अर्थात् उर्दू बोली जाती है। उर्दू किसी देश या प्रांत की बोली नहीं कही जा सकती वरन् जिस देश या जिस प्रांत की बोली हिन्दी है और वहाँ मुसलमान बसे हैं उसी स्थान की भाषा उसे कह सकते हैं। हिंदी भाषा का विस्तार हिमालय और विंध्याचल पर्वत-मालाओं के बीच सिंध नदी से बिहार प्रांत तक है और इसी के अंतर्गत उर्दू का भी स्थान है।

हिंदू और मुसलमानों के पारस्परिक व्यवहार की भाषा का नाम किस प्रकार दखिनी, रेख्ता, गूजरी, हिंदवी, उर्दू, हिंदुस्तानी आदि पड़ गया, यह संक्षेप में यहाँ लिख देना आवश्यक है।

विभिन्न नामकरण आरंभ में भारत में आने पर मुसल्मान आक्रमणकारी-गण विशेष कर पड़ावों ही में बसते थे और वहीं के बाजारों में आपस की बोलचाल के लिए क्रमशः इस व्यावहारिक भाषा का प्रादुर्भाव हुआ जिसका पूर्ण आधार हिंदी भाषा थी। तुर्की भाषा में पड़ावों के बाजार को उर्दू कहते हैं, इसी से यह भाषा हिंदी से भेद प्रगट करने के लिए स्यात् आरंभ में उर्दू की भाषा कही गई हो। पहले इसे मुसलमानगण भी हिंदी या हिंदुई ही कहते थे और ठीक कहते थे। फारसी भाषा में हिंदी शब्द का अर्थ हिंद का, हिंद का निवासी या भारतीय है इसलिए हिंदुओं या हिंद के रहने वालों की बोली के लिए एक नया नाम उसी शब्द को बढ़ाकर हिंदुवी गढ़ लिया गया था पर वास्तव में दोनों पर्यायवाची हैं। तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में अमीर खुसरो ने अपनी प्रसिद्ध मसनवी 'नुह सिपहर' के तीसरे परिच्छेद में लिखा है कि 'इस समय प्रत्येक प्रांत में एक निज की खास भाषा बोली जाती है, जो एक दूसरे से कुछ नहीं लेतीं। सिंधी, लाहौरी, काश्मीरी, डूँगर की भाषा, द्वार समुद्र, तैलंग, गुजरात, मलाबार, गौड़ बंगाल, अवध, देहली और उसके पास की। यह सब हिंद की भाषाएँ प्राचीन समय से जीवन के साधारण कार्य के लिए उपयोग की जाती है।' (इलि० जिल्द ३ पृ० ४३२) वह यह भी लिखता है कि 'पहले हिंदुई थी। जब जातियाँ मिल गई तब हर एक छोटे बड़े ने फारसी सीखा।' फिरिश्ता कांगड़ा विजय पर लिखता है कि 'वहाँ से तेरह सौ हिंदी पुस्तकें प्राप्त हुई।' इस प्रकार देखा जाता है कि फारसी के लेखकों ने हिंदी शब्द संस्कृत तथा खड़ी बोली दोनों के लिए प्रयुक्त किया है। अन्य खुसरो ने जहाँगीर-काल में खालिक बारी बनाई और उसमें हिंदी तथा हिंदुई दोनों का प्रयोग

किया है—शैर

मुश्क काफूरस्त कस्तूरी कपूर। हिंदुवी आनंद तादो श्री सुरूर॥

मूश मूशा गुप बिल्ली मार नाग। माजना रिश्त बहिंदी यर्द साग॥

जहाँगीर ने स्वयं अपने आत्म चरित में हिंदी शब्द का भाषा के अर्थ में बीसा बार प्रयोग किया है और हिंदी शब्द भी दिए हैं। योरोप से भारत आनेवाले यात्री गण तथा बाद में यहाँ कंपनियाँ स्थापित कर व्यापार करने वाले इस देश को इंड या इंडोस्तान कहते थे तथा यहाँ की भाषा को इंडोस्तानी कहते थे। ये तीनों शब्द हिंद हिंदुस्तान या हिंदुस्तानी ही के रूपान्तर हैं। यहाँ के निवासी ही पहले हिंदुस्तानी कहलाते थे पर बाद में भाषा के अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग प्रचलित हो गया। आश्चर्य तो यह है कि प्रायः सभी योरोपियनों को उस समय पहले पहल भारत के मलाबार, कारो मंडल तथा बंगाल के समुद्री तटों की भाषाओं से काम पड़ा था पर समग्र भारत में प्रचलित या उपयोगी भाषा हिंदी ही को उन्होंने हिंदुस्तानी शब्द से स्मरण किया। एक यात्री एडवर्ड टेरी लिखता है कि 'इस साम्राज्य की भाषा जो जनसाधारण में बोली जाती है इंडोस्तानी कहलाती है। यह मृदु भाषा है, उच्चारण सुगम है और हम लोगों की तरह दाईं ओर को लिखी जाती है। विद्वानों की भाषा को फारसी या अरबी कहते हैं जो पीछे को बाईं ओर हिब्र्यू की चाल पर लिखी जाती है।' (फॉस्टर संपादित अर्ली ट्रैवेल्स इन इंडिया पृ० ३०९) यह यात्री जहाँगीर के समय भारत आया था। इस उद्धरण से हिंदी के सिवा उर्दू नाम की किसी भी भाषा का बोध नहीं होता पर एक सज्जन इसे हठवश उर्दू लिख गए हैं। इन पुराने यात्रियों द्वारा हिंदुस्तानी शब्द केवल हिंदी ही के लिए प्रयुक्त हुआ है और बाद में कलकत्ते की टकसाल में गढ़ा गया यही शब्द सरल हिंदी तथा सरल उर्दू के लिए राजनीतिक कारणों से प्रयुक्त होने लगा।

मीर तक़ी 'मीर' तथा मीर हसन ने अपने अपने तज़किरों में

इस भाषा का नाम केवल रेख्ता या हिंदुवी ही लिखा है। रेख्ता का अर्थ मिली जुली या गिरी पड़ी है और यह एक छंद का भी नाम है जो फारसी ग़जल से मिलता जुलता है। स्यात् इसी कारण कवियों ने इस व्यावहारिक भाषा को साहित्यिक रूप देकर इसका नाम रेखता रखा परंतु इसकी साहित्यिक अवस्था का आरंभ दक्षिण में हुआ था इसलिए यह दखिनी भी कहलाई। मीर साहब कहते हैं :—

खूगर नहीं कुछ यों ही हम रेख्तः गोई के।
माशूक़ जो था अपना बाशिंदः दकन का था॥

कायम कहते हैं—

कायम ने ग़जल तौर किया रेख्तः वर्नः।
एक बात लचर सी बजबाने दखिनी थी॥

दखिनी कविगण ने रेखता के पर्याय रूप में गूजरी भाषा भी लिखा है और दोनों ही को दखिनी भाषा माना है। कहते हैं—

१. दिया खोल कर ज्वाब गुजरी जबान।
२. किया है यों दकनी जुबाँ मे कलाम।

तात्पर्य इतना ही है कि उर्दू जुबाँ का साहित्यिक समारंभ दक्षिण में हुआ और वहाँ की हिंदी भी उत्तरी भारत ही की थी जिसमें कुछ विभिन्नता देशभेद के अनुसार आ गई थी। दखिनी हिंदी ही गूजरी भी है और गूजरी का गौजेरी से व्युत्पन्न बतलाना निर्भ्रांत नहीं है। गूजरी हिंदी में एक नायिका भी है और गूजर जातिवाली स्त्री भी है अतः इनकी बोली कुछ विशेषता लिए दखिनी हिंदी ही है। इस प्रकार जब वह व्यावहारिक भाषा दक्षिण में अपनी दखिनी शाखा में साहित्यिक रूप धारण कर उत्तरी भारत की राजनगरी दिल्ली में पहुँची तब उसकी भाषा यहाँ के शिष्ट उच्च वर्ग द्वारा परिमार्जित होने लगी और इस परिमार्जित तथा संशोधित भाषा में साहित्य-रचना होने लगी। इसी काल में इस भाषा ने पूर्व नामों का निराकरण कर अपना नाम उर्दू रखा। पहले पहल भाषा के लिए उर्दू शब्द का

प्रयोग 'मुसहफ़ी' द्वारा किया गया कहा जाता है, जिसका स्वर्गवास सन १८२४ ई० तक था। शेर यों है—

> ख़ुदा रक्खे ज़बाँ हमने सुनी है मीरो मिर्ज़ा की।
> कहें किस मुँह से हम ऐ 'मुसहफ़ी' उर्दू हमारी है॥

परन्तु इससे पहले ख्वाजा मीर 'दर्द', जिनकी मृत्यु सन १७८८ ई० के लगभग हुई थी, लिख गए हैं कि 'जाती है उर्दू ज़ुबाँ आते आते।' सन १७४० ई० तथा इससे पहले लिखे गए फ़ारसी इतिहास ग्रंथ मआसिरुल् उमरा भाग २ पृ० ५६० पर लिखा है कि शम्सुल्उमरा गोपालराऊ अयथ ने उर्दू भाषा में शेर कहे हैं और उनका निम्नलिखित एक शेर भी उद्धृत किया है—

> हमें खुदा पर भरोसा जमान या न घर।
> किसी के फ़िक्र न करना ग़म करा ख़ुदा न घर॥

इस भाषा को उर्दूए मुअल्ला भी कहते हैं। क्योंकि बाद में यह शिष्ट वर्ग की भाषा बना ली गई और इसे जनसाधारण की बोलचाल की भाषा नहीं रहने दिया गया। सवा सौ वर्ष पहले मीर अम्मन देहलवी अपने 'बागो बहार' की भूमिका में उर्दू ज़ुबान का जन्मवृत्तान्त इस प्रकार लिखते हैं, जो उन्होंने बड़ों के मुख से सुना था, कि 'दिल्ली शहर हिंदुओं के नजदीक चौजुगी है, । आख़िर तैमूर ने, जिनके घराने में अब तक नाम निहाद सल्तनत का चला आता है, हिंदुस्तान को लिया। उनके आने और रहने से लश्कर का बाजार शहर में दाखिल हुआ इस वास्ते शहर का बाजार उर्दू कहलाया। लेकिन हर एक की गोयायी और बोली जुदी जुदी थी। इकट्ठे होने से आपस में लेन देन, सौदा सुलुफ, सवाल जवाब करते ज़ुबाने उर्दू मुकर्रर हुई। जब शाहजहाँ ने किला जामा मस्जिद और शहरपनाह तामिर करवाई और वहाँ के बाजार को उर्दूए मुअल्ला खिताब दिया।' इस प्रकार उर्दू भी उर्दूए मुअल्ला कहलाई। पर वास्तव में

तथ्य यही है कि साधारण बोलचाल की जो मिश्रित भाषा व्यवहार में आती थी वह उर्दू या उर्दुए मुअल्ला हो जाने पर एक दम भिन्न शाही घराने तथा उच्च शिक्षित वर्ग की भाषा बन गई और मूलतः जिस कार्य के लिए वह बनी थी उससे बहुत दूर पड़ गई।

रेख्ता शब्द को स्त्रीलिंग बनाकर उसका नाम रेख्ती रखा गया। इससे भाषा में किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं हुआ। ऐसा करने का

रेख्ती

यह कारण हुआ कि फारसी भाषा की प्रेम-कविता में प्रेम करने वाला अर्थात् आशिक पुरुष होता हे और प्रेम का आधार माशूक स्त्री होती है, परंतु हिंदी कविता में ठीक इसका उलटा होता है। हिंदी नायिका-भेद के ज्ञाता जानते हैं कि प्रेयसी ही अपने प्रेमी को ताने मारती है, दोनों को उलाहने देती है, विरह की रातें कष्ट से काटती है इत्यादि। पुरुष इन सब प्रेम के स्वाँगों के परे रहता है। जब उर्दू भाषा की कविता में इस हिंदी प्रथा का अनुसरण किया गया तब वह रेख्ता से रेख्ती हो गई। फारसी के कवि स्त्रियों के प्रति विशेष उदारता दिखलाते हुए तथा पुरुषों को अधिक बलवान और कष्ट-सहिष्णु समझकर उन्हीं को अधिक क्लेश देना उचित समझते हैं परंतु वस्तुतः इन्हीं कारणों से उनका यह औदार्य स्वभावविरुद्ध हो जाता है। प्रेम एकांगी नहीं ही है और विरह दोनों ही को कष्टकर है। स्त्रियाँ स्वभावतः कोमल होती हैं और असहनशील होने से क्लेश पड़ने पर उन्हीं का हार्दिक उद्गार पहले निकल पड़ता है और वही सच्चा भी होता है। पुरुषों का आहें मारना, रोना और बिलबिलाना किसी सीमा तक ही उचित है पर स्त्रियों के लिए ऐसी कोई सीमा नहीं हो सकती। इस विषय का उल्लेख करते हुए एक घटना लिखना उचित ज्ञात होता है, जो इस प्रकार है कि सम्राट् जहाँगीर के सामने एक गवैया अमीर खुसरो की एक गजल गा रहा था और बादशाह बड़ी प्रसन्नता से उसे सुन रहे थे। जब उसने यह शैर गाया—

तू शबानः मीनुमाइ मेद परे कि बूदी इमशब।
कि हनोज चश्म मस्तत असरे खुमार दारद॥

तब बादशाह को बड़ा क्रोध चढ़ आया और गाने वाले को निकलवा दिया। पास वाले उसी समय मुल्ला नक्शी मेढ़कुन को बुला लाए, जिनको बादशाह बहुत मानते थे। बादशाह ने उन्हें देखते ही कहा कि 'देखो अमीर खुसरो ने कैसी निर्लज्जता से यह शेर कहा है? क्या कोई अपनी प्रेयसी से ऐसी बात कहता है?' मुल्ला नक्शी ने उत्तर दिया कि 'खुसरो हिंद के रहने वाले थे। यह शेर उन्होंने इस प्रकार कहा है कि मानों कोई स्त्री कह रही है कि आज की रात्रि कहाँ और किस दूसरी स्त्री के साथ रहे? क्योंकि तुम्हारी आँखों में अब तक मस्ती चढ़ी हुई है।' यह सुनकर बादशाह का क्रोध दूर हो गया।

'उर्दू' नाम की यह व्यावहारिक भाषा लगभग पाँच शताब्दी तक इसी रूप में रही और विद्वानों ने इसे साहित्य-रचना के लिए नहीं अपनाया। इसे साहित्यिक भाषा होने का गौरव शायद ही प्राप्त होता यदि यह दक्षिण की यात्रा न कर आती। उर्दू के साहित्य का आरंभ दक्षिण में हुआ। उत्तरी-भारत में वली के समय तक मुसलमान साहित्यिकों में फारसी ही का दौरदौरा था। मीर हसन अपनी पुस्तक 'तजकिरे' में लिखते हैं कि रेख्ता आरंभ में दखिनी भाषा से निकली। मीर साहेब 'मीर' तथा क़ायम के शेर ऊपर दिए जा चुके हैं, जो इसका समर्थन करते हैं। दक्षिण में जब मुसलमानी राज्य स्थापित हो गए तब उनकी सरकारी और दरबारी भाषा फारसी ही थी और प्रजा की तैलगी, कनाडी आदि जो आर्य भाषाओं से भिन्न द्राविड़ी भाषाएँ थीं। जब 'उर्दू' नाम की हिंदी दक्षिण में आई और साहित्यिक रूप धारण करने लगी तब द्राविड़ी भाषाओं के अजनबी होने के कारण उसने उनसे कोई सर — र नहीं रखा, पर फारसी का रंग

(हाशिये पर: उर्दू का साहित्यिक रूप)

उस पर अच्छी तरह चढ़ गया। कारण यह कि एक तो फारसी भी आर्य भाषा है और दूसरे शताब्दियों से दोनों का साथ था। इस प्रकार उत्तर से लाई गई उस छोटी सी धारा में फारसी की प्रवल उल्टी धारा का जल नहर काट कर ला मिलाया गया, जिससे उसकी धारा भी उल्टी वह चली। फारसी छंदशास्त्र के नियमों से बनी हुई कविता में फारसी ही के उपमान, उपमेय, विचार, कथाएँ आदि भर दी गई और उर्दू नाम की हिंदी वस्तुतः उर्दू हो गई। उर्दू और हिंदी के पार्थक्य का कारण वस्तुतः फारसी छंदशास्त्र तथा अभारतीय प्रसंग-वर्णन है। यद्यपि फारसी लिपि भी उस पार्थक्य को बढ़ाने में सहायता देती है पर केवल लिपि के कारण भाषा दूसरी नहीं हो सकती। यदि यह साहित्यिक आरंभ उत्तरी भारत में होता जहाँ बादशाही महलों और मुसलमान विद्वानों के समाजों को छोड़कर चारों ओर हिंदी ही हिंदी थी, तब संभवतः हिंदी पिंगल शास्त्र ही का वह अनुकरण करती और पृथक् भाषा का रूप न धारण कर सकती।

उर्दू का प्रकृति-भेद

पुरुष ही के प्रेमी होने तथा विरह-कष्ट आदि में आहो फुगाँ मारने का उल्लेख हो चुका है और जब तक प्रेयसी स्त्री है तब तक तो वह वर्णन प्रकृति तथा शील सम्मत है पर फारसी की प्रथा पर जब दोनों ही पुरुष हों तो वह नितांत अप्राकृतिक हो जाता है भले ही वह उनकी संस्कृति के कारण निर्दोष माना जाय। यह एक ऐसा अभद्र विचार था कि वह भारतीय परंपरा के विचार से उर्दू में बहुत कम आ पाया है। एक बात ध्यान में रखना चाहिए कि उर्दू अब मुसलमानों की परिगृहीता भाषा हो गई है और उसमें उन्हीं के धर्म की बातों का प्राबल्य है तथा इतना प्राबल्य है कि उर्दू के हिंदू कविगण भी उसके प्रभाव में आ जाते हैं। उनके लिए स्वदेश, स्वराष्ट्र आदि की महत्ता स्वधर्म के बाद है और इस मजहबी जोश में वे सबका बलिदान चढ़ा दे सकते हैं क्यों कि वे देश-प्रेम को इस्लाम के लिए घातक समझते हैं। उनके लिए

उनके नबी का बतलाया मार्ग ही सत्य है और वे केवल अपने खुदा के साथ हैं। जिस भूमि में मुसल्मानों के सिवा अन्य धर्म वाले भी बसते हों या केवल अन्य धर्म वाले ही हों तो वह दारुल्हर्ब या दारुल्खर्ब कहलाता है और उसे वे नापाक समझते हैं। सौदा साहब कहते हैं—

गर हो कशिशे शाहे खुरासान तो सौदा।
सिजदा न करूँ हिंद की नापाक जमीं पर॥

इसीसे आज भारतखंड में पाकिस्तान बन गया है। हजरत इकबाल ने इन बातों को और भी स्पष्ट करते हुए खोल कर लिख दिया है। इस प्रकार के गद्य-पद्य में बहुत से लेख तथा पुस्तकें उर्दू में प्रस्तुत हो चुकी हैं और हो रही हैं। तात्पर्य इतना ही इस लिखने का है कि उर्दू अब हिंदी से पृथक् ही नहीं हो गई है प्रत्युत् उसकी तथा उसके देश की विद्वेषिनी भी हो गई है।

जैसा दिखलाया जा चुका है, उर्दू हिंदी तथा फारसी के मेल से बनी है, जिसमें फारसी तथा उसी के साथ आए हुए अरबी और तुर्की शब्दों का बाहुल्य है और फारसी छन्शास्त्र तथा उर्दू पर अन्य व्याकरण से सुसंगठित की गई है। संस्कृत तथा हिंदी भाषाओं का रग शब्दों का बहिष्कार नियमपूर्वक धीरे धीरे होता गया था, फलतः बीसवीं शताब्दी के आरम्भ होते-होते केवल कुछ प्रत्यय, क्रियाएँ आदि ही हिंदी की बच रहीं और केवल उन्हीं से उर्दू और फारसी की भिन्नता मालूम होती है। एक सज्जन लिखते हैं कि फ़ारसी शब्दों की प्रचुरता का यह कारण है कि फारसी मुसल्मान विजेताओं तथा राजाओं की भाषा थी और इसीलिये उसका प्रभाव विशेष रूप से इस व्यावहारिक भाषा पर पड़ा है पर हिंदी तथा उर्दू साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि यह कहाँ तक ठीक है। जिस समय मुसल्मान वास्तव में विजेता थे और उनके बादशाह भी कठपुतली नहीं हो रहे थे उस समय तक हिंदी ही की उन्नति होती रही पर उर्दू की उन्नति मुसल्मान

बादशाहों की अवनति के साथ साथ हुई है। मुग़ल बादशाहों के दरबार तथा कचहरी की भाषा अभी हाल तक फारसी रही है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक के किबाले फैसले आदि प्राप्त हैं, जिनका मज़मून पहले फारसी में है तथा नीचे हिंदी में उसका आशय दिया हुआ है। उर्दू उस समय तक भी राजभाषा नहीं थी। जिस प्रकार मुसलमानी नई वस्तुओं के नाम भारत की भाषाओं में आ मिले थे उसी प्रकार—पुर्तगाली, अंगेजी आदि शब्द भी आज तक मिलते जा रहे हैं, जैसे कारतूस, पादड़ी, कड़ाबीन, कमरा आदि।

दूसरा परिच्छेद

काव्य-भाषा, उर्दू साहित्य का विकास

यद्यपि भारत पर मुसल्मानों का आक्रमण पंजाब के राजा जैपाल के समय से आरंभ हो गया था परंतु उनका यहाँ बसना सुल्तान मुहम्मद गोरी के समय से आरंभ हुआ है। हिंदी मौलिक विकास साहित्य के इतिहास का यह चंदकाल था। उस बारहवीं शताब्दी में हिंदी अपभ्रंश से पृथक् हो रही थी अर्थात् अपनी अधपकी अवस्था में थी। चंद रासो में अनेक अरबी, फारसी और तुर्की शब्द सम्मिलित हैं। मुसलमानों के भारत में प्रवेश करते ही इन विदेशी शब्दों का प्रचार होने लगा था और यह प्रचार यहाँ तक बढ़ा कि काव्य निर्णयकार ने भाषा के लक्षण में फारसी को भी स्थान दे दिया है।

यदि हिंदी के ग्रंथों में फारसी आदि विदेशी शब्दों के प्रयोग को उर्दू नामक नई भाषा के पृथक्करण का मापक माना जाय तो उसका आरंभ चंदकवि के रासो के समय से समझना चाहिए। इस ग्रंथ से कुछ उदाहरण लीजिए—

> षड्भिम्म कठ कठ एक घटि तेग झुम्मर ॥
> द्वारपाल कमधज्ज थपि, हम रण दरबार ॥
> सम जोवन सद्दै कहा, कहौ सुधम्मि विचार ॥

इसमें तेग और दरबार फारसी शब्द हैं परंतु बहुत प्रचलित होने से सरल हो गए हैं। इस ग्रंथ के अनंतर अमीर खुसरो का समय आता है, जिन्होंने मुसलमान होकर और फारसी के प्रसिद्ध कवि होने पर भी हिंदी में कविता की है और अनेक प्रकार की पहेली और मुकरी भी कही है। उदाहरण के लिये इनकी एक पहेली दी जाती है, जिसमें सूरत, बदकार और मुश्क विदेशी शब्द हैं।

एक नार चरन वाके चार, स्याम वरन सूरत वदकार ॥
बूझो तो मुश्क है, न बूझो तो गँवार ॥

इसके बाद क्रम से कवीरदास, गुरु नानक और मलिक मुहम्मद जायसी हुए, जिन्होंने अपनी अपनी रचनाओ में विदेशी शब्दों का प्रयोग किया है। इनके ग्रंथों से भी कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

कबीर— दीन गँवायो दुनी से, दुनी न आयो हाथ।
पैर कुल्हाड़ी मारियो, गा फल अपने हाथ ॥

गुरु नानक—सास मास नव जीउ तुम्हारा, तू है खरा पियारा।
नानक सायर यूँ कहत है सच्चे पर्वरदिगारा ॥

जायसी— दीन्ह असीस मुहम्मद करिहउ जुग जुग राज।
वादशाह तुम जगत के जग तुम्हार मुहताज ॥

पुर्वोक्त कवियों के वाद गुसाईं तुलसीदास जी, सूरदास जी आदि का समय आता है। इन लोगो ने विदेशी शब्दों का प्रयोग किया है और यह प्रथा अब तक प्रचलित है। कविता के अतिरिक्त बोलचाल में भी बहुतेरे शब्द प्रचलित हो गए है, जिसका मुख्य कारण यही है कि अनेक विदेशी वस्तु, नाम, रीति आदि नवागतुकों के साथ आई हैं तथा उनके विदेशी नामो का प्रयोग आवश्यक और अनिवार्य हो गया है, जैसे कुर्ता, तकिया, पैजामा, अचार, चिमचा, साबुन आदि।

इसी प्रकार अंग्रेजी के स्टेशन, टिकट, अपील आदि बहुतेरे शब्द प्रचलित हो गए हैं। फारसी आदि के बहुत से शब्द इस प्रकार चल गए हैं कि उन्हे लोग एकाएक विदेशी नहीं कह सकते, जैसे दलाल, कुर्सी, कारीगर, दालान आदि। अनेक शब्द कुछ रूपांतर के साथ भी प्रचलित हो गए हैं, जैसे पैजावा (पजावः) मुर्दार सख (मुर्दः संख) कुलांच (कुलाश) आदि।

वस्तुतः जब उर्दू स्वयं कोई भाषा नहीं है, तब उसकी काव्य-भाषा कैसी ? उर्दू ने तो लिपि, शब्द, व्याकरण, छंदशास्त्र आदि सभी कुछ

दूसरों से केवल उधार लेकर अपनी तैयारी कर ली
उर्दू की काव्य-भाषा है। आरंभ में दक्खिनी भाषा में कुछ फारसी शब्द
मिश्रित कर यह काव्य-भाषा बनाई गई परन्तु जब
वह दिल्ली पहुँची तब वहाँ की खड़ी बोली ने उसका स्थान ले लिया। तब इस भाषा की काव्य-रचना फारसी छंद आदि के नियमानुसार हुई, तब भाषा उर्दू की काव्य-भाषा कही जाने लगी।

सभी भाषाओं के साहित्य का आरंभ या उसकी पुष्टि राजाश्रय से ही होती है और इसी प्रकार उर्दू की मौखिक या व्यावहारिक अवस्था का आरंभ यदि उत्तर के सुल्तानों के आश्रय

उर्दू साहित्य का आरंभ

में हुआ है तो इसका साहित्यिक आरंभ दक्खिन के दरबारों में हुआ है। प्रसिद्ध मुगल सम्राट् अकबर के समय तक इस व्यावहारिक भाषा का सूत्रपात हुए पाँच शताब्दी व्यतीत हो चुके थे परन्तु वह उसी रूप में बनी रही। विद्वानों या राजदरबारों में उसकी पहुँच नहीं थी। उस समय तक किसी को आशंका भी नहीं थी कि वह कभी इस उन्नत अवस्था तक पहुँचेगी परन्तु दक्खिन की हवा लगने से उसे साहित्यिक भाषा का गौरव प्राप्त हो गया। इस भाषा का आरम्भ कविता ही से होता हुआ देखा जाता है। मनुष्य के हृदयोद्‌गार स्वभावतः कविता में पहले उबल पड़ते हैं। गंभीर विषय के लिए मनन विचार के अनंतर गद्य की आवश्यकता पड़ती है, भावोदय के बाद ही विचार उठते हैं। उर्दू के लिए भी यही बात हुई। पर इसमें एक विशेषता यह थी कि यह काव्यशास्त्र के सभी अभारतीय सामान से सुसज्जित होकर एकाएक भारतीय रंगमंच पर आ पहुँची। क्रमिक विकास की गंभीरता का चिह्न इसमें न रह कर अभिनेत्रियों सी चपलता और बनावट इसमें पूर्ण रूप से विकसित हुई। गद्य का विकास बहुत बाद को हुआ क्योंकि प्रायः सभी साहित्यों में देखा गया है कि गद्य लिखना पहले लोग कुछ हेय समझते थे।

कुछ सज्जन अमीर खुसरो को उर्दू का प्रथम कवि मानते हैं। यह मानना केवल उर्दू साहित्य को लगभग तीन शताब्दी और पीछे ले जाने का व्यर्थ प्रयास है। अमीर खुसरो का जन्म जिला एटा के पटिआली ग्राम में सन् १२५५ ई० में हुआ था। यह बारह वर्ष की अवस्था ही से शेर कहने लगे। यह निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे और सन् १३१४ ई० में अपने गुरु की मृत्यु के कुछ ही दिन बाद यह भी मर गए। खुसरो ने अपनी आँखों से गुलाम वंश का पतन, खिलजी वंश का उत्थान तथा पतन और तुगलक वंश का उत्थान देखा था। इनके समय में दिल्ली के सिंहासन पर ग्यारह सुल्तान बैठे, जिनमें सात की इन्होंने सेवा की थी। फारसी साहित्य के इतिहास में इन्हें 'तूतिए हिंद' की पदवी से बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है। इनमें कट्टरपन की मात्रा नहीं के समान थी। इन्होंने हिंदी भाषा में, जिसे वे स्वयं हिंदी या हिंदुई कहते थे गीत, पहेलियाँ आदि कही हैं, जो अभी तक जन साधारण में बहुत प्रचलित थे। 'उर्दू मे कविता लिखने में यह प्रथम है। इन्होंने पहली उर्दू गजल लिखी पर वह दो भाषा की मेल है, जिसमें एक मिसरा फारसी तथा एक उर्दू है।' इनकी फारसी कृतियों को छोड़कर जो अन्य रचनाएँ हैं वे शुद्ध हिंदी हैं। एक पंक्ति भी ऐसी अभी तक नहीं मिली है, जिसे उर्दू कह सकते हैं। जिस ग़जल का उल्लेख पूर्वोक्त उद्धरण में किया गया है, उसका प्रथम शेर लीजिए—

खुसरो, उर्दू का प्राचीनतम कवि

जे हाल मिसकीं मकुन तगाफुल दुराय नैना बताए बतियाँ।
कि ताबे हिज्राँ न दारम ए जाँ न लेहु काहे लगाय छतियाँ॥

अब इसमें देखिये कि उर्दूपन किस अंश में है। इसको उर्दू समझने से स्यात् यह भ्रांति फैली कि उर्दू व्रजभाषा से निकली है। यह तो फारसी और हिंदी का पवित्र संगम एक उच्च विचार के पुरुष द्वारा प्रदर्शित किया गया है। खालिकबारी फारसी और तुर्की का कोष मात्र

है, जिसका पर्याय उर्दू में नहीं प्रत्युत 'हिन्दी और 'हिंदुई' में दिया गया है। इसके दो शेर प्रथम परिच्छेद में उद्धृत हैं, जिन्हें पाठकगण देखें कि वे किस भाषा में हैं। इस प्रकार देखा जाता है कि अमीर खुसरो का उल्लेख, प्रतिष्ठापूर्ण उल्लेख, फारसी तथा हिन्दी ही के साहित्यों के इतिहास में होना चाहिए, उर्दू के नहीं।

रामबाबू सक्सेना लिखते हैं कि खुसरो की पुस्तक खालिकबारी अरबी और फारसी शब्दों के उर्दू पर्याय का कोष है। 'खालिकबारी सिरजनहार' में प्रथम शब्द फारसी है और उसका पर्याय सिरजनहार आपकी राय में उर्दू है। धन्य है इस बुद्धि को! इतना मालूम नहीं है कि सत्य कह सकें क्योंकि उर्दू को पीछे से माना जा सकता है। वास्तव में उर्दू शब्दावली ही कैसा! यह तो अन्य भाषाओं के लिए हुए शब्दों का चयन मात्र है। आपने उर्दू का कवि या साहित्यिक होने के नाते खुसरो की प्रसिद्धि नहीं मानी है यही गनीमत है, भले ही वह इन्हें उर्दू, मूल आदिका स्रष्टा मान लें। अब तो यह भी सिद्ध हो गया है कि खालिकबारी के रचयिता यह खुसरो नहीं कोई अन्य खुसरो है।

हिन्दी साहित्य में फारसी भाषा के शब्दों का प्रचार बढ़ रहा था। मुसलमानों ने हिंदी में कविता लिखना आरंभ कर दिया था, जिनमें जायसी, रहीम, कबीर, रसखान आदि सुप्रसिद्ध हैं।

हिंदुओं में फारसी का प्रचार

नवाब अब्दुर्रहीम खाँ खानखानाँ की खड़ी बोली हिंदी की कविता, जैसे 'गुल तोड़ती थी खड़ी' या 'अरद बसन वाला गुलचमन देखता था', एकाएक फारसी शब्दों की बहुलता से उर्दू ही की कविता जान पड़ती है, पर वास्तव में हिंदी ही है।

उर्दू साहित्य का आरंभ दक्षिण के गोलकुंडा और बीजापुर के कुतुबशाही और आदिलशाही दरबारों के आश्रय में हुआ था। यहाँ के सुल्तानगण केवल कवियों के आश्रयदाता ही नहीं थे प्रत्युत

दक्षिण में उर्दू साहित्यका आरंभ

वे स्वयं कविता करते थे। इन लोगों का विशेष विवरण आगे के परिच्छेद में दिया गया है। यहाँ के उर्दू कवियों की काव्यभाषा हिंदी थी पर उसमें फारसी, अरबी और तुर्की शब्द तथा दक्खिनी मुहाविरे मिले हुए थे और यहाँ के कवियों ने हिंदू आख्यायिकाओं, उपमाओं को भी अपनी कविता में स्थान दिया था। जब औरंगजेब ने इन राज्यों को नष्ट भ्रष्ट कर दिया तो साथ ही ये साहित्य-क्षेत्र भी नष्ट हो गए। इसके अनंतर वली ने मुहम्मद शाह के समय दिल्ली आकर अपने दीवान का प्रचार किया, जिससे वह उर्दू कविता के 'बाबा आदम' बन बैठे और उनकी कविता दिल्लीवालों को कुछ ऐसी भाई कि वह स्थान शीघ्र ही उर्दू साहित्य का भारी क्षेत्र बन गया। भारतीय हिंदी को जो धार्मिक विद्वेष के कारण अपनाना नहीं चाहते थे और जिनके लिए विलायती फारसी अरबी अत्यंत दुरूह थीं, उन्हें यह मनचाही भाषा मिल गई। दिल्ली के अंतिम सम्राटों की अस्थायी उन्नति और अवनति के साथ इसकी भी उस स्थान विशेष में उन्नति और अवनति होती रही परंतु जब लखनऊ के आसफुद्दौला के दान, मान और गुणग्राहकता की धूम मची और उसका यश दिल्ली पहुँचा तब बहुत से अच्छे कवि, जिनमें मीर तकी 'मीर', 'सौदा', 'इंशा' आदि थे, लखनऊ चले गए और वहाँ उर्दू का एक नया साहित्य-क्षेत्र खुल गया। नादिरशाह, अहमदशाह दुर्रानी और मराठों की चढ़ाइयों से दिल्ली की दुर्दशा होने पर उसका साहित्य-क्षेत्र लखनऊ के आगे दब गया। सन् १८५८ ई० में नवाब वाजिद अलीशाह के गद्दी से उतारे जाने पर लखनऊ का क्षेत्र भी दब गया और एक प्रकार उर्दू कविता का कोई केंद्र नहीं रह गया। उसके अनंतर हैदराबाद, रामपुर आदि के अन्य नवाबगण शाएरों को आश्रय प्रदान करने लगे और कितने स्वतंत्र कवि भी इधर हुए हैं तथा वर्तमान हैं।

गद्य साहित्य का आरंभ दिल्ली और लखनऊ में हो गया था

परंतु उसका पूर्ण विकास कलकत्ते में हुआ। जब कलकत्ते में फोर्ट विलिअम कॉलेज स्थापित हुआ तब ईसवी अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में वहाँ डाक्टर गिल्क्राइस्ट साहब की अधीनता में अनेक हिंदी और उर्दू के विद्वानों ने गद्य का स्वरूप निर्धारित करना आरंभ किया। ऐसा करने का मुख्य कारण यही था कि विलायत से नए आए हुए युरोपिअन अफसरों के लिए शिक्षा की पुस्तकें तैयार हों जिससे वे देश की भाषा से स्वतः परिचित हो सकें। इसीलिए उस समय के फारसी के अच्छे अच्छे विद्वान् वहाँ एकत्र किए गए और उनकी गद्य भाषा ऐसी उत्तम और आदर्श भाषा बनी कि अब तक उससे कोई आगे नहीं बढ़ सका है। इन्हीं डा० गिलक्राइस्ट ने उर्दू के कोष तथा व्याकरण पहले पहल तैयार कराए थे। व्याकरण की दृष्टि से यद्यपि दरिआए लताफत को प्रथम स्थान मिलता है, पर उसका महत्त्व केवल ऐतिहासिक दृष्टि से तथा समकालीन बोलचाल की भाषा के नमूने देने ही से विशेष है। इसी समय रजबअली और बेदिल के फारसी गद्य की चाल पर तुकबंदी लिए हुए गद्य का दिल्ली और लखनऊ में प्रचार हो रहा था जिसमें रूपक, उपमादि की खूब छटा दिखलाती थी। यह तुकबाजी बड़े बड़े वाक्यों में ऐसी पीछे पड़ जाती थी कि अर्थ का पता जल्दी नहीं मिलता था। फारसी के नस्ने मुरस्सा और नस्ने मुसज्जा की नकल उर्दू में भी होने लगी। इस प्रकार के गद्य के लेखकों में पहला नाम सरूर का है, जिनका 'फिसानए अजायब' इसका सर्वोत्तम नमूना है। गालिब के पत्रों के संग्रह 'उर्दुएमुअल्ला' और 'ऊदए हिंदी' का गद्य इसके विरुद्ध सादगी, आडंबर-शून्यता, विनोद तथा गांभीर्य के लिए प्रसिद्ध है। समय का अनुसरण करते हुए कभी कभी तुकबंदी भी किया है पर यह उसके विरोधी अवश्य रहे। ईसाई पादड़ियों ने भी आरंभ में (सन् १८०५ ई० के लगभग) बाइबिल आदि के अनुवाद उर्दू में कराए थे और मुफ्त बाँटे थे।

उर्दू ही में और भी छोटी छोटी पुस्तिकाएँ छपवाकर उर्दू के प्रचार में इन लोगों ने हाथ बँटाया था। सैयद अहमद के धार्मिक झगड़ों ने भी उर्दू गद्य की उन्नति में सहायता दी। सर सैयद अहमद के उत्साह-पूर्ण धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा शिक्षा विषयक कार्यों से भी उर्दू को विशेष रूप से सहायता पहुँची। इनके सहकारी तथा मित्र गण ने, जिनमें हाली, शिबली, जकाउल्ला, नजीर अहमद आदि से विद्वान् थे, उर्दू साहित्य के भंडार को परिपूर्ण करने में पूरा योग दिया था। आजाद के गद्य की शैली भी बहुत अच्छी है और इन्होंने जिस विषय का वर्णन किया है उसका चित्र सा खींच दिया है। पाश्चात्य ज्ञान का प्रभाव भी अब पूर्ण रूप उर्दू साहित्य पर पड़ने लगा जिससे आलोचना, विज्ञान आदि पर पुस्तकें लिखी जाने लगी।

मुसलमानी राज्य के जम जाने पर भी पठान वंशों तक हिंदी ही दफ्तर आदि की भाषा रही। सिक्कों पर भी हिंदी ही मे बादशाहों के नाम रहते थे। मुगल साम्राज्य स्थापित होने पर फारसी भाषा का प्रचार हुआ पर इसने भी एतत्कालीन उर्दू नाम की माध्यम भाषा को कुछ आश्रय नहीं दिया। अकबर के मंत्री राजा टोडर मल ने दफ्तर के काम फारसी में कर दिए पर माल विभाग का काम हिंदी ही में रहने दिया। सन् १८३७ ई० तक फारसी ही प्रचलित रही और भारत-सर्कार ने सर्व साधारण के कष्ट को देखकर देश भाषाएँ जारी करने की आज्ञा दे दी। बंगाल में बंगाली, गुजरात में गुजराती तथा महाराष्ट्र में महाराष्ट्री प्रचलित की गई पर संयुक्त प्रांत, मध्य प्रदेश तथा विहार में हिंदुस्तानी नाम से उर्दू जारी हो गई। सन् १८८१ ई० में विहार और मध्य प्रदेश से उर्दू उठाकर हिंदी कर दी गई। इस प्रकार अदालती भाषा हो जाने से उर्दू का कोष तथा महत्व भी बढ़ गया।

कचहरी में उर्दू

उर्दू की समग्र आरंभिक कविता प्रेम और विरह के रंग में रँगी हुई है, जिसका कारण यह है कि इन्हीं भावों पर फारसी के कवियों

उर्दू का आधार फ़ारसी

ने बहुत रचना की है। इस प्रकार भावों की कमी और मौलिकता की हीनता से कथन शैली और अलंकारों में ही नवीनता लाई गई तथा उर्दू का अलंकारशास्त्र परिपक्व हो गया। इसका कारण यही है कि जब उन भावों पर, जिन पर सैकड़ों कवि अपनी अपनी काव्यशक्ति का परिचय दे चुके हों, फिर से कविता की जाय तब उसमें कुछ मौलिकता लाने के लिये यह आवश्यक है कि उसके कहने ही में कुछ नवीनता लाई जाय। इसलिये बातों का चमत्कार, अनोखी उपमाएँ अनुप्रास और श्लेष का उर्दू कविता में अधिक प्रयोग रहता था। उर्दू कविता में भावों के इसी अभाव से उसके अनुवादों में चमत्कार घटने नहीं पाता। मसनवियों का भी यही हाल है कि एक कथावस्तु पर अनेकानेक कविताएँ बनी हैं और उनमें केवल कथनशैली की विभिन्नता है जैसे लैला मजनूँ, यूसुफ-जुलेखा आदि। नाम बदलने पर भी घटनाएँ वही रहती हैं, जिनसे हर एक पाठक परिचित है और केवल उनकी कथनशैली के ढंग से ही एक दूसरे की मौलिकता का पता चलता है।

प्राचीन समय से प्रायः अब तक उर्दू कविता पर फ़ारसी के इस अनुकरण तथा अपहरण का जो प्रभाव पड़ा है, वह गोपनीय नहीं है। उसे अन्य भाषाओं के समान आरंभ में बहुत काल उर्दू कविता पर इस तरह प्रौढ़ तथा परिपक्व होने के लिए प्रयास नहीं करना पड़ा वरन सब कुछ, अनुकूल या प्रतिकूल, फ़ारसी का अपना कर एकाएक यह प्रौढ़ काव्य भाषा के रूप में परिवर्तित हो गई। पर इससे यह स्वाभाविकता या वास्तविकता जो प्रत्येक भाषा की निज की समय और देश के अनुसार संपत्ति होती है, खो बैठी। उर्दू फारस देश के बुलबुल का जैहून या सैहून के किनारे सरो, नरगिस, सौसन आदि से भरे हुए बाग में चहचहाना तथा बेसतून पर्वत का दृश्य वर्णन करती है। फारस के रुस्तम की वीरता, नौशेरवाँ का न्याय, हातिम का दान, लैला-मजनूँ

नक़ल से दोष

का प्रेम आदि उसके लिये आदर्श हैं। प्राकृतिक शोभा की खान स्वदेश के हिमालय सदृश पर्वत, गंगा-यमुना सी नदियाँ, यहाँ के षट् ऋतु, सहस्रों प्रकार के पक्षी आदि उपेक्षणीय माने गए। भारत के प्रकांड वीरों तथा आदर्श प्रेमियों की कथाएँ धार्मिक द्वेष के कारण हीन समझी गईं। तात्पर्य यह कि आँखो के सामने उपस्थित दृश्यों के बदले सुनी हुई बातों का वर्णन कर वास्तविकता का संहार किया गया। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, एक ही बात को बारबार फेंटने से भाषा में मौलिकता न रह कर वागाडंबर मात्र रह गया। नए नए भावों, अनुभव से उद्भूत कल्पना के नए नए उड़ानों तथा कवि की प्रतिभा की स्वच्छंदता के नमूने, कहाँ है? प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की तौबा ले ली गई और क्यों न ले? फारस जाकर निरीक्षण करना कष्ट साध्य और वहाँ की नदी तथा पर्वतादि का यहाँ आना असाध्य। बस जो कुछ पूर्ववर्ती फारस के कवि कह गए, वही सच्चा मंत्र, 'नादीदा' आँखे मूँदकर भिन्न भिन्न शैली से दुहराते तिहराते चले गए। इस प्रकार एक ही भाव, कथन शैली, उपमादि के उलट-फेर सुनते-सुनते जी ऊब उठता है। रदीफ और काफिया दोनों ही के बंधन से भी भाव के सीधे स्पष्टीकरण में रुकावट पड़ती है। अतुकांत सी स्वतंत्रता उसमें नहीं रह जाती। प्रायः 'तरह' निश्चित हो जाने पर कवियों के हृदय में भावोदय होता है। भारत के कवियों के नौ रसों में से उर्दू ने केवल शृंगार उसमें भी विशेष कर वियोगात्मक शृंगार रस ही, लिया है, जिससे भी 'मीठो भावै लोन पर' का मजा नहीं मिलता। पुरुष तथा स्त्री के नैसर्गिक तथा पारस्परिक प्रेम का त्याग कर किशोरावस्था के नवयुवक के प्रति अस्वाभाविक प्रेम दिखलाना दोष है और इसका समाज पर बुरा असर पड़ता है। इसके विषय में विशेष आलोचना की आवश्यकता नहीं।

प्रेम एकांगी या पारस्परिक दोनों प्रकार का होता है। जिस साहित्य में पुरुष स्त्री के प्रति और स्त्री पुरुष के प्रति अपने भाव,

विचार, प्रेम आदि स्वच्छंदतापूर्वक वर्णन कर सकती हैं, उसी में स्वसंयतापूर्वक मनुष्य के हर प्रकार के मानसिक उद्गार निकल सकते हैं। संसार के सभा सभ्य समाजों में देखा जाता है कि स्त्रियों से पुरुषों को विशेष स्वतंत्रता है और वे उन कार्यों के लिए समाजच्युत नहीं समझे जाते, जिनके लिए स्त्रियाँ समझ ली जाती हैं। अब जिस साहित्य में केवल पुरुष ही स्त्रियों के प्रति अपने विचार प्रकट कर सकते हैं उसमें उस साहित्य से जिसमें स्त्रियों द्वारा पुरुष के प्रति विचार प्रकट किए जा रहे हों कम मानसिक विकारों का प्रकटीकरण हो सकता है। स्त्रियाँ जितने प्रकार से पुरुष पर आक्षेप कर सकती हैं और उलाहने दे सकती हैं उतने प्रकार से पुरुष नहीं कर सकते। इससे फारसी के कवियों को इसी संकुचित सीमा के अंतर्गत अपने भाव क्षेपादि को प्रदर्शित करना पड़ता था। उनका समाज पर्दे के कारण औपन्यासिक प्रेम का विरोधी था। इसलिए क्रमशः प्रतिभाव अपने भाव अपनी प्रेयसी के प्रति इस प्रकार प्रदर्शित करते थे मानों वह पुरुष है। इस प्रकार पुरुष के प्रति प्रेम-वर्णन बढ़ता गया और उर्दू ने, जो फारसी की अनुवर्तिनी मात्र थी, वैसा ही नकल उतार ली।

उर्दू में संबोधन की शैली

मुसलमानी मत के कट्टर रीति रस्मों के विरुद्ध सूफी मत उसके अन्तर्गत रहते भी प्रसार करता गया। इसमें ईश्वर के प्रति प्रेम करना ही प्रधान ध्येय रहा है जिससे सांसारिक माया मोहादि विकार से निर्लिप्त होकर आत्मा ईश्वर ही में रत रहते हुए उसी में लीन हो जाय। इस प्रकार के मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस मत में साधन की पाँच सीढ़ियाँ मानी गई हैं। प्रथम ईश्वराराधना, जो उसी की आज्ञा के अनुसार हो, द्वितीय भक्ति अर्थात् ईश्वर के प्रति आत्मा का आकर्षण, तृतीय एकांत स्थान में ईश्वर का ध्यान, चतुर्थ ज्ञान अर्थात् ईश्वर के गुणादि का दार्शनिक विचार और पाँचवाँ भावोद्रेक अर्थात् ईश्वरीय

कविता पर सूफी मत का प्रभाव

शक्ति तथा प्रेम के पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर शरीर का भान न रह जाना। इस प्रकार ईश्वर के प्रति प्रेम करने की साधना ठीक करने के लिए पहले सूफी कवियों ने सांसारिक प्रेम का वर्णन आरंभ किया, जिसका प्रभाव फारस की लगभग सभी उत्तम कविता पर पड़ा है। वही प्रभाव फारसी का अनुसरण करने वाले सभी उर्दू के कवियों पर भी पड़ा है। आरंभ काल के प्रायः सभी कवि सूफी मत के मानने वाले थे और उनमें कई सूफी फकीरों के प्रसिद्ध घराने के वशधर थे।

उर्दू में श्रृङ्गार रस

श्रृङ्गार दो प्रकार का होता है—सयोगात्मक और वियोगात्मक। ईश्वरीय प्रेम अर्थात् भक्ति वियोगात्मक है, जिसकी अनुभूति सांसारिक प्रेमियों के विरह में होती है। संयोग तो एक ही वार होता है और तब वह अकथनीय है। इसी से उर्दू के कवि केवल अपना 'दर्दे दिल ही' सुनाते रहते हैं और उसे 'मै, मीना, कुलकुल' से भुलाने का प्रयत्न करते हैं। इसी वियोगात्मक श्रृङ्गार रस में जब करुण रस का भी पुट मिल जाता है तब वह अभूतपूर्व हो जाता है, नहीं तो वह दुखड़ा रोना मात्र है। पाश्चात्य संपर्क अब नए नए विषयों की ओर भी कवियों की कल्पना को आकृष्ट कर रहा है और उन्हें प्रकृति तथा सत्यता की ओर झुका रहा है। विषयवासनादि में आसक्त सम्राटों तथा नवाबों के आश्रय रूपी संसर्ग के दूर होने से भी अब कवियों की रुचि स्वच्छ और स्वच्छंद हो गई है। जीविका के लिये उनका शरीर परतन्त्र हो सकता है पर उनकी प्रतिभा स्वतंत्र है। उसे अपने आश्रयदाता ही का मन बहलाव करना नहीं रह गया है अस्तु, जो कुछ हो प्रेम के वियोगात्मक अंश के प्रत्येक पहलू पर तथा उसकी अनुभूति का जो वर्णन उर्दू में हो चुका है, वह बड़ा ही हृदयद्रावक और आकर्षक है। विरह के कष्ट, नैराश्य के दुःख आदि का ऐसा वास्तविक दृश्य खींच दिया गया है कि सुनकर उसकी अनुभूति आप-बीती-सी होने लगती है।

तीसरा परिच्छेद

उर्दू साहित्य का दक्षिण में आरंभ

सन् १६४०—१८०० ई०

सिद्धांत रूप से यह कहना कि अमुक भाषा का आदि कवि अमुक पुरुष था या उसका जन्म अमुक वर्ष में हुआ था, नितांत भ्रमोत्पादक है। प्राप्त लिखित ग्रंथों के आधार ही पर

प्रथम कवि

यह निश्चित किया जा सकता है कि प्राचीनतम कविता किसकी है। अन्वेषण नई नई पुस्तकों की खोज कर इसे अनिश्चित करता रहता है। प्रत्येक भाषा प्राचीनतर भाषाओं का रूपांतर मात्र होता है और यह रूपांतर इतने अधिक समय में होता है कि इस कार्य का कोई निश्चित समय निर्धारित नहीं किया जा सकता। इन भाषाओं को गीत और गाथा रिक्थक्रम से मिलती हैं परंतु उर्दू के भाग्य में यह मौखिक साहित्य भी नहीं बदा था। यह कहाँ से प्राप्त होता ? यह किसी प्राचीनतर भाषा की रूपांतर न होकर केवल दो भिन्न जातियों के संपर्क से उत्पन्न उनके बोलचाल की माध्यम मात्र थी। साथ ही यह भी आश्चर्यपूर्ण है कि उर्दू साहित्य का आरंभ 'हिंदोस्तान' में न होकर दक्षिण के सुल्तानों के दर्बार में हुआ और इसीलिये यह आरंभ में दक्खिनी कहलाई। उत्तरी भारत में प्रसिद्ध मुगल सम्राट अकबर का दरबार फारसी तथा हिंदी के सुप्रसिद्ध कवियों से सुशोभित था और हिंदी का यह सौर काल सूरदास, तुलसीदास, नंददास आदि महात्माओं की वाणी से, भक्तों के हृदय को प्रकाशमान कर रहा था।

दक्षिण में पहुँचकर मुसल्मानों द्वारा व्यवहृत भाषा अर्थात् प्राचीन उर्दू-हिंदी ही दक्खिनी कहलाई। मुसल्मानी सेनाएँ जिन्होंने

दक्खिनी क्या है ?

खिलजी-वंश-काल से दक्षिण पर चढ़ाइयाँ कीं और वहाँ मुसल्मानी सल्तनतें स्थापित कीं, उन्हीं के साथ यह व्यावहारिक भाषा भी वहाँ पहुँची और उस प्रांत के बोलचाल की हिंदी का प्रभाव पड़ने से लगभग दो तीन शताब्दियों में यह कुछ भिन्न हो गई। यह भी फारसी ही लिपि में लिखी जाने लगी पर इसमें फारसी शब्दों की भरमार नहीं रहती थी। यह उर्दू का प्राचीन रूप है, जिसमें दक्खिनी शब्द तथा मुहावरे मिल गए हैं। कर्ता का चिन्ह 'ने' का प्रयोग भूतकाल सकर्मक क्रिया के पहले नही होता। संबंध वाचक सर्वनाम 'मेरे, तेरे' के लिए 'मुज, तुज' का प्रयोग होता है। 'हम तुम' के स्थान पर 'हमन, तुमन प्रयुक्त होता है। सेती, थे, गुमाना आदि दक्खिनी शब्द भी विशेष रूप से मिलते हैं, जो वली के साथ दिल्ली आए पर यहाँ कुछ ही समय के बाद वहिष्कृत कर दिए गए।

आरंभ का कारण

दक्षिण के इतिहास पर विचार करते हुए देखा जाता है कि खिलजी-वंश की चढ़ाइयों के अनन्तर दक्षिण का प्रथम मुसल्मानी साम्राज्य सन् १३४७ ई० में 'बहमनी साम्राज्य' के नाम से स्थापित हुआ था। यह साम्राज्य डेढ़ सौ वर्ष से अधिक स्थित रह कर सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में नष्टः प्राय होकर पाँच भिन्न राज्यों में बँट गया था। फिरिश्ता लिखता है कि 'गंगू (गंगाधर) पहला ब्राह्मण था, जिसने मुसल्मान की नौकरी की। इसके स्वीकार करने के अनंतर कर विभाग का कार्य दक्षिण के सुल्तान प्रायः ब्राह्मणों ही को देते थे।' पर स्वयं आगे जाकर लिखता है कि इब्राहीम आदिलशाह की आज्ञा से 'जो राज-कार्य पहले फारसी भाषा में रखा जाता था—वह हिंदुवी में ब्राह्मणों के प्रबंध मे लिखा जाने लगा।' दोनों उद्धरण एक दूसरे के विरोधी हैं। पर इससे यह पता लगता है कि राज-कार्य में हिंदी को अवश्य स्थान मिला था। गोलकुंडा का अंत सन् १६८६ ई० में तथा

बीजापुर का सन् १६८७ ई० में हुआ था। इस प्रकार तीन शताब्दियों से अधिक समय तक मुसल्मानों का आधिपत्य दक्षिण में स्थापित रहा। हिंदुओं तथा मुसल्मानों का संपर्क दक्षिण में विशेष रूप से इस कारण दृढ़ था कि इन दरबारों में विलायती (अर्थात् फारस आदि से नए आए) तथा दक्खिनी मुसलमान सरदारों के दो दल हो गए और जब उनमें वैमनस्य हुआ तब हिंदू सरदारों ने देशी मुसल्मानों ही का साथ दिया। इस सहयोग से भी उर्दू भाषा दृढ़तर हुई। इस प्रकार जब फारसी भाषाविद् हिंदुई (हिंदी) भाषा का ज्ञाता होने पर माध्यम की भाषा में कविता करने बैठा तब उसे फारसी पिंगल ही का आश्रय लेना पड़ा क्योंकि उत्तर के समान हिंदी का पिंगल उसके सन्मुख उपस्थित नहीं था। आस पास की तैलंगी, कनाड़ा आदि भाषाएँ अजनबी थीं इससे उनका कुछ भी असर न पड़ना कोई आश्चर्य नहीं है। बस ऐसा होते ही उर्दू नाम्नी हिंदी सभा उल्टा विदेशी स्वाँग धारण कर वास्तव में एक नई भाषा बन बैठी। सूफियों ने भी इस भाषा की उन्नति में बहुत कुछ हाथ बँटाया है।

साहित्य, समाज, राजनीति किसी के भी इतिहास का आरंभ कुछ न कुछ तमसाच्छन्न रहा जाता है। यही उर्दू साहित्य के आरंभ का हाल है। किसी प्राचीन संग्रह या तज़किरे का अभी तक पता नहीं है जिससे कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सके। पुस्तकों की खोज किसी न किसी समय कुछ विशेष प्रकाश इस विषय पर डाल सकती है।

पहला कवि

सैयद शुजाउद्दीन 'नूरी' गुजराती पहला कवि माना जाता है, जो जीविका की खोज में हैदराबाद आकर बस गया था। यह सुलतान अबुल् हसन कुतुबशाह 'तानाशाह' के वजीर के पुत्र का शिक्षक था। कहा जाता है कि इसके शेर कायम के तज़किरे में मिलते हैं। एक और 'नूरी' उपनाम के कवि इसके काल के पहले हुए हैं, जो आजमपुर कस्बा के किसी काजी के पुत्र थे। यह फैजी के मित्र कहे जाते हैं

अतः सम्राट् अकबर के समय में थे। अब इन्हीं दो में कोई एक प्रथम कवि हो सकता है क्योंकि किसी तीसरे 'नूरी' का अबतक पता नहीं है। अबुलहसन कुतुब शाह सन् १६७२ ई० में गद्दी पर बैठा और औरंगजेब के समय सन् १६८७ ई० में इसके राज्य का अंत हो गया। इसी काल में प्रथम नूरी इसके वजीर सैयद मुजफ्फर या मदन पंडित के पुत्र के शिक्षक हो सकते हैं क्योंकि इसके ये ही दो वजीर हुए हैं। इस राज्य के अंत के पहले ही नूरी इस पद से हटा दिए गए और सरहिंद जाकर वहीं गरीबी में समय बिताते हुए मर गए। इनका एक शेर मीर हसन ने अपने तजकिरे में दिया है, जो इस प्रकार है—

नूरी अपसके दिल की किसीसे न कह बिथा।
हासिल भला अब इससे दिवाने जो था सो था॥

दूसरे नूरी इससे पूर्ववर्ती थे और सन् १५५६ ई० से सन् १६०५ ई० के बीच में हुए थे। यह फारसी के कवि थे और मीर हसन के अनुसार कभी कभी 'हिंदी' में, उर्दू में नहो, शेर कह देते थे। कायम के तजकिरे में एक शेर दिया है जिसमें एक मिसरा फारसी तथा एक हिंदी का है और वह इस प्रकार है—

हर कसकि खियानत कुनद अलबत्तः बेतर्सद।
बेचारए नूरी न करे है न डरे है।

मुहम्मद कुली कुतुबशाह सन् १५८० ई० में गद्दी पर बैठा तथा सन् १६११ ई० में मरा था। इसने एक दीवान लिखा है। नूरी इसके पहले के कवि माने जाते हैं पर यह भी निश्चित नही है। ऐसी अवस्था में एक कवि को, जिसके कुछ ही शेर प्राप्त हैं, पहला स्थान देना और जिसका समग्र दीवान प्राप्त है उसे द्वितीय स्थान देना उचित नहीं जान पड़ता। इस विवेचना से यही स्पष्ट जान पड़ता है कि 'नूरी' के जीवन पर विशेष प्रकाश न पड़ने तक उसे प्रथम कवि मानना मुहम्मद कुली कुतुबशाह के साथ अन्याय करना मात्र है।

दक्षिण के बहमनी सुलतानों के ऐश्वर्य और वैभव का समाचार

तुर्कमान आक कयोनलू जाति का एक सर्दार सुल्तान कुली बहमनी सुल्तान महमूद शाह के दर्बार में पहुँचा। महमूद शाह ने इसे होनहार समझकर अपना कृपापात्र बना लिया। महमूदशाह स्वयं विषयी और आराम-तलब बादशाह था। इसके सर्दार आपस के द्वेष के कारण षड्यन्त्र रचा करते थे और इन्हीं में एक बार बादशाह स्वयं बलिदान हो चुका था, पर किसी प्रकार बच गया। सुल्तान कुली ने अपनी वीरता और कार्यक्षमता से शीघ्र ही कुतुबुलमुल्क की पदवी प्राप्त कर ली और तेलिंगाना का सूबेदार नियुक्त हुआ। सन् १५१९ ई० में महमूद शाह की मृत्यु पर इसने कुतुबशाही की पदवी धारण की और गोलकुण्डा को राजधानी बनाकर स्वतन्त्रता से छत्तीस वर्ष राज्य किया। इसने राज्य का विस्तार भी किया और आंतरिक प्रबन्ध भी, जो बहमनी सुलतानों के समय में ढीला पड़ गया था, फिर से ठीक किया। सन् १५४३ ई० में सुल्तान कुली अपने पुत्र जमशेद द्वारा मारा गया, जिसने सात वर्ष तक राज्य किया। सन् १५५० ई० में जमशेद का भाई इब्राहीम सुल्तान हुआ, जिसने तालीकोट के युद्ध में योग दिया था। सन १५८० ई० में इसकी मृत्यु होने पर इसका पुत्र मुहम्मद कुली कुतुबशाह गद्दी पर बैठा। बीजापुर और गोलकुण्डा में बराबर युद्ध होता रहता था, इसलिए मुहम्मद कुली ने अपनी बहन मलिकजहाँ का बियाह इब्राहीम आदिल शाह से करके उससे मित्रता कर ली। शान्ति स्थापन करके राज्य के कर, नियम आदि में बहुत कुछ उन्नति की और मसजिद, मदरसे आदि बनवाए। मुहम्मद कुली ने गोलकुण्डा से कुछ हटकर एक नया नगर बसाया, जिसका नाम एक वेश्या भागमती के नाम पर पहले भाग नगर रखा गया पर बाद में वह हैदराबाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। फरिश्ता ने अपने ग्रन्थ में इस नगर की बहुत प्रशंसा लिखी है और जिसने उस समय के दिल्ली, आगरा आदि प्रसिद्ध नगरों को देखा था, उसके लिए इतना

मुहम्मद कुली कुतुबशाह

लिखना ही बहुत है। इस नगर के बड़े बड़े महलों को, जिसे इस सुल्तान ने बनवाया था, देखकर फ्रेंच यात्री टैवनियर ने बहुत आश्चर्य प्रकट किया था कि 'बागों के बड़े बड़े वृक्ष जो भिन्न भिन्न मरातिबों में लगे हैं, उनके बोझ को ये छतें किस प्रकार सँभाले हुए हैं।'

महम्मद कुली को इमारत बनवाने के व्यसन के सिवा साहित्य से भी बहुत प्रेम था और यह स्वयं भी कवि था। कविता में यह अपना उपमान 'कुतबा' और 'मुआनी' रखता था। यह पहला उर्दू कवि है जिसने फारसी ढंग पर दीवान लिखा है। अभी तक उर्दू का प्रथम कवि तथा प्रथम 'दीवान' का लेखक यह है और माना भी जाना चाहिए। यह स्वयं अच्छा लिखने वाला था और ईरान तक से नस्तालीक़ और नस्ख़ लिखने वाले इसके दरबार में आए थे। वह गुणग्राहक और गुणियों को पहचानने वाला था। प्रसिद्ध मीर जुमला भी इसी का वजीर था, जिसने कर्नोल और कड़प्पा विजय किए जाने पर वहाँ शांति-स्थापन किया था। मीर मुहम्मद 'मोमिन' अस्त्राबादी भी इसी के दरबार में था।

मुहम्मद क़ुली का साहित्य-प्रेम

यह हस्तलिखित ग्रंथ इस समय हैदराबाद के राजकीय पुस्तकालय में है। यह पुराने समय के बहुत अच्छे काग़ज पर नसख़ चाल के अक्षरों में लिखा हुआ है। इस संग्रह में लगभग अठारह सौ पृष्ठ हैं। मुहम्मद क़ुली कुतुब शाह के भतीजे और उत्तराधिकारी मुहम्मद क़ुतुबशाह ने अपने चाचा की ग़जलों को क्रम से लगाकर यह हस्तलिखित प्रति तैयार कराई और पहले पृष्ठ पर अपने हाथ से इन्होंने जो लिखा है उसका आशय यह है कि पूज्य चाचा मुहम्मद कुली कुतुब शाह का कुलियात (दीवान अर्थात् संग्रह) पूर्ण हुआ और यह मुहीउद्दीन लेखक द्वारा १ रज्जब सन् १०२५ हि० को लिखा जाकर राजधानी हैदराबाद में सुरक्षित हुआ। भूमिका से यह भी ज्ञात होता है कि इन्होंने

मुहम्मद क़ुली का काव्य संग्रह

५०००० शेर लिखे थे। इस ग्रंथ में मसनवी, मर्सीये, तरजीहबंद, फारसी मर्सिए, दक्खिनी मर्सिए, फारसी गजलें, दक्खिनी गजलें और रुबाइयाँ इसी क्रम से संगृहीत हैं। मुहम्मद क़ुली कुतुबशाह की कविता बहुत ऊँचे दर्ज की न होने पर भी हीन नहीं कही जा सकती। किसी भाषा के आरंभिक काल के कवि के समान इसकी कविता भी अच्छी ही मानी जायगी। इस की भाषा में दक्खिनी शब्द भी बहुत आए हैं। इस के शेरों में मदिरा और मस्ती का ज़िक्र बराबर रहा है, जिससे फ़ारसी की रंगत साफ़ झलकती है। फ़ारसी भाषा पर इस मदिरा का तेज रंग बहुत चढ़ा हुआ है पर इस कवि ने अपनी भाषा में उसका नीम रंग रखकर इसकी शोभा बढ़ा दी है। इस कवि ने केवल प्रेम ही पर नहीं लिखा है वरन अन्यान्य विषयों पर भी लिखा है, जिनमें मानवी विचार और प्राकृतिक वर्णन भी सम्मिलित हैं। फलों, मेवों, पक्षियों आदि पर भी कविताएँ लिखी हैं। भाव, विचार, उपमा आदि फारसी की हैं और छंद भी उसी के साँचे में ढले हुए हैं पर इन सब के होते भी एक बात शुद्ध हिंदी या भारतीय है जो इसकी समग्र कविता में एक रूप से पाई जाती है। फारसी की कविता में पुरुष प्रेमी अर्थात् आशिक़ होता है और स्त्री प्रेम की पात्री अर्थात् माशूक़ होती है, पर हिंदी में इसके बिलकुल विपरीत होता है। यही हिंदी कविता का रंग इन के काव्य संग्रह में सर्वत्र झलकता है। हिंदी उपमाएँ, कथानक आदि भी बराबर लिए गए हैं, उनका बहिष्कार नहीं है।

उदाहरण—

कुफर रात क्या होर इसनाम दीव। हर एक दीव में इश्क का राज है।
उनींदी मुज नैन मुज याद लेती। कहो तुम नयन में है कहाँ की खुमारी॥
कँपूरन है मुज जाव सो सब जगत। नहीं खाली है नूर के कोई शै॥
तुम्हारा भया दाना मुंज चूक ऊपर। कि मैं बाली हूँ और नादाँ बिचारी॥

मुहम्मद क़ुली क़ुतुबशाह का भ्रातुष्पुत्र, दामाद और उत्तराधिकारी मुहम्मद क़ुतुबशाह बीस वर्ष की अवस्था में सन् १६११ ई० में गोलकुंडा

मुहम्मद कुतुबशाह (सन् १६११-१६२५ ई०)

की गद्दी पर बैठा। यह धर्मप्रिय और साहित्य का प्रेमी था। इसने बहुत सी इमारतें भी बनवाईं। फारसी तथा दखिनी भाषाओं में एक एक दीवान लिखे हैं और गद्य भी लिखा है। इसका उपनाम 'जिल्लेअलाह' (ईश्वर की छाया) था। इसके शेरों में भी इसके चाचा के गुण वर्तमान हैं।

अब्दुल्ला कुतुबशाह (सन् १६२६-१६७२ ई०)

अब्दुल्ला कुतुबशाह अपने पिता की मृत्यु पर बारह वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठा। इसने छिआलीस वर्ष नाम मात्र को राज्य किया। इसकी माता हयातबख्श बेगम ने चालीस वर्ष और इसके सबसे बड़े दामाद सैयद अहमद ने छः वर्ष तक राजकार्य का सचालन किया था। सन् १६५६ ई० मे औरंगजेब की चढ़ाई पर इसने संधि कर ली और अपनी द्वितीय पुत्री का विवाह औरंगजेब के पुत्र मुहम्मद सुलतान से कर दिया। यह कला तथा साहित्य का बड़ा प्रेमी था और इमारतें भी बहुत बनवाई थीं। दूर दूर से विद्वान आकर इसके राज्य में बसे थे। यह स्वयं भी फारसी तथा दखिनी का कवि था और उपनाम 'अब्दुल्ला' रखा था। इसकी कविता में प्रसाद गुण विशेष है आसफी मलकापुरी के संग्रह 'तजकिरः शोअराए दक्किन' में इसके शैर मिलते हैं।

अब्दुल्ला कुतुबशाह के समय के अन्य कवि

इसी समय सन् १६६५ ई० मे इब्न निशाती ने 'फूलबन' नामक मसनवी दखिनी उर्दू में लिखी, जो फारसी के 'बसातीन' नामक पुस्तक के आधार पर लिखी गई है। इसमें एक प्रेम कहानी वर्णित है और नायिका के नाम पर मसनवी का नामकरण हुआ है। दूसरा कवि 'ग़वासी' है, जिसने दो मसनवियाँ 'तूतीनामः' और 'किस्सै सैफुल् मुल्क' लिखा है। पहला ग्रंथ जिआ नख्शवी रचित फारसी पुस्तक के आधार पर सन् १६३९ ई० में लिखा गया था। मीर हसन लिखते

हैं कि 'यिफ्ट कहानी की तरह आधा फारसी आधा हिंदी में लिखा है।' परन्तु यह फारसी ग्रंथ था संस्कृत के शुक सप्तति के आधार पर बना है, जिसका शुकबहत्तरी के नाम से हिंदी में अनुवाद हो चुका है। सन् १८०१ ई० में फोर्ट विलिअम कालेज में लिखी गई हैदरबख्श प्रणीत 'तोता कहानी' का आधार यही 'तूतीनामः' है। दूसरे में मिस्र के राजकुमार सैफुल्मुल्क और चीन की राजकुमारी बदीउल् जमाल की प्रेम गाथा कहा गई है। यह अलिफ लैला की एक कहानी 'गुलबकावली और बदरुन्निसा' के आधार पर लिखा गई है। इन दोनों ही में इस कवि का उपनाम बराबर आया है। इसी समय के एक विद्वान मौलाना वजही ने सन् १६०९ ई० 'कुतुब मुश्तरी' ममनवी लिखी, जिसमें बंगाल की शाहजादी मुश्तरी तथा मुहम्मद कुली कुतुबशाह का प्रेम वर्णित है। कहा जाता है कि मुश्तरी की ओट में तिलंगाने की नर्तकी भागमती के प्रेम ही का वर्णन किया गया है। इसकी अन्य रचनाओं में कुछ गजलें तथा मर्सिए प्राप्त हैं। इन्होंने सन् १६२५ ई० के आसपास 'सबरस' नामक गद्य ग्रंथ लिखा था जिसमें एक प्रेम कहानी का वर्णन है। इसका गद्य तुकबंदी पूर्ण है और भाषा दखिनी उर्दू है। यह प्रकाशित हो चुकी है। गव्वासी ने इसी समय 'किस्से कामरूप और कला' नाम की एक मसनवी लिखी, जिसमें अवध के राजकुमार कामरूप और सिंहल की राजकुमारी कला का प्रेम वर्णित है। उत्तरी भारत में मुसल्मानों द्वारा हिंदी में लिखी गई पद्मावती, मृगावती, चित्रावली आदि प्रेम-आख्यायिकाओं के समान ही ये मसनवियाँ भी हैं, जिनमें भी हिंदू नायक-नायिकाओं के प्रेम का वर्णन है। केवल फारसी छंद होने से ये उर्दू कहलाईं। गार्सिन द तासी ने सन् १८३६ ई० में यह मसनवी छपवाई थी। इनके सिवा मुल्ला कुतबी ने शेख यूसुफ देहलवी के तोहफतुल्-नसायह का अनुवाद फारसी से किया। यह पद्यानुवाद सन् १०४६ हि० में हुआ, जिसमें ७८६ पद हैं। जुनेदी की मसनवी माह पैकर भी इसी काल की है, जिसका रचनाकाल सन् १०६४ हि० है।

गोलकुंडा का अंतिम राजा अबुलूहसन सन् १६७२ ई० में गद्दी पर बैठाया गया। यह स्वयं कवि तथा कवियों का आश्रय-दाता था। इसका उपनाम ताना शाह था पर इसका एकही शेर 'लुत्फ़' के तज़किरा 'गुलशने हिंद' में मिलता है। सन् १६८७ ई० में औरंगजेब ने यह राज्य मुगल साम्राज्य में मिला लिया। इसके दरबार में 'तबई' नाम के एक कवि ने एक मसनवी 'क़िस्सै बहराम व गुलबदन या गुलअंदाम' लिखा, जिसमें भी प्रेम-कहानी कही गई है। यह निजामी के हफ्त पैकट के आधार पर है। यह सन् १६७०—७१ ई० में लिखी गई और शाह अबुल् हसन को समर्पित है। इसी काल में गुलामअली ने पद्मावत का दकिनी भाषा में अनुवाद किया था।

अबुलूहसन कुतुबशाह (सन् १६७२—१६८७ ई०)

बीजापूर का राज्य-दर्बार भी इसी प्रकार साहित्य-कला को आश्रय देने में गोलकुडा के राजदर्बार से किसी प्रकार कम नहीं था। बीजापुर के छठे सुल्तान अबुल् मुजफ्फर इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय ने अच्छी इमारतें बनवाईं और विद्वानों को आश्रय दिया। फारसी का सुप्रसिद्ध कवि मुल्ला जहूरी सन् १५८० ई० में बीजापुर आया। इसकी सन् १६१६ ई० में मृत्यु हुई। 'खवाने खलील' और 'गुलजारे इब्राहीम' नामक दो ग्रंथ इसने इस राजा को समर्पित किए। इब्राहीम आदिलशाह ने स्वय हिंदी में गान विद्या पर कविता में एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम 'नौरस' है। मुल्ला जहूरी ने फारसी गद्य में इस पुस्तक के तीन दीबायचे (भूमिका) लिखे, जो 'सेह नस्रे जहूरी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके दरबार मे मीर सजर और मलिक क़ुम्मी (मलिकुल्कलाम) नामक फारसी के दो अन्य कवि थे।

इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय (१५८०-१६२६ ई०)

इब्राहीम आदिल शाह द्वितीय का पुत्र मुहम्मद आदिल शाह भी कवियों का आश्रयदाता था। इस काल में गोलकुंडा की शाहजादी

मुहम्मद आदिल शाह (सन् १६२६–१६५६ ई०)

खुदैजा सुल्तान शहरबानू बेगम के आदेश से, जिनका निकाह बीजापुर राजवंश में हुआ था, मलिक खुशनूद ने अमीर खुसरू की दो मसनवियों यूसुफ़ ज़ुलेखा तथा हश्तबिहिश्त का दक्खिनी भाषा में पद्यबद्ध अनुवाद किया था। यह कवि दहेज में गोलकुंडा से आया था। इसी बेगम के लिए कवि रुस्तमी ने खावरनामा नामक एक विशद मसनवी सन् १६४९ ई० में प्रस्तुत की थी।

अली आदिलशाह द्वितीय सन् १६५६–१६७२ ई०)

इब्राहीम आदिलशाह का पौत्र अली आदिलशाह द्वितीय स्वयं कवि और कवियों तथा विद्वानों का आश्रयदाता था। यह 'शाही' उपनाम से कविता करता था और इसका कुल्लियात (कविता वाली यादगार संग्रह) भी मिल गया है। इसी के समय सुप्रसिद्ध वीर महाराष्ट्र साम्राज्य के संस्थापक शिवाजी हुए, जिन्होंने बीजापुर का बड़ा अंश जीतकर अपने अधिकार में कर लिया था। अली आदिल के दरबार में 'नुसरती' उपनाम का एक प्रसिद्ध कवि था, जिसका नाम मुहम्मद नुसरत था। यह ब्राह्मण था पर मुसलमान हो गया था। यह कर्णाटक के राजा का कोई सम्बन्धी था और यहीं से आकर अली आदिल का एक मनसबदार हो गया। सन् १६६५ ई० में 'अलीनामा' नामक एक बड़ी मसनवी दक्खिनी उर्दू में अपने राजा की प्रशंसा में लिखी, जिसमें कुछ कसीदे और मसले भी हैं। इस पर इसे मलिकुश्शुअरा की पदवी मिली। दूसरी मसनवी 'गुलशने इश्क' भी इसी भाषा में सन् १६५७ ई० में लिखी, जिसमें सूरजभानु के पुत्र कुँवर मनोहर और मधुमालती की प्रेम-कहानी है। 'गुलदस्तए इश्क' के नाम से स्वरचित कविताओं का एक संग्रह तैयार किया। इन दोनों को भी इसने अपने आश्रयदाता को समर्पित किया है। 'यह सन् १६८४ ई० में मरा। यह सुन्नी तथा शाह हन्दानेपाक

गेसूदराज के घराने का मुरीद था। इसकी कविता बड़ी मधुर और प्रसादगुणपूर्ण होती थी।

नुसरती का समकालीन एक और कवि 'हाशिमी' भी था, जिसका नाम सैयद मीराँ था और जो शाह हाशिम का मुरीद था। यह जन्मांध था और हिंदी में अच्छी कविता करता था। यह बीजापुर का निवासी था। दक्खिनी उर्दू में 'युसुफ व जुलेखा' नामक मसनवी लिखी जिसमें छ सहस्त्र से अधिक शैर हैं। यह सन् १६८८ ई० में पूरी हुई थी। इस पर भी हिंदी की रंगत खूब है और श्लेष का भी बहुत प्रयोग है। उदाहरण—

हाशिमी

दखिन हौर हिंद के दिलवर हमन से बेहिजाब अच्छे।
कि मुखड़े चाँद से पर जिनके खत के पेचोताब अच्छे॥

दौलत ने सन् १६४० ई० में 'किस्सै शाह बहरामो हुस्नबानू' लिखा जिसमें सुफेद देव के देश में बहराम गोर का वीरता दिखला कर हुस्नबानू परी से विवाह करना वर्णित है। 'फैज' (फायज़) ने चीन के राजकुमार रुजवाँ शाह और रूहअफजा परी की कहानी पर एक मसनवी लिखी, जो सन् १६८३ ई० में समाप्त हुई। इसी समय सादी, फजली, आशिक आदि कवि हुए, जिनके केवल उपनाम ही तजकिरों में प्राप्त हैं। उदाहरण—

समकालीन अन्य कवि

रखा हूँ नीमजाँ जानाँ तसद्दुक तुज पै करने को।
किया सब तन को मैं दरपन अजहु दरसन न पाए हूँ॥ (फजली)
हमना तुमनको दिल दिया तुमने, लिया और दुख दिया।
तुम यह किया हम वह किया ऐसी भली यह रीति है॥
दो नैन के खप्पर करूँ रो रो निजूं दिल भरूँ।
पेशे सगे कोयत धरूँ प्यासा न जावे मीत है॥ (सादी)

दक्खिन की सल्तनतों का अंत होने लगा मुग़ल साम्राज्य के यहाँ पैठ जाने के अनंतर भी कुछ कवि यहाँ हुए जिनमें शाहिद, आज़ाद, अहमद, बहरी आदि प्रमुख हैं। मुहम्मद अली तथ

अन्य कवि गण नाम आजिज ने महपूपुलुक्नाम का अनुवाद किस्स फीरोजशाह के नाम से किया और इसके सिवा किस्सए लालो गौहर तथा किस्सए मलका मिस्र भी लिखा। काज़ी महमूद बहरी ने फारसी तथा दक्खिनी में बहुत कविता की है जिसकी संख्या पचास सहस्र के लगभग थी पर वह सब उपद्रव में नष्ट हो गई। इनकी 'मनलगन' मसनवी दक्खिनी भाषा में है। मुहम्मद अमीन ने यूसुफ़ज़ुलेखा का दक्खिनी में पद्यबद्ध अनुवाद किया। सैयद मुहम्मद फैयाज़ ने 'रतन पदम' नई मसनवी लिखी तथा रौज़तुश्शो हदा और मुनाजात दो अन्य रचनाएँ भी प्रस्तुत कीं। फ़कीरुल्ला 'आज़ाद' हैदराबाद के निवासी थे और बाद में दिल्ली आए। यह बड़े प्रेमी जीव थे। इनका एक शेर मीर हसन ने अपने तज़्किरे में दिया है।

> कोई किसी ही पन में मुझ साथ यर न आया।
> पर जिससे यार मिलता ऐसा हुनर न आया॥

पर मीर साहब ने इस शेर को इस प्रकार दिया है—

> आह वहाँ की सारी आबाद मनवगें पर।
> जिससे कि यार मिलता ऐसा हुनर न आया॥

सुलतान मुहम्मद कुली कुतुब शाह के अनन्तर लगभग एक शताब्दी तक कोई प्रसिद्ध कवि नहीं हुआ है या उसका अभी तक पता नहीं लगा है। पूर्वोक्त अन्य कविगण केवल

वलीउल्ला पद्यप्रशंसक थे और साहित्य का यह रूप, जो दो शताब्दियाँ बीतने पर भी अभी नहीं बदला है, वली और सिराज की कृति है। ये दोनों समसामयिक और एक ही नगर अहमदाबाद गुजरात के रहने वाले थे। यह काव्य उस समय दो

रहा था जब मुगल सम्राट् औरंगजेब दक्षिण में मृत्यु के साथ युद्ध कर रहा था। शम्स वलीउल्ला उपमान वली बहुत दिनों तक उर्दू साहित्य के आदि कवि और प्रथम दीवान के कर्ता के पद पर विभूषित रहे थे परंतु अब वे दोनों उनसे छीन लिए गए। तिसपर भी यही उत्तरी भारत में उर्दू साहित्य के संस्थापक थे और इसी से यह 'बाबाए रेख्ता' कहलाते है। यह उर्दू के चद और चौसर कहे जाते है। उर्दू के प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवियों ने इनको उर्दू का जन्मदाता मान कर प्रशंसा की है। इनके नाम के विषय में कुछ मतभेद है। कुछ लोग महम्मद शम्शुद्दीन 'वली' नाम बतलाते हैं और कुछ लोग मुहम्मद 'वली' उपनाम 'शम्शुद्दीन' कहते हैं। शम्श वलीउल्ला और शाह वलीउल्ला भी नाम कहा जाता है। यह सब भ्रम 'शम्श वलीउल्ला' नाम के एक फकीर के समकालीन तथा उसी नगर का निवासी होने के कारण हुआ है। वली के जन्मस्थान के विषय में भी इसी प्रकार अनेक मत हैं। कुछ लोगों का मत है कि यह अहमदाबाद ही में जन्मे थे पर मीर तक़ी 'मीर' आदि लिखते हैं कि इनका जन्म सन् १६६८ ई० में औरंगाबाद में हुआ था। यह शाह वजीहुद्दीन के वंशधर न होकर औरंगाबाद के मदारिया शेखों के वंश से हैं। दखिनी शब्दों के प्रयोग भी इन्हें औरंगाबादी होना बतलाते हैं। यह लगभग बीस वर्ष की अवस्था में अहमदाबाद के मौलाना वजीहुद्दीन अलवी के प्रसिद्ध मदरसः में शिक्षा प्राप्त करने को गए। कुछ दिनो के अनंतर यह उन्हीं के मुरीद भी हुए। वहाँ से कुछ समय बाद यह स्वदेश लौटे और वहीं ग़ज़ल क़सीदे वगैरह बनाते रहे। इसके अनंतर इन्होंने अपनी इन कृतियो को अहमदाबाद जाकर अपने गुरु तथा मित्रों को दिखलाया, जिन्होंने इनकी बड़ी प्रशंसा की।

सन् १७०० ई० के लगभग यह प्रथम बार दिल्ली गए, जहाँ के प्रसिद्ध सूफी तथा फारसी के कवि शाह सादुल्ला गुलशन ने

रचनाएँ

इन्हें फ़ारसी की चाल पर दीवान लिखने की सम्मति दी। सूफ़ी धर्म की दीक्षा वली ने इन्हीं से ली थी। इस बार वली का कुछ विशेष स्वागत नहीं हुआ, इसलिए यह अहमदाबाद लौट आए और यहीं पर इन्होंने रेख़्ता का दीवान तैयार किया। सन् १७२२ ई० में यह अपने मित्र सैयद अब्दुल मुआली के साथ दिल्ली तथा मरहिंद के फकीरों तथा मक़बरों को देखने निकले। यह वर्ष मुहम्मद शाह 'रँगीले' के जुलूस का तीसरा वर्ष था जिससे इस दीवान की बड़ी प्रसिद्धि हुई और लोग इसके पीछे दीवाने हो गए। अभी तक दिल्ली के जो कवि फ़ारसी ही में कविता करते थे ये भी रेख़्ते में कविता करने लगे। वली यहाँ से अहमदाबाद होते हुए औरंगाबाद गए जहाँ रेख़्ते की बोली में इन्होंने 'देह मजलिस' नामक बड़ी पुस्तक लिखी, जिसे 'फ़ज़ली' ने उर्दू गद्य में अनूदित किया था। यहाँ से वली अहमदाबाद गए, जहाँ सन् १७४४ ई० में मृत्यु होने पर गाड़े गए।

वली ने अपने अनेक मित्रों का नाम कविता में अमर कर दिया है। यह सूफ़ी था और इसमें कट्टरपन की मात्रा कम थी, इससे यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता कि यह सुन्नी था या शीया। इसने भ्रमण बहुत किया था। सूरत, सितारा तथा बंगाल का भी वर्णन इसकी कविता में मिलता है। इसने किसी बादशाह या सर्दार की प्रशंसा नहीं की पर फ़ारसी की प्रथा का अनुकरण करने के कारण आत्म श्लाघा से यह भी नहीं बच सका। इसकी रचनाएँ भाषा तथा काव्य की दृष्टि से बड़ी मनोहर हैं। दक्खिनी भाषा होते हुए भी फ़ारसी शब्दों का मिश्रण इसने विशेष किया है, जो कहा जाता है कि इसके गुरु मीर 'गुलशन' की सम्मति से हुआ था। इतने पर भी आजकल के उर्दूदाँ उस रेख़्ते की बोली की बेमेल भाषा की हँसी उड़ा सकते हैं पर आरंभ में प्रत्येक साहित्य के कवियों की भाषा इसी

वली की रचना शैली

प्रकार खिचड़ी, आडंबरशून्य और सादी मिलेगी। उस समय के कवि अपने विचारों और भावों को सीधी सादी भाषा में प्रकट कर देते थे और पेंचीली कल्पनाओं और अलंकार की भूलभुलैया में नहीं पड़ते थे। वली की भाषा भी इसी प्रकार की है। प्रकृति निरीक्षण भी इसने अच्छा किया था, जिसका आभास इसकी कविता में मिलता है। प्रसाद गुण की भी कमी नहीं है। उदाहरण—

पाया है जग में ऐ वली वह नैलिए मकसूद कों।
जो इश्क के बाजार मे मजनूँ नमन रुसवा हुआ॥
लिया है जब सों मोहन ने तरीका खुद नुमाई का।
चढ़ा है आरसी पर तब से रँग हैरत फजाई का॥
सायः हो मेरा सब्ज बरगे परे तूती।
गर ख्वाब में वह नौ खते शीरीं वचन आवे॥
दिल को गर मर्तबा हो दरपन का। देखना मुफ्त है सरीजन का॥
बागे अरम से बेहतर मोहन तेरी गली है।
साकिन तेरी गली का हर आन में 'वली है॥
और मुझ पास क्या है देने को। देखकर तुझको रो हि देता हूँ॥
क्योंकः सीरी हो हुस्न से तेरे। धूप खाने से पेट भरता है?॥
फकीरों से न हो बेरग लाला फस्ले होली है।
तेरा जामः गुलाबी है तो मेरा खिरका भगवा है॥
न पूछो यह बगूलः है मेरा हम तौल सहरा में।
य कब्रे हजरते मजनूँ है डाँवाडोल सहरा मे॥
बियाबाँ के गुलों से बूए रगे दर्द आती है।
अरी बुलबुल चमन से दिल उठा आ बोल सहरा में॥

इस कवि का उल्लेख सर चार्ल्स लायल ने अपने लेख में किया है पर इसके विषय में कुछ विशेष नहीं लिखा है।

३सिराज आबेहयात में भी प्रो० आजाद ने इसका उल्लेख नहीं किया है। संग्रहों में इसकी कविता अवश्य मिलती है।

'सरापा सखुन' नामक संग्रह में, जो सन् १२७७ हि० में समाप्त हुआ है लिखा है कि 'शाअर फ़ज्ले यमान' मियाँ वली सैयद कमर अली सिराज तखल्लुस शागिर्द' हैदराबाद दफन साहबे दीवान'। इससे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि इनका नाम सैयद कमर अली और उप नाम सिराज था। यह दक्षिण के हैदराबाद के निवासी तथा एक दीवान के प्रस्तुत कर्ता थे और वली के पूर्ववर्ती थे। सरापा सखुन के अंत में कविनामावली में 'सिराज सैयद हम्ज़ा अली' लिखा है। मीरहसन तथा मीर तकी 'मीर' अपनी रचनाओं में इनका नाम नहीं देते और औरंगाबाद का निवासी लिखते हैं। दोनों ही इन्हें सैयद हम्ज़ा अली दकिनी का शिष्य बतलाते हैं और मीर तकी यह भी लिखते हैं कि इसनी यास उक्त सैयद की पांडुलिपि से ज्ञात हुई है। मीरहसन इनका आलमगीर प्रथम के समय में होना लिखते हैं अर्थात् सन् १६५६–१७०७ ई० तक के बीच में इनका होना प्रगट होता है। रामबाबू सक्सेना ने अपने उर्दू साहित्य के इतिहास में उर्दुएकदीम के आधार पर सैयद सिराजुद्दीन 'सिराज' का उल्लेख किया है जिसका जन्म सन् १७१५ ई० में और मृत्यु सन् १७५४ ई० में हुई थी। इसने 'मुंतखिब दीवानहा' एक भारी संग्रह फारसी दीवानों से तैयार किया था और उसकी भूमिका में अपना वृत्तांत भी दिया है। इसके फारसी तथा रेख्ता के दो दीवान तथा बोस्ताने ख्याल एक मसनवी रचनाएँ बतलाई गई हैं। यह सूफी विचारों के तथा वली के परवर्ती कवि थे। इस प्रकार विचार कर लेने पर ज्ञात होता है कि संभव है कि दो कवि सिराज उपनाम के हो गए हों जिनमें एक वली का पूर्ववर्ती तथा दूसरा परवर्ती रहा हो। उदाहरण—

मुद्दत से गुम हुआ दिले बेगाना ए सिराज।
शायद कि जा पड़ा है किसी आशना के साथ॥

(सरापा सखुन, मीर तकी मीर तथा मीर हसन)

पी बिन मुफ्त आँसुओं के शरारों की क्या कमी।
जिस रात नहीं चाँद सितारों की क्या कमी॥
(मीर तकी तथा मीर हसन)

खबरे तहैयुरे इश्क सुन न जुनूँ रहा न परी रही।
न तो तू रहा न तो मैं रहा जो रही सो बेखबरी रही॥
किया खाक आतिशे इश्क ने दिले बेनवाए सिराज कूँ।
न खतर रहा न हजर रहा मगर एक बेखतरी रही॥ (सकसेना)

—❧✻❧—

चौथा परिच्छेद

दिल्ली-साहित्य-केंद्र का आरंभिक काल

मुग़ल साम्राज्य की अवनति का आरंभ प्रायः औरंगजेब की मृत्यु से माना जाता है पर वास्तव में इसका आरंभ उसी समय से हो जाता है जिस समय औरंगजेब ने दक्षिण ओर की यात्रा आरंभ की थी। औरंगजेब के दक्षिण पहुँचने पर और वहीं मुग़ल-साम्राज्य की सारी शक्ति के अपव्यय कर देने पर शक्तिहीन दिल्ली नष्टप्राय हो गई। उसकी मृत्यु पर भ्रातृ युद्धों ने उसे सब तरफ और भी क्षीण कर दिया, जिस समय कि दक्षिण की सौगात वली का दीवान दिल्ली पहुँचा। राजनीति से अनभिज्ञ पर रँगीले सम्राट् तथा उनके दरबारियों ने इस मनोरंजन की सामग्री को हाथों हाथ लिया और तलवार मराठों, रुहेलों तथा विदेशियों को सौंप कर कविता करने के लिए लेखनी लेकर बैठ गए। इस परिच्छेद में वली के इन्हीं समकालीन तथा प्रेम से शराबोर उर्दू की इस शायरी के पथप्रदर्शकों का कुछ हाल है।

दिल्ली-साहित्य-केंद्र

दिल्ली पहुँचने पर 'दखिनी' भाषा की दशा बदलने लगी, जिसका भाषा रूपी शरीर देशी और छंद आदि शृंगार विदेशी थे। उसने अपना विचार और कलेवर भी बदलना आरंभ किया। यह परिवर्तन शीघ्र नहीं हो सका था यद्यपि कुछ कवियों ने इसी काल में इसे बहुत कुछ परिमार्जित करने का प्रयत्न किया। दखिनी मुहावरे, शब्द आदि बराबर मिलते रहे। हिंदी शब्दों तथा मुहावरों का बहिष्कार और उनके स्थान पर फारसी अरबी का प्रयोग क्रमशः पर दृढ़ता से बढ़ता रहा। दक्षिण का प्रभाव घटता गया और उसके स्थान पर फारसी के विद्वान

भाषा-परिवर्तन

शाअरों की विद्वत्ता की धाक उस भाषा पर बैठती गई। फारसी शाअरी के शोख़ लाल रंग में हिंदी श्लेष का दुरंगापन भी क्रम से मिट गया। यद्यपि मजहर, सौदा, मीर आदि इसका बहिष्कार करने में मुख्य थे पर उन्होंने भी इसका प्रयोग किया है। इस बहिष्कार में इन उस्तादों ने उर्दू भाषा को खूब सँवारा, फारसी विचारों, महावरों आदि के भूषणों से इसे अच्छी तरह सजाया और ऐसी शोखी सिखलाई कि वह अपने चुलबुलेपन से अब धीरे धीरे समग्र हिन्दुस्तान के गले का हार होना चाहती है।

सूफ़ीमत का प्रभाव

फारसी कविता पर सूफीयानः रंग अच्छी तरह से चढ़ा हुआ था। सूफी साधुओं का उस समय दौरदौरा था, पीरो-मुर्शिद की चारो ओर धूम थी इसलिए उर्दू ने भी उसी की नकल की पर यह नकल शीघ्र ही अश्लीलतापूर्ण हो गई और शुद्ध प्रेम के बदले अस्वाभाविक प्रेम की जड़ दृढ़ की गई। इस काल के अच्छे अच्छे कवियों की रचना में इस प्रकार की अश्लील तथा अत्यंत निम्न श्रेणी की कविता दिखलाई पड़ती है। मीर, सौदा आदि ने भी ऐसा किया है। इस काल में कवि-निरंकुशता छंद शास्त्र के विषय में विशेष थी। भावों तथा भाषा की सादगी इस काल की एक प्रधान विशेषता है। काफिया पर विशेष जोर नहीं दिया जाता था और रदीफ को तो अनावश्यक समझते थे। भरती के शब्द भी विशेष पाए जाते है जो आजकल के कवियों को कर्ण कटु प्रतीत होंगे।

शेख हुसामुद्दीन 'हुसाम' के पुत्र सिराजुद्दीन अली खाँ 'आर्जू' भारत के फारसी के सुप्रसिद्ध विद्वान् कवि हुए हैं। यह खाने

आर्जू

आर्जू के नाम से भी विख्यात हैं। मीर हसन, लुत्फ, आज़ाद आदि ने इनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। उर्दू के साहित्य में इनका स्थान इनकी कविता पर स्थित नहीं है वरन् इनकी काव्य-मर्मज्ञता तथा उर्दू के प्रसिद्ध कवियों

के उस्ताद होने पर हैं। यह आगरे के रहने वाले थे पर दिल्ली आ गए थे। यह शेख मुहम्मद गौस के वंश में थे। सन् १७३४ ई० में शेख मुहम्मद अली 'हज़ीं' ईरान से भारत आए और सभी कवि उनसे मिलने गए, पर यह नहीं गए। इन्होंने 'हज़ीं' के दीवान में अशुद्धियाँ निकालीं और तम्बीहुल् गाफ़िलीन (असावधानों का दंड) नाम की पुस्तक ही लिख डाली। 'दादे मख़ुन' नामक भी एक पुस्तक इसी प्रकार की लिखी है, जिसमें शैदा, मुनीर आदि शायरों पर कटाक्ष किए हैं। आप इस पुस्तकके अंतमें लिखते हैं कि—

दर कि शागिर्द शवद पीशादे उस्ताद आख़िर।
तू कि शागिर्द न बाशी जे कुजा ई दानाम्त॥

पर 'सरापा मख़ुन' में इनके उस्ताद का नाम अबुस्समद 'मख़ुन' लिखा मिलता है। इनके फारसी के दीवान में खास महत्त्व शेर हैं। इन्होंने सिकन्दरनामा, 'उर्फ़ी' के क़सीदे और साद़ी के गुलिस्ताँ पर टीकाएँ की हैं। फारसी का कोष सिराजुल्लोगात् तथा हिंदुस्तानी का ग़रायबुल्लोगात् और नवादिरुल् अल्फ़ाज़ लिखा है। मजमउल् नफ़ायस या तज़किरए-शुअरा में फारसी तथा उर्दू के कवियों का वर्णन है जिसमें 'मीर' ने सहायता ली है। इन्होंने और भी कई पुस्तकें लिखी हैं। नादिरशाह की चढ़ाई पर ये दिल्ली से लखनऊ चले गए, जहाँ सन् १७५६ ई० में इनकी मृत्यु हुई पर य अपनी इच्छा के अनुसार दिल्ली में गाड़े गए। उदाहरण—

जान मुझ गुफ्त पे इसमाद नहीं। ज़िंदगानी का क्या भरोसा है॥
मैख़ाने आज जाकर तौबा तमाम तोड़े।
ज़ाहिद ने आज अपने दिल के फफोले फोड़े॥
हर सुबह आफ़ताब है तेरी बराबरी को।
क्या दिन लगे हैं देखो ख़ुर्शीद ख़ावरी को॥
ज़ुल्फ़ बुतां में अटक न रहे दिल तो क्या करे।
बेकार है अटक न रहे दिल तो क्या करे॥

दिल्ली के निवासी शाह नज्मुद्दीन प्रसिद्ध नाम शाह मुबारक का उपनाम 'आबरू' था। इनकी जन्म-तिथि का पता नहीं है पर ये ग्वालियर के प्रसिद्ध शेख मुहम्मद गौस के वंश में थे। यह ग्वालियर से दिल्ली आए और यहीं उर्दू का दीवान लिखा, जो अब अप्राप्य है। इनकी एक मसनवी 'मुअर्ज़ाए आराइशे माशूक' है। इनकी एक ऑख जाती रही थी, जिस पर मिर्ज़ा जानजानाँ 'मज़हर' अकसर कटाक्ष किया करते थे। इस पर आपने कहा था—

आबरू

क्या करूँ हक के किए को कोर मेरी चश्म है।
आबरू जग मे रहे तो जान जाना पश्म है॥

शाह कमालुद्दीन के पुत्र पीर मक्खन "पाकबाज़" इनके मित्रों में से थे, जिनका उल्लेख बहुधा शेरोंमें कर देते थे। आबरू उर्दू कवियों के पथ-प्रदर्शकों में से थे और मीर हसन आदि संग्रहकारों ने इनकी प्रशंसा की है। श्लेष और अलकार खूब कहे हैं। यह अपनी कविता बहुधा खाने अर्जू को दिखला लिया करते थे। सन् १७५० ई० में इनकी लगभग पचास वर्ष की अवस्था में मृत्यु हुई। उदाहरण—

आया है सुब्ह नींद से उठ रसमसा हुआ।
जामा गले मे रात का फूलों बसा हुआ॥
गर यह है मुस्किराना तो किस तरह जिएँगे।
तुम को तो यह हँसी है पर है मरन हमारा॥
उठ चेत क्यूँ जुनूँ सेती खातिर निचिंत की।
आई बहार तुझको खबर है बसंत की॥
तुम्हारे लोग - कहते हैं कमर है।
कहाँ है किस तरह की है किधर है?

शेख शरफुद्दीन का उपनाम 'मज़मून' था और यह शेख फरीदुद्दीन शकरगंज के वंश में थे। आगरे के पास जाजमऊ इनका जन्मस्थान

मज़मून

है, जहाँ से आकर दिल्ली में बस गए। यह सिपाही थे पर मुगल-साम्राज्य की अवनति से नौकरी छोड़ कर कविता करने लगे। ज़ीनतुल् मसाजिद नामक मसजिद में बैठते थे, जो अब तक विद्यमान है। यह 'आज़ू' से अवस्था में अधिक थे पर उन्हें कविता सिखलाते थे और वे इन्हें शाहे बेदान कहते थे क्योंकि इनके दाँत रोग के कारण गिर पड़े थे। यह प्रतिष्ठित पुरुष थे और मीर, सौदा, हसन आदि ने इनकी प्रशंसा की है। इन्होंने कविता कम की है पर उस समय के उस्तादों में परिगणित हैं। इनकी कविता भी पुराने ढंग की है, जिसमें श्लेष की अधिकता है। इनकी मृत्यु सन् १७४५ ई० के लगभग हुई थी। उदाहरण

जमा फिरती में आगे ?? था यह मज़मून आता है।
कभी दर्द ने भर आती है कभी जी डूब जाता है॥
नहीं है होठ मेरे पान न गुर्द।
हुआ है मूल मेरा आके सफ़ेद॥
अगर जाऊँ तो 'मज़मूँ' को कहूँ बाँध।
कहूँ क्या जो नहीं लगता मेरे हाथ॥

हातिम

शेख ज़हूरुद्दीन शाह 'हातिम' के पिता का नाम फ़तहुद्दीन था और सन् १६९९ ई० में दिल्ली में इनका जन्म हुआ था। इनकी जन्म तिथि इनके नाम के अंश 'ज़हूर' से निकलती है। यह पहले उम्दतुल् मुल्क अमीर खाँ के मुसाहिब थे, जिनके साथ इन्होंने हर प्रकार का सांसारिक सुख उठाया क्योंकि यह समय मुहम्मद शाह ही का था। इसके अनंतर संसार त्याग कर यह फ़कीर हो गए और कविता करने तथा सिखलाने में समय व्यतीत किया। जब वली के दीवान की दिल्ली में धूम मची तो इन्होंने भी रेख्ते में कविता की और एक दीवान ही लिख डाला। एक दीवान और लिखा जो नए विचारों के अनुसार था। इन्होंने पहले 'रम्ज़' उपनाम रखा था पर फिर 'हातिम' ही

हो गए। हुक्के पर एक मसनवी भी लिखी है। इन्होंने अपने दीवान के आरंभ में पैंतालिस शिष्यों की तालिका दी है, जिसमें रफीउस्सौदा सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। रंगीं, ताबाँ, निसार, फारिग़ आदि भी प्रसिद्ध कवि हैं। भाषा की काँट छाँट और सफाई में इन्होंने उसी समय से हाथ लगा दिया था, जैसा कि स्वयं दूसरे दीवान की भूमिका में इन्होंने लिखा है। यह दूसरा दीवान पहले बड़े दीवान का संक्षिप्त संस्करण मात्र है, जिसमें भाषा की दृष्टि से प्रौढ़ उर्दू की कविता का संग्रह हुआ है। इसीसे इसे इन्होंने स्वयं दीवानजादः (दीवान से उत्पन्न) लिखा है। फारसी में भी एक छोटा सा दीवान लिखा है। फारसी में 'सायब' को और उर्दू में 'वली' को गुरु मानते थे। इनकी मृत्यु सन् १२०७ हि०, सन् १७९२ ई० में और मुसहिफी के अनुसार ११९६ हि०, सन् १७८२ ई० में हुई थी। उदाहरण—

आवे हयात जाके किसूने पिया तो क्या।
मानिंद खिज्र जग में अकेला जिया तो क्या॥
मिसाले बह्र मौजें मारता है।
लिया है जिनने इस जग से किनारा॥
शायद अमल किया है रकीबों की बात पर।
तब तो दिलों का चोर फिरे है छिपा हुआ॥
क्योंके सबसे तुझे छिपा न रखूँ।
जान है, दिल है, दिल का अंतर है॥

मिर्जा जान जानाँ के पिता मिर्जा जान औरंगजेब के दरबार के एक मंसबदार थे, जिनका वंश अली के पुत्र मुहम्मद इब्न हनीफ़ा से चलता है। यह तैमूरी घराने के नवासे लगते थे।

मज़हर

इनका जन्म सन् १६९८ ई० में (११ रमजान, शुक्रवार को) मालवे के कालामऊ नामक स्थान में हुआ था। कहते हैं कि इनका नामकरण औरंगजेब ने स्वयं किया था। जब यह सोलह वर्ष के थे तभी इनके पिता की मृत्यु हो गई। सूफियों

का समय था, इसलिये ये भी इन्हीं फकीरों में घूमते हुए स्वयं भी एक फकीर हो गए। हिंदू और मुसलमान दोनों ही इनके मुरीद हुए थे। ये हनफी सुन्नी थे और कलाम कुरान ही को मानते थे। ये अत्यन्त गंभीर तथा नक्शबंदी मत के मानने वाले थे। ये सौंदर्य पारखी थे और 'ताबाँ' नामक कवि से बहुत प्रेम रखते थे। एक बार ताजियों के निकलने पर इन्होंने कुछ बुरे शब्द कहे जो कट्टर शीओं को बुरे लगे और उन्हीं में एक फौलाद खाँ ने रात्रि के समय इनके घर आकर धोखे से इन्हें पुकारा और आने पर कराबीन से मार डाला। यह घटना सन् १७८० ई० की है।

उर्दू भाषा का अर्थात् फारसीपन का आधिपत्य, श्लेष की कमी तथा नए विचारों का समावेश इन्होंने आरंभ किया था। मुसहफी, शेफ़्ता आदि ने इनकी प्रशंसा इस विषय में बहुत मसहर की रचना की है। इनका अनुभव बहुत बढ़ा चढ़ा हुआ था,

शैली इससे कल्पना के बदले में गर्मी का आभास विशेष मिलता है। प्रेम विषयक कविता भी बड़ी हृदय-ग्राहक तथा उपदेशमय है। फारसी का एक बड़ा तथा उर्दू का एक अपूर्ण दीवान इन्होंने लिखा था। 'खरीतए जवाहिर' फारसी का एक संग्रह है। मीर बाकर 'हज़ीं', हमायतुल्लाह 'निसार', एहसनुल्ला 'बयाँ' और इनामुल्ला खाँ 'यकीं' इनके प्रसिद्ध शिष्य थे। उदाहरण—

खुदा के वास्ते इसको न टोको।
यही एक शहर में कातिल रहा है॥
तौबः की है हमने जो धूमें मचाती है बहार।
हाय कुछ बसता नहीं क्या मुफ्त जाती है बहार॥
कोई लेवे दिल अपने को ऊपर या दिलबर अपने को।
किसी का यार जब आशिक कहीं हो क्या कयामत है॥
पर्वा मारा गया मूसा के ऊपर मीरजा 'मज़हर'।
भला था या बुरा था जार कुछ था काम खूब आया॥

सैयद मुहम्मद शाकिर का उपनाम 'नाजी' था। यह सिपाही और अमीर खाँ नवाब के दारोग़ा थे। आर्जू, आबरू आदि के समकालीन थे। कविता अच्छी करते थे। यह बड़े झगड़ालू और विनोदप्रिय थे। दूसरों को हँसाते पर आप गंभीर बने रहते थे। इनकी कविताओं का एक दीवान है, जो प्रसिद्ध है। नादिरशाही दृश्य एक बड़े मुखम्मस में दिखलाया है। इनकी कविता अपने समय की दासी थी और उसी रंग में रँगी है। उदाहरण—

नाजी

बलंद आवाज से घड़ियाल कहता है कि ए गाफिल।
कटी यह भी घड़ी तुझ उम्र से और तू नहीं चेता॥
आज तो 'नाजी' सजन से कर तू अपना अर्जे हाल।
मरने जीने का न कर वस्वास होनी हो सो हो॥
छोड़ते कब हैं नक्दे दिल को सनम।
जब यह करते हैं प्यार की बातें॥

मीर अब्दुलहई 'ताबाँ' एक अत्यत सुंदर नवयुवक थे, जिन्हें देखने को शाहआलम भी हाथी पर सवार होकर गए थे। यह अपने सौंदर्य के कारण यूसुफ द्वितीय कहलाते थे। सुलेमान शाह नामक दर्वेश तथा 'मजहर' के यह बड़े मित्र थे। प्रौढ़ावस्था ही में इनकी मृत्यु का मदिरापान से होना मीर हसन आदि लेखकों ने लिखा है पर लुत्फ अपने तज़किरः गुलशने हिंद में लिखता है कि उसने उन्हें सन् १२०१ हि० (सन् १७८७ ई०) मे लखनऊ में वृद्धावस्था मे देखा था, जिस समय भी उनके सौंदर्य में कुछ कमी नहीं आई थी। फैलों भी सन् १७९७ ई० में इनका जीवित रहना लिखता है। यह शाह हातिम और मीर मुहम्मद अली 'हशमत के शिष्य थे तथा मिर्जा मजहर के मुरीद थे। इसने एक दीवान की रचना की, जिसमें प्रेम-वर्णन की अधिकता है और उत्तम है। भावों का स्पष्टीकरण

ताबाँ

की सुन्दरता से किया है। 'सौदा' इनके गुरुभाई ही थे, इससे उन्होंने स्यात् उन्हें भी जैसा लुत्फ लिखता है, अपनी कविता दिखलाई होगी। उदाहरण—

बहुत चाहा कि आवे यार या इस दिल को सब्र आवे।
न यार आया न सब्र आया दिया जी मैं निदान अपना॥
मुझे आता है रोना ऐसी तनहाई पै ए 'ताबाँ'।
न यार अपना न दिल अपना न तन अपना न जान अपना॥
अजब अहवाल है 'ताबाँ' का अरे।
कि रोना रात दिन और कुछ न कहना॥
सुन फस्ले गुल खुशी हो गुलशन में आइयाँ हैं।
क्या बुलबुलों ने देखो धूमें मचाइयाँ हैं॥

गुलाम मुस्तफा खाँ का उपनाम 'यकरंग' था। यह मुहम्मद शाह बादशाह के एक सर्दार थे और खानजहाँ लोदी के वंशधर थे। अवस्था में अधिक होने पर भी मिर्ज़ा जानजानाँ 'मज़हर' को अपनी कविता दिखलाते थे। इन्होंने एक दीवान लिखा है, जिसमें सादगी कूट कूट कर भरी है। प्रेम ही कविता का विषय ही था इसलिए उसका बाहुल्य है। इमामहुसेन पर एक मर्सिया लिखा है, जिसका मीर ने उल्लेख किया है। जन्म मृत्यु का पता नहीं।

यकरंग

सुनता नहीं है बात किसी की तू ऐ सजन।
तुझको तेरा गरूर न जानूँ करेगा क्या॥
सच कहे जो कोई सो मारा जाय।
रास्ती हैगी दार की सूरत॥
दिल मेरा साफ था तुमचा में पड़े हो इस भाँत।
क्या सजन इसका कोई जग में खरीदार नहीं॥
लगे हैं आके कानों में बुतों के।
सखुन 'यकरंग' का गोया गुहर है॥

मिर्जा अली खाँ 'नुक्र' के पुत्र अशरफ अली खाँ दिल्ली सम्राट् अहमद शाह के धाय भाई थे। इसका उपनाम 'फुगाँ' था और पदवी जरीफुल्-मुल्क कोका खाँ बहादुर थी। दिल्ली के अहमद शाह दुर्रानी द्वारा लूटे जाने पर यह मुर्शिदाबाद गए, जहाँ इनके चाचा एरिज खाँ ऊँचे पद पर नियुक्त थे। वहाँ से शुजाउद्दौला के दर्बार में गए पर यहाँ भी न टिक कर पटने चले गए, जहाँ महाराजा शिताबराय के पास कुछ दिन तक प्रतिष्ठापूर्वक रहे। पीछे से उनसे भी कुछ मनोमालिन्य हो गया और वहीं पटने में सन् १७७२ ई० में इनकी मृत्यु हुई। २००० शैरों का एक दीवान लिखा है। फारसी में भी मीर और हसन के अनुसार एक दीवान लिखा है। सौदा और मीर ने इनकी प्रशंसा की है। कजिलबाश खाँ 'उम्मीद' और 'नदीम' के शिष्य थे। हिंदी मुहाविरे का अच्छा प्रयोग किया है, श्लेष काम में नहीं लाते थे तथा अपने भावों को प्रकट करने में भाषा की स्वच्छता और सौंदर्य पर विशेष दृष्टि रखते थे। स्वभाव तीव्र था पर हाजिर जवाब भी थे।

फुगाँ

जुगनूँ मियाँ की दुम जो चमकती है रात को।
सब देख देख उसको बजाते हैं तालियाँ॥
यह था ख्याल ख्वाब में हैगा यह रोजे वस्ल।
आँखें जो खुल गई वही रातें हैं कालियाँ॥
मुझसे जो पूछते हो तो हर हाल शुक्र है।
यों भी गुजर गई मेरी वों भी गुजर गई॥
आखिर 'फुगाँ' वही है उसे क्यों भुला दिया।
वह क्या हुए तपाक वह उलफत किधर गई॥

पाँचवाँ परिच्छेद

दिल्ली-साहित्य-केंद्र का पूर्व मध्य-काल

सं० १८००—१९००

(सन् १७४३—१८४३)

आरम्भिक-काल के कवि उर्दू साहित्य के जन्मदाता और पथ-
दर्शक-मात्र थे। उर्दू साहित्य की उन्नति वस्तुतः इसी मध्य-काल
में हुई और इसी काल में यह अपनी पूर्णावस्था को
इस काल की विशेषता पहुँचा था। यदि यह काल उर्दू-साहित्य-क्षेत्र में न
होता तो एक प्रकार से उसका प्राचीन साहित्य
केवल नाम ही को रह जाता। कहा जा सकता है कि आरम्भिक काल
के कविगण ने उर्दू-साहित्य-वाटिका के एक कोने में बीजों का जखीरा
तैयार कर दिया था, जिसे लेकर इस काल के कवियों ने क्यारियाँ
बना कर उस वाटिका को सजा दिया परन्तु उनके प्रयत्न से फ़ारस
के सरो आदि अनेक प्रकार के वृक्ष ही इस भारतीय उद्यान में
शोभा पाने लगे और उन वृक्षों पर कोयल, पिक आदि के स्थान पर
बुलबुले हज़ारदास्ताँ चहचहाने लगी। इस काल के चार कवि उर्दू
भाषा-भारती के चार स्तंभ माने जाते हैं, जिन्होंने उसके सँवारने
और फ़ारसी को अपना आधार रख कर उसे परिमार्जित करने में
अधिक परिश्रम किया है। इनके नाम रफ़ीउस्सौदा, मीर तक़ी मीर,
मीर हसन और ख्वाजा मीर दर्द थे। इस काल के आरम्भ में भी हिंदी
भाषा के बहुत शब्द—नित, इधर, ऊधर, बिस्तार, लगा, सह आदि
प्रचलित थे परंतु उनका प्रयोग कुछ दिन बाद उठ गया। संपूर्ण
भूतकालिक दोनों क्रियाओं को बहुवचन का रूप दिया जाता था जैसे—
। मारना मारों की-रातें आइयाँ। तारकों ने सुबह-कर दिखलाइयाँ॥

परंतु इसका प्रयोग भी इसी काल में बंद हो गया। हिलना और घिसना आदि क्रियाओं को हलना और घसना के समान कविता में रख देते थे। विशेष्यों के साथ साथ विशेषणों में बहु-वचन के चिह्न लगा देते थे जैसे—

मुलायम हो गईं दिल पर विरह की सायतें कड़ियाँ।
यह अँखिया क्यों मेरे जी के गले की हार हो पड़ियाँ॥

ये सब भी प्रयोग उठ गए। आरंभ में फारसी नियमानुसार शब्दों में बहुवचन के चिह्न लगाते थे, जैसे महबूबाँ, बुलबुलाँ, परंतु अब अधिक तर हिंदी के चिह्न लगाए जाते हैं जैसे महबूबों, बुलबुलों। आबरू आदि कवियों ने कर्म वाचक 'को' को 'कों' लिखा है परंतु सौदा ने एक ग़जल में 'को' ही का प्रयोग किया है। से, तूँ, तूने, उन्ने, किसू आदि शब्दों का रूप बदल कर इस काल के पूर्वार्द्ध ही में से, तू, तूने, उसने, किसे हो गया था। इस काल में लिंग-भेद पर भी विशेष ध्यान नहीं था और एक ही शब्द को किसी ने पुल्लिंग और किसी ने स्त्रीलिग माना है।

यह काल काव्य-कौशल की टकसाल है जिससे निकली हुई रचनाएँ परवर्ती कवियों के लिए आदर्श थीं और जिन्हें सामने रखकर आलोचकगण इनके परवर्ती कवियों की रचनाओं की जाँच पड़ताल करते हैं। मीर हसन की मसनवी, सौदा के कसीदे और हजो, दर्द तथा मीर के ग़ज़ल इत्यादि आज तक उसी प्रकार प्रतिष्ठित हैं। आज भी ये अपने अपने क्षेत्र में गुरुवत् मान्य हैं। इस कालमें फारसी भाषा से इन उस्तादों ने विशेष सहायता ली और नई नई बहरें काम में लाए। वासोख्त, मुसल्लस आदि नई प्रकार की रचनाएँ आरंभ कीं। तज़किरे अर्थात् कवियों की संक्षिप्त जीवनियों सहित उनकी चुनी हुई कविताओं के संग्रह भी इसी काल में पहले पहल तैयार किए गए, यद्यपि वे विशेष कर फारसी भाषा

इस काल की कविता आदर्श मानी गई

ही में थे। इनमें 'मीर' का 'निकातुश्शोअरा' और 'हसन' का 'तज़किरएशोअराए-उर्दू' प्रसिद्ध हैं।

जिस सम्राट् के समय उर्दू-साहित्य का आरंभ दिल्ली में हुआ था उसी के समय में नादिरशाह ने दिल्ली लूटा था। मुगल साम्राज्य नाम मात्र के लिये दिल्ली के चारों ओर रह गया था। कविता का नियम है कि वह राजाश्रय में ही उन्नति करती है और दिल्ली के ऐसे गिरते समय में वहाँ यह कैसे फलती फूलती। उर्दू के प्रसिद्ध कवि आज़ू, सौदा, मीर सफ़ी 'मीर' आदि दिल्ली ही से उठे पर इन्हें भी आश्रय की खोज में अन्य स्थान को जाना पड़ा। इसी प्रकार अनेक कवि दिल्ली में प्रसिद्धि प्राप्त कर लखनऊ चले गए और वहाँ इन्होंने एक नया साहित्य-क्षेत्र स्थापित किया। ख्वाजा मीर दर्द ने दिल्ली नहीं छोड़ा और वृद्धावस्था में नक्शबंदी दर्वेश होकर सन् १७८५ में यह यहीं पृथ्वी को सौंप दिया गए। यद्यपि दिल्ली इस प्रकार अपने इन चमकते हुए साहित्य-नक्षत्रों से प्रकाशमान नहीं हो सका परन्तु इन्हें उत्पन्न कर उस उच्च पद तक पहुँचाने का श्रेय उसी का है। यह भी इस काल की एक विशेषता है कि प्रायः सभी प्रसिद्ध कवि दिल्ली में नाम पैदा कर धन के लिये लखनऊ चले गए थे। साथ ही दिल्ली में अंधकार नहीं छा गया था क्योंकि वहाँ स्वयं 'आफ़्ताब' अर्थात् सूर्य मौजूद थे। शाहआलम द्वितीय (स० १८१८-६३) अपना उपनाम आफ़्ताब रख कर कविता करते थे और इनके चार दीवान प्रस्तुत हैं। इन्होंने 'अजूबे अक़्दस' नामक एक उपन्यास भी लिखा है। इनके पुत्र सुलेमान शिकोह पहले लखनऊ चले गए थे पर स० १८७२ में दिल्ली लौट आए और यहीं सं० १८५५ में मर गए। इन्होंने भी एक दीवान बनाया था। बहादुरशाह द्वितीय भी ज़फ़र उपनाम से कविता करते थे और प्रसिद्ध कवि ज़ौक़ के शिष्य थे। इन्होंने भी एक बड़ा दीवान बनाया है। बलवे के अनंतर यह रंगून भेज दिए

गए और दिल्ली से बादशाही का नाम भी उठ गया। अंतिम सम्राट् के समय में भी दो बहुत प्रसिद्ध कवि—ज़ौक और ग़ालिब—हुए थे।

दर्द

ख्वाजा मीर नासिर अली 'अंदलीब' के पुत्र ख्वाजा मीर मियाँ साहब का उपनाम 'दर्द' था। इनके पिता फारसी के अच्छे कवि थे, जिनका भारी दीवान 'नालए अंदलीब' (बुलबुल की आह) के नाम से प्रसिद्ध है। यह पिता की ओर से ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबंदी और माता की ओर से हज़रत गौसे आज़म के वंश में थे। इनके दादा बुखारा से भारत में आकर बस गए, जहाँ इनके पिता नासिर अली का जन्म हुआ। इन्हें मंसब मिला था पर कुछ दिन बाद उसे छोड़कर यह शाह मुहम्मद ज़ुबीर के शिष्य हो गए और शाह गुलशन पीर का सत्संग रखने लगे। इनका विवाह नवाब मीर अहमद खाँ के पुत्र सैयद अहमद हस्नी की पुत्री से हुआ था जिसने सन् ११३३ हि० (१७२१ ई०) में मीर दर्द को जन्म दिया। पहले इन्होंने जागीर आदि का प्रबंध तथा युद्ध-विद्या सीखी पर २८ वर्ष की अवस्था में पिता के इच्छानुसार दर्वेश बन बैठे। पिता की मृत्यु पर ३९ वर्ष की अवस्था में यह मुर्शिद बन गए, जिनके सहस्रों मुरीद (शिष्य) थे। यह स्वयं सूफी मत के विद्वान थे, इससे इनका मान बहुत बढ़ गया। कई महीने मुफ्ती दौलत से कविता पढ़ी थी। कवित्व-शक्ति तो थी ही, विद्या-प्राप्ति के साथ वह प्रफुल्लित हो गई पर तसव्वुफ के ज्ञान से उसमें गंभीरता विशेष थी। जब अहमद शाह दुर्रानी तथा मराठों के लूटमार से ऊब कर उर्दू के प्रसिद्ध कविगण लखनऊ की ओर चल दिए तब भी इन्होंने दिल्ली नहीं छोड़ा और अंत तक वहीं रहे। यह चापलूसी से भागते थे और इसी कारण शाहआलम के कहलाने पर भी उनसे मिलना अस्वीकार कर दिया था। पंद्रह वर्ष की अवस्था में 'इसरारुस्सलवात' और तीस वर्ष की अवस्था में 'वारदाते दर्द' लिखा, जो गद्य-पद्यमय है और जिस पर 'इल्मुल् किताब' नामक वृहत् टीका लिखी। 'नालए दर्द'

सन् १७७६ ई० में समाप्त हुईं। इन्होंने ये पुस्तकें अपने भाई सैयद मुहम्मद मीर 'असर' के कहने पर लिखी थीं, जिन्होंने स्वयं एक दीवान और एक मसनवी 'ख्वाबो ख्याल' लिखा है। वृद्धावस्था में 'शमए-महफिल' और 'सहीफएवारदात' साथ साथ लिखा गया था। 'हुरमतेगिनाअ' और 'वाक़ेआत दर्द' भी सूफ़ी मत की पुस्तकें हैं। यह सब फ़ारसी के ग्रंथ हैं तथा फ़ारसी का एक छोटा दीवान भी तैयार किया है। उर्दू में केवल एक दीवान लिखा है। यह बहुत बड़ा नहीं है पर इसमें अन्य कवियों की तरह फालतू या भरती के ग़ज़ल कम हैं। इन्होंने छोटे छोटे बहरों में उच्च भावों को अच्छी तथा मज़ेदार भाषा में व्यक्त किया है। अश्लीलता तथा छिछोरापन कहीं नहीं मिलता। दूसरों की हँसी उड़ाना तथा इश्क़ मजाज़ी का घृणित रूप दिखाना यह अनुचित समझते थे।

उर्दू साहित्य के इतिहास में इनका स्थान मीर, सौदा और मज़हर के समकक्ष है। यद्यपि मीर इन्हें आधा कवि मानते थे, पर गुरु के
समान प्रतिष्ठा करते थे। सौदा ने भी इनकी प्रशंसा
इतिहास में इनका की है। इन्होंने सूफ़ी विचार तथा इश्क़ हक़ीक़ी की
स्थान गंभीरता का प्रचार किया है। इनकी कविता से वास्तव
में हृदय में दर्द या असर होता है। मीर हसन ने भी इनकी प्रशंसा की है और उनकी कविता पर भी इनका असर पड़ा है। क़ायम, हिदायत, फ़िराक़ और असर चार मुख्य शिष्य थे। इनके पुत्र ख़्वाजा नासिर का उपनाम आलम था। दर्द की मृत्यु सन् १७८५ ई० में ६८ वर्ष की अवस्था में हुई थी (और एक के अनुसार छाछठ वर्ष)। इनकी मृत्यु के समय के बारे में मतभेद है पर यही ठीक ज्ञात होता है। उदाहरण—

जग में आकर इधर उधर देखा।
तू ही आया नज़र जिधर देखा॥
बेगाना गर नज़र पड़े तो आश्ना को देख।

बंद: गर आए सामने तौ भी खुदा को देख ॥
ख्वाबे अदम से चौंके थे हम तेरे वास्ते।
आखिर को जाग जाग के लाचार सोगए ॥
क्या फर्क दागो गुल में अगर गुल में बू न हो।
किस काम का वह दिल है कि जिस दिल में तू न हो ॥

अपने बंदों पै जो कुछ चाहो सो वेदाद करो।
पर न आजाय कभी जी में कि आजाद करो ॥
न वह नालों की शोरिश है न वह आहों की है धूनी।
हुआ क्या 'दर्द' को प्यारे गली क्यों आज है सूनी ॥

'दर्द' अपने हाल से तुझे आगाह क्या करे।
जो साँस भी न ले सके सो आह क्या करे ॥
शेख काबा होके पहुँचा हम कनिश्ते दिल में हो।
'दर्द' मंजिल एक थी टुक राह का ही फेर था ॥
हम तुझ से किस हवस की फलक जुस्तजू करें।
दिल ही नहीं रहा है जो कुछ आर्जू करें ॥
जिन्दगी है या कोई तूफान है।
हम तो इस जीने के हाथों मर चले ॥
'दर्द' कुछ मालूम है यह लोग सब।
किस तरफ से आए थे कीधर चले ॥

मीर जियाउद्दीन के पुत्र सैयद मुहम्मद मीर का उपनाम 'सोज' था। पहले इन्होंने 'मीर' तखल्लुस किया था पर मीर तक़ी 'मीर' के उसे अपना लेने पर 'सोज' किया। यह शेख कुतुब आलम गुजराती के वंश में थे। इनके पूर्वज बुखारा से आए थे पर ये स्वयं दिल्ली में जन्मे थे। घुड़सवारी, शस्त्र चलाने तथा धनुर्विद्या में पारंगत थे। शरीर से भी इतने बलिष्ठ थे कि हर एक इनकी कमान नहीं चढ़ा सकता था।

सोज

यह मिलनसार, विनोदप्रिय तथा विनीत पुरुष थे। शुजाआ लिखने में यह प्रवीण थे, जिनमें मसनवी और शक्रोआ बहुत अच्छा लिखते थे। यौवन में इनकी चाल चलन अच्छा नहीं थी पर सन् १७८५ ई० में यह दर्वेश हो गए। दिल्ली की गिरी अवस्था देख कर यह पहले फर्रुखाबाद गए, जहाँ नवाब मेहरबान खाँ 'रिंद' इनके शिष्य हुए। यहा से यह लखनऊ गए, जहाँ नवाब आसफुद्दौला ने इनकी बड़ी प्रतिष्ठा की और अपना कविता-गुरु बनाया। यहाँ से भी सन् १७९७ ई० में मुर्शिदाबाद गए पर वर्ष फिर लखनऊ लौट आए, जहाँ सन् १७९८ ई० में इनकी मृत्यु हुई। इनकी अवस्था उस समय लगभग ८० वर्ष की था। इनके एक पुत्र मीर मेहदी 'दाग' भी कवि थे जिनकी यौवन ही में मृत्यु हो गई था। यद्यपि स्वतंत्रता इन्हें प्रिय थी पर अहंकार का नाम भी न था। दुर्भाग्य ने इनका साथ कहीं नहीं छोड़ा पर सब भी प्रतिष्ठा से जीवन व्यतीत किया।

इनका एक दीवान है, जिसमें गजल, मसनवी, रुबाई और मुखम्मस हैं। इनकी कविता में नैसर्गिकता की मात्रा अधिक है। कवित्व शक्ति ईश्वरदत्त थी, जिससे कविता में सम कविता शैली तथा की सूक्ष्म आती है। भाषा साफ मुहावरेदार होने इतिहास में स्थान और वर्णन शैली के अलंकारादि आडंबर से रहित होने से कविता में प्रसाद गुण विशेष है। इसी कारण इनकी कविता लोकप्रिय है। मीर में इन गुणों के साथ ही कवित्व-शक्ति अधिक है। मीर और सौदा ने इनसे अधिक फारसी से सहायता ली है। यौवन के अनुभूत विषय शृंगार पर इनकी कविता बहुत अच्छी हुई है। इनकी आवाज मीठी थी और शेरों को ये बड़े लय तथा भाव बतलाते हुए पढ़ते थे, जिससे सुनने वालों पर अच्छा असर पड़ता था। मीर हसन और लुत्फ ने प्रशंसा की है। इनकी कविता में रेख्ती का आरंभ मिलता है, जिसे रंगीन आदि ने आगे उन्नति की। इनका स्थान उर्दू साहित्य के इतिहास में ऊँचा है। उदाहरण—

अहले ईमाँ 'सोज' को कहते हैं काफिर हो गया।
आह या रब राजे दिल इन पर भी जाहिर हो गया॥
मुझ से मत जी को लगाओ कि नहीं रहने का।
मैं मुसाफिर हूँ कोई दिन को चला जाऊँगा॥
पीरी में ग़ैर गिरिया भला और क्या है 'सोज़'।
दरिया की सैर है तो शवे माहताव में॥
रोना भी थम गया तेरे गुस्से के खौफ से।
थी चश्म डवडवाई पर आँसू न ढल सके॥
नाजुक है दिल न ठेस लगाना उसे कहीं।
गम से भरा है ऐ मेरे ग़मख्वार देखना॥
पाता नहीं सुराग करूँ किस तरफ तलाश।
दीवाना दिल किधर को गया आह क्या हुआ॥

मिर्जा मुहम्मद शफीअ के पुत्र मिर्जा मुहम्मद रफीअ का उपनाम 'सौदा' था। इनके पूर्वज कावुल के मिर्जे युद्ध-व्यवसायी थे। इनके पिता रोजगार की खोज में दिल्ली आए और यहीं रह गए। लगभग सन् १७१३ ई० में सौदा का दिल्ली में जन्म हुआ। इनका उपनाम इनके पिता की सौदागरी तथा प्रेम के एक अंग पागलपन का द्योतक है। इनकी शिक्षा भी दिल्ली ही में हुई। पहले सुलेमान कुली खाँ 'विदाद' के और फिर शाह हातिम के शिष्य हुए। शाह हातिम को अपने इस शिष्य का बड़ा घमंड था और शिष्यों की सूची में पहला नाम इनका दिया है। यद्यपि खाने आर्जू के यह शिष्य नहीं हुए थे पर उनके सत्संग से लाभ उठाया था और उन्हीं के कहने से उर्दू में कविता करने लगे। जब इनकी कविता लोकप्रिय होने लगी तब शाह आलम 'आफ्ताब' (सूर्य) इनसे अपनी कविता शुद्ध कराने लगे पर शीघ्र ही कुछ मन-मुटाव हो जाने से यह घर बैठ रहे और फिर दरबार नहीं गए। बसत खाँ और मेहबान खाँ ख्वाजासरा आदि रईसों की सहायता से

सौदा

ये आराम से रहते थे। इसी समय नवाब शुजाउद्दौला ने इन्हें बुलवा भेजा पर ये नहीं गए और एक रुबाई लिख भेजा था। परंतु कुछ ही दिनों में दिल्ली के दिन और बिगड़े तथा अंत में इन्हें भी दिल्ली छोड़ना पड़ा। लगभग साठ वर्ष की अवस्था में ये दिल्ली से निकले और पहले कुछ दिन फर्रुखाबाद के नवाब अहमद खाँ बंगश के यहाँ रहे पर वहाँ से फिर लखनऊ चले गए। सन् १७७१ ई० में यह लखनऊ पहुँच कर नवाब शुजाउद्दौला के यहाँ नौकर हो गए। नवाब के ताने के तौर पर सौदा के पहली बार न आने का उल्लेख करने से यह क्रुद्ध हो गए और एकांतवास करने लगे। फारसी के एक कवि मिर्जा फाखिर मकीं से झगड़ा होने पर इन्हें जब कुछ शोहदे पकड़ कर अपने गुरु 'मकीं' के यहाँ लिए जा रहे थे तब नवाब सआदत अली खाँ ने, जिनकी सवारी उधर से आ गई थी, इन्हें बचाकर साथ ले लिया और नवाब आसफुद्दौला से जाकर सब वृत्तांत कह सुनाया। नवाब ने इन्हें छ सहस्र वार्षिक तथा मलिकुश्शुअरा की पदवी दी। नवाब इनकी बड़ी प्रतिष्ठा करते थे और इनकी कविता बड़े प्रेम से सुनते थे। इस प्रकार अंतिम दिन यह चैन से व्यतीत कर सन् १७८१ ई० में यह लखनऊ ही में परलोक सिधारे।

रचनाएँ

इन्होंने पद्य और गद्य दोनों लिखा है और बहुत लिखा है। इनकी रचनाओं में फारसी का एक दीवान है, जो छोटा होते हुए भी पूरा है। कुछ कसीदे भी फारसी में कहे हैं। दीवान रेख्ता इनकी कविता का बड़ा खजाना है, जिसमें गजल, रुबाइ, मुस्तजाद, किता, पहेली, वासोख्त, तर्जीहबंद, मुखम्मस आदि सभी कुछ हैं। चौबीस मसनवियाँ लिखी हैं, जिनमें बहुत सी पद्यबद्ध कहानियाँ हैं। ये इनके नाम के योग्य नहीं हैं। इनके उर्दू के कसीदे बड़ी धूमधाम के हैं और यह उर्दू के प्रथम कवि हैं, जिन्होंने कसीदों को लिखा है और ऐसा लिखा है कि फारसी के प्रसिद्ध कवि अनवरी, खाकानी, जहूरी आदि को दबा दिया है।

मरसिए और सलाम भी लिखे हैं। हजोएँ भी इन्होंने ऐसी लिखी हैं कि पढ़कर चित्त प्रसन्न हो जाता है। 'तज़्किरः शोअराए उर्दू' अप्राप्य है, जिसमें उर्दू कवियों का वृत्तांत लिखा है। 'इब्रतुल् ग़ाफिलीन' मिर्ज़ा फाखिर 'मकीं' की आलोचना का ग्रंथ है। मीर तक़ी 'मीर' की मसनवी 'शोलए इश्क़' का गद्य में अनुवाद भी लिखा है।

रेख्ते की बोली में से हिंदी के खटकनेवाले शब्दों को निकाल कर फारसी शब्दों का प्रयोग कर उर्दू भाषा को परिमार्जित करने में सौदा तथा मीर ने बहुत प्रयत्न किए हैं।

भाषा और रचना शैली

फारसी भाषा के महावरों, रूपकादि अलकारों का इन्होंने बहुत प्रयोग किया है। पर साथ ही हिंदी शब्द, विचार तथा कथानक भी एकदम बहिष्कृत नहीं हुए हैं। भुजबल, पर्वत, अर्जुन की बाणविद्या, कृष्ण जी की लीला आदि का उल्लेख मिलता है। महंत, लडंत, दंत से काफिए भिड़ाए हैं। श्लेष भी काम में आ ही जाता था यद्यपि बाद के कवियों ने उसे त्याग दिया। कुछ महावरे तो स्वयं इन्हीं की टकसाल के थे, जिनमें कुछ चल निकले और कुछ रह गए। यह समय ही का प्रभाव था, जिससे फारसी तथा हिंदी शब्दों का मेल बैठाना पड़ता था और इसे इन्होंने एक खूबी के साथ किया है। उर्दू के कविता-क्षेत्र मे क़सीदे इन्ही ने आरंभ किए और ऐसे लिखे कि इन्हें साहित्य मर्मज्ञ क़सीदे का बादशाह कहने लगे। हजो अर्थात् निदात्मक कविता भी इन्होंने खूब लिखी। जिसके पीछे पड़ गए उसकी जान दूभर कर दी। कसीदे में तो यह फारसी के अनवरी और खाकानी से ओज में और उर्फी तथा ज़हूरी से भावसौंदर्य में बढ़ गए। मर्सिया भी इन्होंने लिखा था पर वह निरा मर्सिया ही था। पहले हजो एक दो शैर में लोग कह देते थे पर इन्होंने नियमपूर्वक हजो लिखना शुरू किया। किसी से अप्रसन्न हुए कि कविता में उसकी खबर ली। हजो में तीव्रता तथा निर्लज्जता की पराकाष्ठा कर देते थे। हजो लिखने में ये किसी को नहीं छोड़ते

थे। मीर ज़ाहिक (मीर हसन के पिता), फ़िदवी, मको, यक़ा आदि पर इनकी हजोएँ बड़ी ही कड़वी हैं। यद्यपि उन लोगों ने भी इन्हें नहीं छोड़ा था पर वे इन-सा निष्ठुर हृदय और इन-सी कवित्वशक्ति कहाँ पाते। उस समय के साम्राज्य की अवस्था पर भी कड़े आक्षेप किए हैं। स्वतन्त्रता-प्रिय इतने थे कि अपने आश्रयदाता नवाब आसफ़ुद्दौला पर भी कटाक्ष कर दिया है। इनकी हजा हृदय पर चोट पहुँचाती थी, इससे कभी कभी इन्हें लिखकर यह अपनी कवित्व-शक्ति का दुरुपयोग ही करते थे। इनकी कविता में अरबी के शब्द नहीं होते थे और शब्द ऐसे चुनकर रखे जाते थे कि उन्हें हटाना-बढ़ाना कविता का नष्ट करना है। इन्होंने नई बहरों में शेर लिखे तथा रदीफ़ का भी प्रयोग किया।

सौदा एक उच्चकोटि के कवि थे और यही कारण है कि इनका प्रभाव इनके परवर्ती कवियों पर बहुत पड़ा है। मीर पर भी इनका प्रभाव पड़ा है और मीर तथा मिर्ज़ा की कविता रीति तथा गुण के लिए आदर्श मानी जाती है। ग़ालिब और ज़ौक ने इनकी प्रशंसा की है। मीर से कर्मठ समालोचक भी इन्हें पूरा कवि मानते थे और मलिकुश्शोअरा के पद के योग्य समझते थे। भाषा इनकी अनुवर्तिनी थी और कवित्व शक्ति ईश्वरप्रदत्त थी, जिससे इनकी कविता में भावों के अनुरूप ही भाषा आई है और शैथिल्य दोष नहीं आने पाया है। इनके भावों की उड़ान भी ऊँची है तथा प्रसाद गुण की कमी नहीं है। अनेक कसीदे, दिवान आदि के भी ज्ञाता थे। मीरहसन, लुत्फ़, ख़लील आदि सभी समालोचकों ने इनकी प्रशंसा करते हुए इन्हें उर्दू के प्रथम कोटि के कवियों में माना है। उदाहरण—

इतिहास में सौदा का स्थान

यक मुर्ग़ में जिस दम वह रश्क मर गया था।

वापस में हर परीरू मुँह देख रह गया था॥

काबू में हूँ मय तेरे गो अब जिया तो फिर क्या।

खंजर तले किसी ने टुक दम लिया तो फिर क्या ॥
'सौदा' हुए जब आशिक़ क्या पाय आबरू का।
सुनता है ऐ दिवाने जब दिल दिया तो फिर क्या ॥
मौजे नसीम गर्द से आलूदः है निपट।
दिल खाक हो गया है किसी बेकरार का ॥
माँगा जो मैंने दिल को तो कहा बस यही एक दिल।
ऐसे तो मेरे कूचे मे कितने हैं उठा ला ॥
प्यारे न बुरा मानो तो एक बात कहूँ मैं।
किस लुत्फ़ की उम्मीद पै यह जौर सहूँ मैं ॥
गर छिपके कहीं तुजको जरा देख रहूँ मैं।
हर एक मुझे आके सुनाता है कहूँ मैं ॥
गर हो शराबो खिलवतो माशूक़ खूबरू।
जाहिद तुझे कसम है जो तू हो तो क्या करे ॥
कहते हैं जिसे इश्क वह क्या चीज है 'सौदा'।
जो जाते खुदा जिसको हसब है न नसब है ॥
इस दिल को देके लूँ दो जहाँ यह कभू न हो।
'सौदा' तो होवे तब न कि जब उसमें तू न हो ॥
मेरी आँखों में तू रहता है मुझको क्यों रुलाता है।
समझकर देख लो अपना भी कोई घर डुबाता है ॥
अयाँ है शौक़ मिलने का मेरे नामे के कागज से।
कि जब खोले है तू उसको तो वह लिपटा ही जाता है ॥
अबके भी दिन बहार के योंही चले गए।
फिर फिर गुल आ चुके प सजन तुम भले गए ॥
तेरा जिउ मुझसे नहिं मिलता मेरा दिल रह नहीं सकता।
ग़रज ऐसी मुसीबत है कि मैं कुछ कह नहीं सकता ॥
'सौदा' जहाँ में आके कोई कुछ न ले गया।
जाता हूँ एक मैं दिले पुर आर्जू लिए ॥

मीर गुलामहसन 'हसन' के पिता का नाम मीर गुलामहुसेन 'जाहिक' था, जिनके दादा मीर इमामी हिरात से आकर यहाँ बस गए थे। सौदा ने जाहिक पर भी हजो कही थी। यह रेख्ता

मीर हसन तथा फारसी दोनों में कविता करते थे। इनका दीवान अप्राप्य है। यह बड़े विनोदप्रिय और प्रसन्नचित्त पुरुष थे और अंतिम अवस्था में फैजाबाद में रहते थे। मीर हसन का जन्म दिल्ली ही में हुआ था और आरंभ में अपने पिता ही से शिक्षा प्राप्त की थी। ख्वाजा दर्द से उनके बाद इसलाह लेने लगे। मिर्जा रफीअ सौदा को भी ग़ज़ल दिखाते थे। अवध पहुँचने पर मीर जियाउद्दीन 'जिया' के शिष्य हुए। मीर हसन स्वयं इन्हें ही अपना गुरु स्वीकार करते हैं और लिखते हैं कि इनकी शैली का निर्वाह न कर सकने पर मीर, दर्द और सौदा की शैली ग्रहण की। यात्रा में कुछ महीने डाग में भी ठहरे थे और वहाँ से शाहमदार की छड़ियों के साथ सफदरपुर गए। फैजाबाद में पहले नवाब सालारजंग के पुत्र मिर्जा नवाजिश अली खाँ सर्फराजजंग के यहाँ नौकर होकर कुछ दिन वहीं रहे। नवाब आसफुद्दौला की सन् १७७६ ई० में राजगद्दी होनेपर लखनऊ राजधानी बनाई गई तब ये भी लखनऊ आए। यहाँ (१ मुहर्रम १२०१ हि०) सन् १७८१ ई० में पचास वर्ष से अधिक अवस्था पाकर कालकवलित हुए। मुसहफ़ी ने तारीख कही थी—शायरे शीरीं बयाँ (१२०१ हि०)। लुत्फ़ ने १२०५ हि० लिखा है पर प्रथम विश्वसनीय है। इन्हें चार पुत्र थे, जिनमें सबसे बड़े मीर मुस्तहसिन 'खलीक़' मुसहफ़ी के शिष्य थे। इन्होंने एक दीवान लिखा है। यह प्रसिद्ध मर्सिया कहने वाले थे। इनके दो अन्य पुत्र मीर 'खुल्क़' तथा मुहसिन भी कवि थे। इनके तीन पोते 'अनीस', 'उन्स' तथा 'मूनिस' भी प्रसिद्ध कवि हुए। मीर हसन उर्दू और फ़ारसी के अच्छे विद्वान थे। तज़किरा में फ़ारसी की अच्छी इन्शापर्दाज़ी दिखलाई है। यह प्रसन्नचित्त और विनोदप्रिय थे पर अश्लीलता से दूर रहते थे। ये

मिष्टभाषी और मिलनसार थे, इसीसे इनके समकालीन लेखकों ने इनकी प्रशंसा की है। विद्वत्ता और कविता इन्हें रिक्थक्रम में मिली थी और इन्होंने उसे अपने वंशधरों के लिये संचित कर छोड़ा था। इनके प्रपौत्र मीर 'नफीस' ने कहा ही है—

'शमशेरे फसाहत प ह यह सातवाँ सैकल।

इनकी कृतियों में पहला तो दीवान है, जिसमें ग़जलों के सिवा तरकीबबंद, वासोख्त, मुखम्मस आदि भी हैं। सब लगभग सात हजार शेर के हैं, पर मीर हसन की प्रसिद्धि इनकी

रचनाएँ

मसनवियों पर स्थित है, जिनमें सिहरुल् बयान प्रधान है। इसमें शाहाजादे वेनज़ीर और शाहजादी बद्रेमुनीर की प्रेम-कथा है। यह सन् (११५९ हि०) १६८५ ई० में समाप्त हुई, जिसकी तारीख मिर्जा क़तील तथा मुसहफी ने कही है। उर्दू साहित्य में इस जोड़ की केवल एक ही और मसनवी गुलजारे नसीम है। नस्रे वेनज़ीर के नाम से इसका गद्य रूपान्तर भी हो चुका है। दूसरी मसनवी गुलजारे अरम है जो सन् १७७८ ई० (११९१ हि०) में लिखी गई थी। इसमें मकनपूर के शाहमदार की छड़ी के मेले का, स्त्रियों के वस्त्राभूषण का और लखनऊ की निंदा तथा फैजाबाद की प्रशंसा का वर्णन दिया है। तीसरी मसनवी 'रमूज़ुल् आरिफ़ों' है, जिसका अर्थ ज्ञानियों का खिलवाड़ है। तीन अन्य मसनवियाँ और कुछ क़सीदे भी लिखे हैं। इन्होंने मर्सिए, सलाम और सोज़ आदि भी लिखे हैं। इनका तज़्किरः फारसी में है, जिसमें लगभग तीन सौ कवियों के सक्षिप्त परिचय मात्र दिए गए हैं। इन्होंने इनके तीन विभाग किए हैं—पहला फर्रुखसियर तक, दूसरा मुहम्मदशाह तक और तीसरा अपने समय तक। सिहरुल् बयान के कारण इनका स्थान इतिहास में दृढ़ हो गया है, जिसकी स्वाभाविक सीधी सादी वर्णन-शैली सबको प्रसन्न कर देती है। प्रेम ही इनकी कविता का प्रधान विषय है और इस पर भावमयी स्वच्छ भाषा भी अनूठी है। उदाहरण—

किसी शहर में था कोई बादशाह। कि था वह शहंशाह गेतीपनाह॥
कोई देखता आके गर उसकी फ़ौज। तो कहता कि है बहरे हस्ती की मौज॥
रअय्यत थी आबाद और बेख़तर। न ग़म मुफ़लिसी का, न चोरी का डर॥
किसी तर्ह से वह न रखता था ग़म। मगर एक औलाद का था अलम॥
(सिहरुल्बयाँ)

रखते हैं न ख़ुद नाम ही अपना न निशाँ हम।
क्या नामो निशाँ पूछो हो बेनामो निशाँ का॥
ऐसी ही याद आवें उस बेबरा न ऐसी।
रोते ही रोते जिसमें रोज़े वसाल गुज़रा॥
गुल अश्फ़े बुलबुल अब नहीं गुम शाख़सार पर।
क्या जोश पड़ गए हैं चमन में बहार पर॥
'हसन'मत याद कर उन सुहबतों को। सदा एकसाँ नहीं रहती किसीकी॥

मुहम्मद तक़ी 'मीर' के पिता का नाम अब्दुल्ला था, जो आगरे के एक मंसबदार थे। पिता की मृत्यु पर मीर आगरे से छोटी ही अवस्था में दिल्ली आए और अपने मामा सिराजुद्दीन 'ख़ाने आर्ज़ु' के यहाँ पाले गए और शिक्षा प्राप्त की। शीघ्र ही इनकी प्रसिद्धि फैलने लगी और मामा से कुछ मतभेद हो जाने से यह अलग हो गए। यह इतने प्रसिद्ध हो गए कि इनकी ग़ज़लें दूर दूर तक लोग भेंट की तौर पर ले जाया करते थे। शाहआलम दिल्ली के सम्राट् बने हुए थे, पर काप खाली पड़ा था। बाहरी चढ़ाइयाँ हो रही थीं। कविता और दरिद्रता का बहिनापा प्रसिद्ध भी है और मीर भी उससे बरी नहीं थे। सर्दारों, ख़ोजों आदि की चापलूसी इनसे अहम्मन्य कवि के लिए समय नहीं था, इस लिये अंत में यह लखनऊ चले। उस समय वहाँ नवाब आसफ़ुद्दौला के दान की धूम थी। आज़ाद लिखते हैं कि यह सन् १७७६ ई० लखनऊ गए पर लुत्फ़ ने १७८२ ई० लिखा है। हसन ने भी तज़्किर: में लिखा है कि यह सन् १७८० में दिल्ली ही में थे।

मीर तक़ी 'मीर'

दूसरा ही ठीक मालूम होता है क्योंकि सन् १७७५ ई० में नवाब आसफुद्दौला गद्दी पर बैठे थे और उसी वर्ष उन्होंने लखनऊ को राजधानी बनाना निश्चित किया था। आसफुद्दौला के दान की प्रसिद्धि फैलने तथा लखनऊ बनने में कुछ वर्ष अवश्य लगे होंगे। जिस गाड़ी से यह जा रहे थे उसी गाड़ी में एक और भी यात्री था। जब उसने समय काटने के लिये इनसे बातचीत करना चाहा तो ये मौन रहे कि इनकी भाषा बिगड़ जायगी। जिस दिन ये लखनऊ पहूँचे उसी दिन एक मुशाअरा (कवि सभा) था। आप भी तुरंत पुरानी चाल की दिल्लीवाली पोशाक से दुरुस्त हो ग़ज़ल तैयार कर वहाँ पहुँचे। नई रोशनी के लोग इन्हें देखकर कुछ मुस्किराए और परिचय जानने का भी प्रयत्न किया। तब इन्होंने कुछ शैर अपने परिचय के बनाकर उसी ग़जल में मिला दिया तथा उसे ऐसे करुणापूर्ण स्वर से पढ़ा कि सभी लोग उनसे क्षमा माँगने लगे। आसफुद्दौला ने इनका आना सुनकर इनका वेतन नियुक्त कर दिया, जो इनको अंत समय तक मिलता रहा। फोर्ट विलिअम कॉलेज में मौलवी के पद पर नियुक्ति के लिये इनका भी नाम चुना गया था पर अधिक वृद्ध होने से ये नियुक्त नहीं हुए। नवाब आसफुद्दौला से, तुनुक मिज़ाजी के कारण, जरा सी बात पर बिगड़ कर घर बैठ रहे पर वेतन उसी प्रकार मिला करता था। इनकी मृत्यु सन् १८१० ई० में हुई और उस समय इनकी अवस्था लगभग सौ वर्ष के थी। मीर के विषय में विशेष कुछ नहीं ज्ञात होता। अपने तजकिरः में स्वयं इन्होंने कुछ नहीं लिखा है। 'ज़िक्रे मीर' नाम की एक पुस्तक का उल्लेख स्प्रेंजेन ने किया है और वह अब प्राप्य है। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं। इसमें मीर ने अपने जीवन के संबन्ध में बहुत कुछ लिखा है जिसका संक्षिप्त विवरण सन् १९२६ ई० की उर्दू पत्रिका में छपा भी है। 'मीर' वास्तव में सैयद थे या केवल उपनाम ही मीर था इस पर गुलाम हुसेन 'शोरिश' ने अपने तज़्किरः में शंका उठाई है, जो सन् १७७९ ई० में

लिखी गई थी। यह वास्तव में सैयद थे जैसा इन्होंने स्वयं लिखा है और अन्य तज़किरों में इनके, इनके पिता तथा इनके पुत्र के नाम के साथ मीर लगा मिलता है।

मीर की प्रकृति में आत्मश्लाघा की मात्रा अधिक थी। अजदर या अज़गरनामा की रचना तथा सौदा और अपने को पूरा, दर्द को आधा और सोज़ को चौथाई कवि मानना यह स्पष्ट

मीर की प्रकृति

बतला रहा है। आज़ाद ने इसे सुनी सुनाई बातों से बहुत रंगीन करके लिखा है। निकातुश्शोअरा को लेकर जो कुछ लिखा है वह गप्पमात्र है क्योंकि उस ग्रंथ के मिल जाने से उन बातों का समर्थन नहीं हो सका। इन्होंने अनेक कवियों की प्रशंसा की है और कहीं कहीं कड़ी आलोचना भी की है। 'मीर' 'सोज़' से अवस्था में अधिक थे इसलिए यह कथन कि सोज़ के प्रथम उपनाम को इन्होंने चुरा लिया, अशुद्ध है। सोज़ ने स्वयं ही मीर की प्रसिद्धि देखकर बदला होगा।

मीर ने अवस्था खूब पाई थी और इनका कविता-काल लगभग पचहत्तर वर्ष का था। इन्होंने लिखा भी बहुत है। रेख़्ता के छ दीवान लिखे हैं जिनमें केवल ग़ज़ल ही नहीं हैं वरन् रुबाइ,

रचनाएँ

मुस्तज़ाद, मुखम्मस मुसद्दस, वासोख़्त आदि अनेक प्रकार की कविताएँ हैं। इन दीवानों में हज़ारों ग़ज़लें हैं। मीर ने बहुत सी मसनवियाँ और क़सीदे भी लिखे हैं। इनके क़सीदे 'सौदा' के जोड़ के नहीं हैं। इनकी प्रतिभा इस ओर विशेष नहीं झुकी क्योंकि इनका स्वभाव ही अमीरों की चापलूसी से दूर था और अहंकार की मात्रा इनमें भरपूर थी। मसनवियाँ भी लिखा हैं, जिनमें निंदा, प्रेम तथा प्रशंसा वर्णित हैं। अज़गरनामा में स्वयं अजगर बने हैं और अन्य कवियों को छोटे छोटे जानवर बनाया है, जो अज़गर के एक ही फुफकार में नष्ट हो गए। शोलए इश्क़, जोशे इश्क़, दरियाए इश्क़, एजाज़े इश्क़, ख़्वाबो ख़्याल और मामलाते इश्क़ में

प्रेम कहानियाँ हैं। मसनवी तंबीहुल्ख्याल में कविता का महत्व दिखलाया है। नवाब आसफुद्दौला के शिकार का शिकारनामा नामक तीन मसनवियों में वर्णन किया है। बिल्ली, बकरी, कुत्ते आदि पर मसनवियाँ लिखी हैं। फारसी का एक दीवान 'मुसहिफो' के अनुसार एक वर्ष में तैयार किया था। निकातुश्शोअरा नामक तजकिरा सन १७५२ ई० के लगभग लिखा गया था। इसमें कवियों की कविता भी उद्धृत की गई है।

भाषा और शैली

मीर भी समकालीन कवियों की तरह फारसी भाषा के शब्द तथा महावरे लेते रहे पर या तो वे उसे उसी तरह ले लेते थे या उसको उर्दू बना लेते थे। कुछ चल निकले और कुछ इन्हीं के साथ रह गए। निकातुश्शोअरा की भूमिका में रेख्ते के बारे में अपनी सम्मति दी है। यद्यपि मसनवियाँ इन्होंने उच्च कोटि की लिखी हैं पर ग़जल ही में इनकी प्रतिभा पूर्ण रूप से जागृत हुई है। ओज और प्रसाद गुण के साथ ही करुण रस का उत्तम परिपाक हुआ है। कुछ शेर तो इतने अच्छे बने हैं कि सूक्तियों की तरह चल निकले हैं। भाषा की सफाई, महावरों के सुंदर प्रयोग और भरती के शब्दों का न लाना भी दर्शनीय है। शैली अत्यत सादी होते हुए भी आलंकारिक होती थी। छोटी छोटी बहर काम में लाते थे और उनमें काव्यामृत भर देते थे, जिससे इन्हे उर्दू का शेख़सादी कहते हैं।

साहित्य में स्थान

उर्दू साहित्य में मीर और मिर्ज़ा का वही स्थान है, जो हिंदी में सूर और तुलसी का है। ग़ालिब, नासिख, हसन आदि अनेक बड़े कवियों ने मीर की प्रशसा के पुल बाँधे हैं। सभी ने यही प्रयत्न किया है कि वही मीर की सबसे बढ़कर प्रशंसा करे। परवर्ती कवियों के लिए ये ही दोनों कवि आदर्श हैं। करुण रस की कविता में जो हृदयद्रावकता, तीव्रता और तत्काल मर्म-व्यथा की अनुभूति है वह उन्हे उर्दू साहित्य का सर्व प्रथम कवि बतलाती है। प्रेम काव्य में भी ये प्रथम श्रेणी के

कवियों कि पंक्ति में बिठाए जायेंगे। सांसारिक अनुभव भी इनका बढ़ा चढ़ा था, जो इनकी कविता में गंभीरता लाता था।

ख्वाजा नासिर ने मीर और मिर्ज़ा की कविता पर अपनी यह सम्मति दी है कि पहले की कविता में आह और दूसरे की कविता में वाह की ध्वनि निकलती है और एक ही भाव पर मीरा और सौदा लिखी गई दोनों की कविता भी उद्धृत कर उसका स्पष्टीकरण किया है। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि मीर की कविता में करुण और सौदा में विनोद की मात्रा अधिक है। अपने रसों के क्षेत्र में दोनों ही एक से एक बढ़ कर हैं। यही कारण है कि गजलों में जहाँ आहो नाले, विरह के दुःख आदि के वर्णन मुख्य हैं, मीर बहुत बढ़ गए हैं पर कसीदों व 'वासुख्त' सौदा माने गए हैं। कसीदों में जोश, व्यंग्य आदि प्रधान हैं इससे उस क्षेत्र में सौदा के मस्तिष्क को विचरण करने का खूब मैदान मिला है। प्रतिभा दोनों ही में पूर्णरूप से विद्यमान थी पर मीर की प्रतिभा पिंगल ज्ञान से नियमित होकर चलती थी और मिर्ज़ा की प्रतिभा उसके कवित्वशक्ति की अनुवर्तिनी थी। मिर्ज़ा ने गुलदस्ता बनाया है तो मीर ने माला पिरोई है। मीर की जीवनी से ज्ञात होता है कि ये अपने हालसे कभी सतुष्ट न थे, किसी का भी व्यवहार इन्हें प्रसन्न न कर सका और उनके अनुभव सब कटु ही रहे। सौदा इनके विपरीत हर हालत में मस्त थे, दुःख में भी उन्हें सुख की अनुभूति होती थी और किसी का दुर्व्यवहार विनोन्मुख व्यंग्य में बदल उठता था यही कारण है कि मीर दस के बीच में प्रसन्न नहीं हो सकते थे और उन्हें एकांत प्रिय था। एकांत प्रियता उदासीनता की द्योतक थी। सौदा खूब मिलते थे, हँसते थे और हँसाते थे। यही प्रकृति की प्रतिकूलता दोनों की कविता में साफ झलकती है। मीर का अनुभव बहुत बढ़ा चढ़ा था पर वह दुःखमय था, इसलिए जितना ही करुणोत्पादक भाव कविता में प्रकट करना चाहते थे उतने ही वे सफल होते थे।

दुखी हृदयों को उनके एक एक शेर में उनके निज हृदयों की करुण-कथा प्रवाहित होती अनुभूत होती है। सौदा में इनके लिए स्थान कहाँ! इनके विरह-वर्णन में सत्य की गंध क्षणिक होती थी। इनका क्षेत्र दूसरा है, कष्ट में आशा इनका आधार है और विनोद तथा व्यंग नस नस में भरा है। इनकी कविता से दुखी भी प्रसन्न होने की चेष्टा करता है और सुखी हँसता है। मीर यदि हँसाने की चेष्टा करते हैं तो वह असफल होते हैं और उनकी हँसी एकांत-स्थान की हँसी सी डरावनी होती है। उसमें निर्ममता का आवेश रहता है। उनका व्यंग निर्जीव है। यद्यपि उन्होंने इधर प्रयत्न किया है पर सौदा की समानता तो दूर, वह एक तरह से इसमें असफल ही रहे। वर्णन-शक्ति दोनों ही की समान है। दोनों अपने भावों, विचारों तथा दृश्यों के चित्र खींच देते हैं। पर ध्यान रहे, कि एक आशावादी है तो दूसरा निराशावादी। मीर के चित्र स्याही मायल नीम रंग के हैं पर बहुत ही मार्मिक हैं। सौदा के चित्र शोख रंग के हैं और उनकी आकर्षण शक्ति उच्च कोटि की है। अलंकार का भी वही हाल है। मीर को सजावट से क्या काम और बिना सजावट का 'सौदा' कैसा! सौदा ने कहीं कहीं बड़ी ही उत्तम उपमाएँ दी हैं। दोनों ही में शिथिलता दोष नहीं आया है। उनके भाव और विचार ऐसे चुने हुए शब्दों में रखे गए हैं कि उनके शब्दों का हेर फेर, अधिक या कम, करना सभव नहीं। दोनों ही अपने अपने क्षेत्र के स्वामी हैं क्षेत्र चाहे छोटे हों या बड़े हों, या उनमें एकही प्रकार की भूमि हो या विभिन्न प्रकार की। उदाहरण—

दिल्ली जो एक शहर था आलम में इन्तखाब।
रहते थे मुतखिब ही जहाँ रोजगार के॥
उसको फलक ने लूट के वीरान कर दिया।
हम रहने वाले हैं उसी उजडे दयार के॥
अब्र उठा था काबा से और झूम पड़ा मैखानः पर।
बादः कशों का झुरमुट हैगा शीशः औ पैमानः पर॥

इश्क बुरा है ख्याल पड़ा है चैन गया आराम गया।
दिल का जाना ठैर गया है सुबह गया या शाम गया॥
हो कोई बादशाह कोई याँ वजीर हो। अपनी बला से बैठ रह जब फकीर हो॥
दम भर न ठैरे दिल में न आँखों में एक पल।
इतने से कद्र पै तुम भी कयामत शरीर हो॥
थी इहां जाय है सहर से आज। शब गुजरेगी किस खराबी से॥
मीर जब से गया है दिल तब से। मैं तो कुछ हो गया हूँ सौदाई॥
किस तरह से मानिए यारों कि यह आशिक नहीं।
रँग उड़ा जाता है टुक चेहरा तो देखो 'मीर' का॥
न गई तसौवर उसकी ख्वाब में भी मीर से हर्गिज।
उसी के नाम की सुमिरन थी जब मनका ढलकता था॥
ए अब्रे तर तू और किसी सिम्त का बरस।
इस मुल्क में हमारी है ये चश्मे तर दो बस॥
देखें तो तेरी कबतक यह कज अदाइयाँ हैं।
अब हमने भी किसी से आँखें लड़ाइयाँ हैं॥
इस असीरी पे न कोइ पे गया पाले पड़े।
यह नजर गुल हमने क भी हमें लाल पड़े॥
चमन का नाम सुना था वले न देखा हाय।
जहाँ में हमने कफस ही में जिंदगानी की॥
क्या खत लिखूँ मैं गिरियः से फुर्सत नहीं रही।
खिलवत हूँ तो फिरे है किताबत यही यही॥

छठा परिच्छेद

दिल्ली साहित्य-केन्द्र का उत्तर-मध्य-काल

यह परिच्छेद मध्यकाल का उत्तरार्द्ध मात्र है। इससे उस काल की प्रायः सभी विशेषताएँ इस पर भी लागू हैं। इस उत्तर मध्य-काल के भी अनेक कवि प्रसिद्धि प्राप्त करने के उपरान्त लखनऊ चले गए थे। इंशा ने भाषा के परिमार्जित करने में बहुत प्रयत्न किया, तिस पर भी प्राचीन उर्दू की शब्द रचना ने बिल्कुल पीछा नहीं छोड़ा था। मुसहिफी तो प्राचीन शैली के पक्षपाती ही थे। इस काल के उत्तरार्द्ध के अन्य कवियों में जुरअत ने ग़ज़ल लिखने में मीर ही को आदर्श रखा है। इसी उत्तरार्द्ध में मियाँ रंगीं ने रेख्ते से रेख्ती बनाकर नई रंगीनियाँ दिखलाईं, जिसमें इंशा ने भी अपने कौशल का परिचय दिया है। यद्यपि यह हिंदी की कवि-प्रथा का अनुसरण मात्र था पर अश्लील भावों और विचारों से प्रसूत होने से ऐसी कविता कुछ भी महत्त्व न प्राप्त कर सकी। यह उर्दू कवियों की हार्दिक स्थिति के अनुकूल नहीं थी और केवल अपने आश्रयदाताओं के विनोद के लिए होने से इसमें हँसी मसखरेपन के सिवा और कुछ न हो सका।

विषय-प्रवेश

यह काल भी कुछ ऐसा ही था जिसमें अच्छे कवि अपने स्वतंत्र विचारों, नैसर्गिक उद्गारों तथा स्वच्छ भावों को कविताबद्ध करने के बदले अपने आश्रयदाताओं के मनोरंजनार्थ कविता करते थे। इस काल के आश्रयदाता कवियों को पुरस्कृत नहीं करते थे प्रत्युत् वेतन देते थे और उन्हें अपने विनोद तथा मनोरंजन की एक साधारण सामग्री समझते थे। यदि वे अपने स्वामियों को प्रसन्न न कर सके तो नौकरी से

विशेषता

अपने को पर्याप्त समझें। ऐसी अवस्था में अच्छे सुकवियों की मेधा शक्ति तथा कवि-कौशल काव्य करने में न व्यय की जाकर विदूषकपन ही में समाप्त हो जाती थी। कविता पर स्वभावतः इस प्रकार के आश्रय का अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। इस काल के पहले के विषयों में धार्मिक भाव पूर्णरूप से था और इन लोगों ने कविता को आय का साधन नहीं बना डाला था। इन में कई कवि फकीर और संसार से विरक्त भी थे। इससे इनके काव्य में भावों की स्वच्छता तथा विचारों की गम्भीरता थी। इन पर दैवी नशा छाया रहता था और ये माशूक की ओट में ईश्वर की ओर दृष्टि लगाए रहते थे। पर इस काल के कवि सांसारिक माया-मोह के फंदे में फँस गए। कविता द्वारा आश्रय दाताओं को प्रसन्न कर धन प्राप्त करना ही उनका ध्येय रह गया। अपव्ययी नवाबों ने अच्छे अच्छे कवियों की मर्यादा को आकर्षित कर लिया था। फलतः विचार-गांभीर्य, स्वच्छन्दता तथा भावोत्कर्ष के स्थान पर काव्य-कौशल विशेष परिपक्व हो गया। इससे कविता में अस्वाभाविकता का पुट पूरा पड़ गया, जो आगे और भी बढ़ता गया।

सैयद इंशाअल्लाह खाँ 'इंशा' के पिता मीर माशाअल्लाह खाँ 'मसदर' के पूर्वज नजफ के रहने वाले थे, जहाँ से आकर वे दिल्ली में बस गए थे। मुगल दरबार के ये लोग हकीम और

इंशा

मनसबदार थे। दिल्ली की अवनति आरंभ होने पर माशा अल्लाह खाँ मुर्शिदाबाद चले आए, जहाँ इनकी बड़ी प्रतिष्ठा हुई। यहीं इंशाअल्लाह खाँ का जन्म हुआ। आरंभ में इनके पिता, ही ने इन्हें शिक्षा दी थी पर कविता में इन्होंने किसी को गुरु नहीं बनाया और स्वयं उसमें दक्षता प्राप्त की। पहले इनके पिता इनकी कविता शुद्ध कर देते थे। पर इनकी प्रतिभा दूसरे की आश्रित नहीं थी। इंशा मुर्शिदाबाद त्याग कर दिल्ली चले आए और शाह आलम के दरबार में प्रविष्ट हो गए पर नाम मात्र के सम्राट् के सूने

कोष से कवि-तृष्णा नहीं बुझी। दिल्ली के पुराने शायर इनके सम्मान पाने से चिढ़ उठे थे, जिससे उन लोगों के व्यंग्य तथा दोषोद्भावना से इनका नाकों दम आ गया। अंत में यह भी लखनऊ चले गए और मिर्जा सुलेमानशिकोह के मुसाहिब हो गए। मिर्जा इनसे इतने प्रसन्न हुए कि मुसहिफी के स्थान पर इन्हीं से कविता शुद्ध कराने लगे। कुछ दिनों अनंतर मीर तफ़ज्जलहुसेन अल्लामी के साथ नवाब सआदत अली खाँ के दरबार में पहुँचे और शीघ्र ही उनसे अच्छी तरह हिल मिल गए। हँसी, कहानी तथा चुटकुला से नवाब को ऐसा प्रसन्न किया कि उन्हें इनके बिना चैन नहीं मिलता था पर यही हँसी झगड़े का घर हुई। एक तो दोनों की प्रकृति भिन्न थी, 'नवाब मुकत्तअ और इंशा ईजाद' और दूसरे मनुष्य की प्रकृति भी हर समय एक सी नहीं रहती। दुर्भाग्य ही से कहिए कि एक दिन इनके मुँह से कुछ ऐसे शब्द निकले जिनसे नवाब की माता पर कुछ आक्षेप था। नवाब क्रुद्ध हो गए और धीरे धीरे इनका पद, वेतन सभी छिन गया। अंत में सन् १८१७ ई० में बहुत कष्ट उठाकर इंशा सा विद्वान, कवि, सम्राटों तथा नवाबों का प्रेम-पात्र और सभा-समिति का 'रौनक़' संसार से उठ गया।

इंशा की कृतियों में पहला कुलियात है, जिसमें उर्दू का दीवान, रेख्ती का छोटा दीवान, उर्दू तथा फारसी के कसीदे, फ़ारसी का छोटा दीवान, मसनवी शीरोबिरज, फारसी मसनवी बिना नुकते की (फारसी), शिकार नामा (फारसी), खटमल, मच्छर आदि पर हजोएँ, चंचल प्यारी हथिनी की मसनवी, साहूकार, मुर्ग आदि पर मसनवियाँ, क़िते, पहेलियाँ, बिना नुक़ते का दीवाने उर्दू और शरह मातए-आमिल संगृहीत हैं। यह कुलिआत साढ़े चार सौ पृष्ठ अठपेजी में है। दूसरी कृति दरियाए-लताफत है, जो उर्दू का प्रथम व्याकरण है। इसका पूर्वार्द्ध इंशा का तथा उत्तरार्द्ध क़तील का बनाया है। सन् १८०२ ई०

रचनाएँ

में यह तैयार हुआ था। पूर्वार्द्ध में व्याकरण तथा उत्तरार्द्ध में लक्षण ग्रंथ है। सैयद इंशा ने तत्कालीन भाषाओं के जो नमूने दिए हैं वे भाषाविज्ञान के लिये बड़े महत्व के हैं। फारसी छंदों के हिंदी नाम गढ़कर दिए हैं। व्याकरण से गंभीर विषय की रचना में भी इन्होंने अपनी विनोद प्रियता नहीं छोड़ी है। इनकी तीसरी रचना 'रानी केतकी की कहानी' ठेठ हिंदी में है। 'फारसी अरबी छुट' भाषा लिखने का यह इनका प्रथम और अच्छा प्रयास है। वाक्य रचना में उर्दू ढंग आ गया है पर यह शुद्ध हिंदी है। न संस्कृत और न फारसी अरबी शब्दों का प्रयोग हुआ है। इसे जनसाधारण में प्रायः सभी हिंदू और मुसल्मान समझ सकते हैं। इसके कई संस्करण निकल चुके हैं।

इंशा में हास्यरस की मात्रा अधिक थी और बातचीत तक में वे हँसी, विनोद की झड़ी लगा देते थे। रचनाएँ रचयिता की प्रकृति की आदर्श हैं। कहीं कहीं व उन्हें हास्यास्पद बनाती हैं पर प्रकृति बदली नहीं जाती। समय भी वैसा ही था और वे समय के प्रवाह में पड़ गए थे। उनकी

रचना-शैली

कृतियों में उच्चकोटि की भी कृतियाँ हैं। प्रतिभा-संपन्न थे, अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे तथा फारसी अरबी के अच्छे विद्वान थे। कविता चातुरी भी खूब थी। बिना नुक्ते की कई भाषाओं की तथा इसी प्रकार की अन्य ऐसी कविताएँ भी करते थे, जिनमें परिश्रम अधिक करना पड़ता था। इसीसे इन्हें उर्दू साहित्य का अमीर खुसरो भी कहते हैं। भारती कथानक, हिंदी के शब्दों तथा उपमानों का इन्होंने बराबर प्रयोग किया है पर साथ ही भाषा की ओर भी दृष्टि रखी है। यद्यपि रेख्ते से रख्ती भी इन्होंने निकाली थी पर रंगीं और जानसाहब ही उसमें विशेष प्रसिद्ध हैं।

भाषा का इन्हें अच्छा ज्ञान था और उसकी काट छाँट तथा परिमार्जन में इन्होंने बहुत योग दिया है। इनकी रचना दरिआए-लताफत

उर्दू साहित्य में स्थान

बड़े परिश्रम से लिखी गई थी तथा पूर्ण विद्वत्ता की परिचायिका है। इसका प्रथम अंश इंशा का तथा दूसरा अंश मिर्जा कतील का लिखा हुआ है। इनकी उच्चकोटि की कविताएँ अच्छे अच्छे कवियों की रचनाओं के समकक्ष हैं और उर्दू साहित्य की अमूल्य संपत्ति हैं। रानी केतकी की कहानी के कारण यह हिंदी-गद्य साहित्य के इतिहास में लल्लू लालजी ही के समान सम्मान्य हैं। उदाहरण—

कमर बाँधे हुए चलने को यॉ सब यार बैठे हैं।
बहुत आगे गए बाकी जो हैं तैयार बैठे हैं॥
यह अपनी हाल है उफ्तादगी से अबकि पहरों तक।
नज़र आया जहॉ पर सायए दीवार बैठे हैं॥
भला गर्दिश फलक की चैन देती है किसे 'इंशा'।
गनीमत है कि हम सूरत यहाँ दो चार बैठे हैं॥
गर नाजनीं के कहने से माना बुरा हो कुछ।
मेरी तरफ तो देखिए मैं नाजनी सही॥
मै की सुराही ऐसी ला बर्फ में लगाकर।
जिसके धुँएँ से साकी होवे दिमाग ठढा॥
उसकी चाहत में जवानी अपनी जो थी चल बसी।
है पर अब तक जी को एक जैसा का तैसा इजतराब॥
हुए हैं खाक सरे राह उसके हम 'इशा'।
बड़ा ग़ज़ब है जो यह भी फलक न देख सके॥
लिपट कर कृष्णजी से राधिका हँस कर लगीं कहने।
मिला है चाँद से ऐलो अँधेरे माघ का जोड़ा॥
सुनाया रात को किस्सा जो हीर राम्झे का।
तो अह्ले दर्द को पजाबियों ने लूट लिया॥
एक तिफ्ले दबिस्तान है फलातूँ मेरे आगे।
क्या मुँह है अरस्तू जो करे चूँ मेरे आगे॥

यक चश्मक ज़न है शाही चश्म है छाया हुआ।
जामे में दे तू किधर जाता है मचलाया हुआ॥

जुरअत का वास्तविक नाम यहिया अमान था पर शेख कलंदर-बख़्श के नाम से प्रसिद्ध थे। इनके पूर्वज आगरे के रहनेवाले थे पर इनके पिता हाफ़िज़ अमान दिल्ली में आ बसे थे।

जुरअत

मान या अमान की पदवी इनके वंश में अकबर बादशाह के समय से प्राप्त है। नादिरशाही लूट के समय राय अमान भी मारे गए थे और चाँदनी चौक के पास की एक गली अभी तक इनके नाम पर राय मान की गली कहलाती है। जुरअत मियाँ जाफ़र अली 'हसरत' के शिष्य थे। ज्योतिष में अच्छा ज्ञान था और गायन विद्या भी जानते थे। सितार बजाने में प्रवीण थे। फ़ैज़ाबाद ही में यौवन व्यतीत कर यह बरेली के नवाब हाफ़िज़ रहमत ख़ाँ के पुत्र नवाब मुहब्बत ख़ाँ के यहाँ पहले नौकर हुए। सन् १८०० ई० के लगभग यह लखनऊ गए और वहा मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह के आश्रित हुए। यहीं सन् १८१० ई० में इनकी मृत्यु हुई। यह अंधे थे पर जन्मांध नहीं थे और इनके अंधे होने का कारण कोई शीतला बतलाते हैं और कोई कहते हैं कि यह वास्तव में अंधे नहीं थे पर पर्दे के अंदर की सुन्दरियों को देखने की इच्छा से अंधे बन गए थ, क्योंकि इनके चुटकुले, हँसी तथा लतीफ़ों के सुनने की वे स्त्रियाँ इच्छुक थीं। पर जब यह भेद गृह के स्वामी को ज्ञात हुआ तो उसने क्रोध में इनको सचा अंधा बना डाला।

रचनाओं में इनका एक दीवान और दो मसनवियाँ प्राप्त हैं। दीवान में ग़ज़ल, रुबाई, मुख़म्मस, वासोख़्त, हजोएँ, क़ितअ आदि हैं। कुछ मसिए भी लिखे हैं, जिनमें सन् १७७७ और

रचनाएँ

१७७८ तारीख़ें हैं। पहली मसनवी सन् १७८१ ई० के पहले वर्षा पर लिखी गई थी, जिसका उल्लेख मीर हसन ने किया है। दूसरी मसनवी 'हुस्नो इश्क़' है जिसमें

ख्वाजा हसन और बख्शी नाम की एक वेश्या की प्रेमकथा का अच्छा वर्णन है। काव्य की दृष्टि से यह अच्छी है क्योंकि ओज तथा प्रसाद दोनों ही गुण वर्तमान हैं। जुरअत किसी भाषा के पूर्ण विद्वान नहीं थे और न साहित्य के अनेक अंगों ही में उनका प्रवेश था पर कविता-शक्ति के साथ अनुभव अच्छा था इसी से जो लिख गए सो अच्छा ही लिखा है।

जुरअत ने केवल उर्दू ही लिखा है, क्योंकि यह फ़ारसी के विशेषज्ञ नहीं थे। इनकी कविता में प्रेम-कथा, मदिरा तथा चोचलेबाजी ही विशेष है। प्रेम का आदर्श उच्च नहीं है प्रत्युत बाजारू है। आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिये अश्लीलता की मात्रा भी कम नहीं है। एक मुशाअरे में जुरअत ने कविता पढ़ी, जिस पर खूब वाहवाही हुई। मीर तक़ी 'मीर' भी वहाँ उपस्थित थे। जुरअत के इनसे सम्मति माँगने पर उन्होंने जो उत्तर दिया था वह इनकी कविता का बहुत ही मार्मिक चित्रण था। मीर ने कहा कि 'तुम शैर तो कहने नहीं जानते हो, अपनी चूमा चाटी कह लिया करो'। इन्होंने यद्यपि 'मीर' की रचना शैली ही को आदर्श माना था पर उस गंभीरता, विद्वत्ता और करुणा से इनकी कहाँ भेंट? मीर की कविता विद्वानों के लिये तथा जुरअत की जन-साधरण के लिये थी। इनकी कविता शक्ति समय के प्रवाह में पड़ गई और विद्वत्ता के अभाव ने उसे और भी नीचे ला पटका। इतने पर भी कविता में प्रसाद गुण अच्छी तरह वर्तमान है और कहने का ढंग भी सीधा सादा है। यह केवल पथप्रदर्शकों के रास्ते पर लाठी टेकते चले गए हैं, नए रास्ते खोजने की जुरअत (साहस) ही इनमें कहाँ थी? इनकी कविता साधारणतः लोकप्रिय हुई, जिससे साहित्य में इन्हें अच्छा स्थान प्राप्त है। उदाहरण—

रचनाशैली

हम कुछ असीर होते ही खामोश हो गए।
सब चहचहे चमन के फरामोश हो गए॥

चैन इस दिल को न एक आन तेरे बिन आया।
दिन गया रात हुई रात गई दिन आया॥
क्यों मुकरता है जो कुछ ठानी है तूने दिल में।
सब मेरे भी पै अयाँ है मुझे मालूम नहीं॥
क्या रुक के वह कहे हैं जो टुक उससे लग चलूँ।
बस बस परे हो शौक वह अपने वहाँ नहीं॥
जाऊँ जाऊँ क्या लगाया है अजी बैठ रहो।
हूँ मैं अपनी जीस्त से आगाह उकताया हुआ॥
आज भी उसके जो आने की न ठैरी तो बस आह।
हम यह कर बैठेंगे जो दिल में हैं ठैराए हुए॥
होके आवारा जो यह हमसे परे फिरते हैं।
हाथ हम अपने कलेजे पै धरे फिरते हैं॥
है किसका जिगर जिस पै यह बेदाद करोगे।
लो हम तुम्हें दिल देते हैं क्या याद करोगे॥

शेख गुलाम हमदानी मुसहफ़ी के पिता का नाम वली मुहम्मद था और ये मुरादाबाद अमरोहा के रहनेवाले थे। सन् १७७६ ई० में मुसहफ़ी फारसी तथा उर्दू कविता की शिक्षा प्राप्त करने दिल्ली चले आए और बारह वर्ष तक यहीं रहे। इसी बीच इन्होंने अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी।

मुसहफ़ी

क्योंकि मीर हसन के तज़किरे में इनका उल्लेख है, जो सन् १७८१ ई० में लिखा गया था। यह अपने गृह पर कवि-सभाएँ करते थे, जिनमें प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवि आते थे। इनके शिष्य बहुत थे। 'सरापा सखुन' में लिखा है कि इनके गुरु का नाम 'मानी' कवि था। भाषा इनकी सोज़, मीर और सौदा के समय की है। फारसी के विद्वान् तथा योग्य साहित्य-मर्मज्ञ थे। सैयद इंशा ने इनकी जो हजो लिखी है, उससे ज्ञात होता है कि इन्होंने बुढ़ापे में शादी की थी, जिससे उस समय भी शौक़ीनी से बाज़ न आए। बारह वर्ष दिल्ली रहकर ये भी लखनऊ

गए। रास्ते में कुछ दिन टाँडा के नवाब मुहम्मद यार खाँ के यहाँ भी रहे थे। सन् १८०० ई० के लिखे तज़किरः इश्क़ी से ज्ञात होता है कि यह व्यापार भी करते थे। इनकी मृत्यु सन् १८२४ ई० में लगभग अस्सी वर्ष की अवस्था में हुई थी। हसरत ने लिखा है कि इनका जन्म सन् ११६४ हि० (सन् १७५१ ई०) में हुआ था और ७६ वर्ष की अवस्था में मरे थे।

रचनाएँ

मुसहिफी बहुत लिखते थे। फारसी में चार दीवान लिखे हैं जिनमे अब केवल एक मिलता है। फारसी कवियों का एक तज़किरः और एक शाहनामा लिखा है। दूसरे में शाहआलम तक के बादशाहों का उल्लेख है। उर्दू में इन्होंने आठ दीवान लिखे हैं, जिनमे हजारो ग़ज़लें, रुबाइयाँ और क़सीदे आदि भरे है। उर्दू के कवियों के दो तज़्किरे फारसी भाषा में लिखे थे, जिनमें से एक प्राप्त है। यह सन् १७९४ ई० में लिखा गया था। इसमें लगभग साढ़े तीन सौ कवियों का वृत्तांत दिया है। अपने समकालीन कवियों के विषय में विशेष लिखा है। यह तज़्किरा मीरहसन के पुत्र मीर मुस्तहसिन 'ख़लीक' के कहने पर लिखा गया था। मुसहिफ़ी अपनी ग़ज़लें बेचते थे, इससे भी इनकी बहुत सी रचनाएँ अप्राप्य हो गइ।

साहित्य में स्थान और रचनाशैली

मुसहिफी आशु कवि थे। गद्य को पद्य के साँचे में इतनी शीघ्रता से ढालते थे कि देखनेवाला यही समझता था कि यह प्रतिलिपि कर रहे हैं। कवि-सभा के लिए एक तरह पर बहुत सी ग़जलें बनाते थे, जिनमें से अच्छी तो बिक जाती थीं और बची हुई को आप ठीक ठाक कर कह डालते थे। इनमें लोभ अधिक था और इसीसे इनकी अच्छी रचनाएँ तो नए कवि पढ़कर प्रशंसा के पात्र बनते थे और यह अपनी तीसरे दर्जे की कविता पढ़कर बैठ रहते थे। इतने पर भी इनकी इतनी प्रसिद्धि थी कि इनके बहुत से शिष्य हुए, जिनमें आतिश, ज़मीर, ऐशी, ख़लीक और

अमीर प्रसिद्ध कवि हुए हैं। मुहम्मद ईसा 'तनहा' इन्हीं के शिष्य थे जिनसे नासिख ने कायता में इसलाह ली थी। इनकी कविता अधिक है, इससे इसमें उत्तम कविता कम और तीसरे दर्जे की विशेष है। 'मीर' तथा 'सौदा' की सादगी और 'सौदा' की उद्दंडता की कहीं कहीं झलक मिलती है और भाषा तो उन्हीं की है। 'जुरअत' और 'इंशा' के समकालीन होते हुए भी भाषा की दृष्टि से उनसे प्राचीन ज्ञात होते हैं। बड़े बड़े तथा क्लिष्ट बहरों में कविता कर अपनी योग्यता दिखलाई है। इनकी मसनवी बहरुल् मुहब्बत भी मीर के दरिआए इश्क की छाया सी है। तात्पर्य यह है कि इनमें निज की कुछ विशेषता नहीं है। हाँ, एक अच्छे कवि थे, जिन्होंने खूब कविताएँ लिखी हैं।

मुसहफ़ी पुराने ढंग के कवि तथा लकीर के फ़क़ीर थे और इंशा में सभी बातें नई थीं, भाषा में काट छाँट, नए भाव और विचार, विनोद और स्वभाव की चंचलता। इसका प्रभाव इंशा और मुसहफ़ी दोनों की कविता पर पड़ा है। एक में पूर्ववर्ती कवियों का पदानुसरण और पिष्टपेषण है और दूसरे में नए नए भाव और उन्हें प्रकट करने के नए ढंग पद पद-पर दिखलाते हैं। इन दो कवियों में आपस में मनोमालिन्य भी हो गया था, जिससे दोनों में खूब चोटें चलीं। इसका मुख्य कारण शाहज़ादा सुलेमान शिकोह का मुसहफ़ी को हटाकर इंशा को कविता दिखलाना हुआ। इंशा ने इनके शेरों की कुछ हँसी उड़ाई, बस इसी पर दोनों ओर से हजोएँ लिखी जाने लगीं जिनमें द्वेष, अश्लीलता और गाली-गलौज तक भरी रहती थीं। इनके शिष्यों ने और भी मामला बढ़ाया, मार पीट तक की नौबत आई और स्वाँगों की बरातें तक निकलीं। इनमें इंशा ही बढ़कर निकले क्योंकि उनकी प्रकृति इसके लिए विशेष अनुकूल थी तथा शाहज़ादा सुलेमानशिकोह और नवाब भी इन्हीं का पक्ष लेते थे। अस्तु, इतनी कमी होने पर भी मुसहफ़ी उर्दू साहित्य के एक रत्न हैं और उसके इतिहास में इनका स्थान ऊँचा है। उदाहरण—

यहाँ लाल फसूँसाज ने बातों में लगाया।
दे पेच उधर जुल्फ उड़ा लेगई दिल को ॥
गर्मी की रुत है साकी और अश्के बुलबुलों ने।
छिड़काव से किया है सब सहन बाग ठंढा ॥
कुछ उसकी वजअ बिगड़ी कुछ है वह पैमाँशिकन बिगड़ा।
यह सजधज है तो देखोगे जमाने का चलन बिगड़ा ॥
न गया कोई अदम को दिले शादाँ लेकर।
याँ से क्या क्या न गए हसरतो अरमाँ लेकर ॥
आशिक को तेरे चाहिए क्या हार गले में।
हाथों के तईं डाल दे ऐ यार गले मे ॥
अगर हम आइना बन कर भी जाएँ उनके हजूर।
न देखे वह निगहे शर्मगीं हमारा मुँह।

सआदतयार खाँ 'रंगीं' का पिता तहमास्पबेग खाँ तूरानी नादिर-शाह के साथ भारत आया और दिल्ली में बस गया। यहाँ इसे सात-हजारी मंसब और मुहकिमुद्दौला पदवी मिली थी।

रंगी

रंगीं अच्छे घुडसवार तथा युद्ध विद्या के ज्ञाता थे। कुछ दिन लखनऊ में मिर्जा सुलेमानशिकोह के यहाँ रहे। हैदराबाद के निज़ाम के तोपखाने में कुछ दिन रहकर लौट आए और घोड़े का व्यापार करने लगे। इन्होंने भ्रमण भी बहुत किया था। धनाढ्य, सुंदर और युवा होने के कारण जीवन में विषय-वासना का बहुत उपभोग किया था। मिलनसार तथा अच्छे स्वभाव के थे। इंशा से बड़ी मित्रता थी। कविता में पहले शाह हातिम के शिष्य हुए और उनकी मृत्यु पर उन्हीं के शिष्य मुहम्मद अमन 'निसार' के शिष्य हुए। इनकी मृत्यु सन् १८३५ ई० में अस्सी वर्ष की अवस्था में हुई। 'शेफ्ता' एक वर्ष पहले इनकी मृत्यु होना लिखते हैं।

इन्होंने चार दीवान लिखे हैं, जो मिलकर 'नौरतन' के नाम से प्रसिद्ध हैं। तीन रचनाएँ रेख्ते में हैं और एक रेख़्ती में। इनके अलग

रचनाएँ

इनका नाम दीवान रेख़्ता, दीवान रेख़्ती, दीवान आमेज़ या दीवान हज़्ल और दीवान मज़्हका या दीवान हज़्ली है। मसनवी दिलपज़ीर में माह-अर्वी शाहज़ादे और मा नगर की रानी की प्रेम-कथा है। यह इंशा, क़तील आदि के तारीख़ के अनुसार सन् १७९८ ई० में समाप्त हुई। इसके रंगी में कई कहानियाँ हैं। कई मसनवियाँ और क़र्ज़े भी लिखे हैं। मज़हरुल् अजायब या ख़राबुल् मज़ार नामक मसनवी में कई घटनाओं का संग्रह है। मजालिसे रंगी में समकालीन कवियों की आलोचनाएँ हैं, जो विशेषतर कटु हैं। फ़रसनामा अश्वविद्या पर एक प्रबंध है जो सन् १७९५ ई० में लिखा गया था।

रेख़्ती

रंगी रेख़्ती कविता के आविष्कारक माने जाते हैं। और ये भी ऐसा ही समझते थे। यद्यपि मौलाना हाशिमी बीजापुरी और बाद के समकालीन मौलाना क़ासिमी 'ग्यासी' ने रेख़्ती का कविता में कहीं कहीं प्रयोग किया है पर वह हिंदी भाषा का रंग था जो आरंभिक काल का उर्दू में मिलता है। सैयद इंशा और रंगी की रेख़्ती उससे भिन्न निज का अस्तित्व रखती है। हिंदी कविता की भाषा अथवा काव्यभाषा जनानी बोली अर्थात् स्त्रियों की बोली में नहीं होती थी पर रेख़्ता से तात्पर्य इसी से है। स्त्रियों की भाषा प्रायः प्राचीनता लिए होती है क्योंकि अशिक्षा, पर्दे आदि के कारण समय के साथ वे भाषा के मुहावरे आदि के परिवर्तन का उतनी शीघ्रता से नहीं ग्रहण कर सकतीं, जितनी कि पुरुष। इससे इनकी भाषा में पुरानापन रहना अनिवार्य है। कुछ ऐसे भी शब्द होते हैं, जिनका प्रयोग भी वे ही करती हैं और कुछ शब्द तो वे स्वयं उस अर्थ के द्योतक रूप में बना लेती हैं जिन्हें वे लज्जा आदि के वश हो स्पष्ट नहीं कह सकतीं। भाषा की इसी भिन्नता को लेकर अश्लीलता, हँसी तथा विषयवासना के रंग में अच्छी प्रकार रंग कर इंशा तथा रंगी ने उसे समाज के आगे रखा। कुरुचिपूर्ण पुस्तकों का कुछ विशेष

प्रचार होता ही है और उस समय के समाज में, विशेषकर लखनऊ तथा दिल्ली के गिरते हुए मुसल्मानी राज्यों में वेश्यादि विषयवासना धन की एक मर्यादा हो गई थी, इससे उस समय लोगों में इसका प्रचार खूब हुआ। इसके सबसे बड़े उस्ताद मीर यारअली खाँ 'जान साहब' हुए, जिनका उपनाम ही रेख्ती कहने वाले के उपयुक्त है। इनके पिता का मीर अमन और गुरु का नवाब आशोर अली खाँ नाम था। लखनऊ के रहने वाले थे पर रामपुर ही में अंतिम जीवन व्यतीत किया। यह कवि-सभा में स्त्रियों के वस्त्रादि पहिर कर उन्हीं की चाल से अपनी रेख्ती कविता पढ़ते थे। जीविका की खोज में दिल्ली और भूपाल गए पर अंतमें रामपुर लौट आए, जहाँ सन् १८९७ ई० में लगभग सत्तर वर्ष की अवस्था में मरे। रेख्ती की कविता भी इन्हीं के साथ गई क्योंकि वर्तमान सभ्य समाज इसे पसंद नही करता। उदाहरण—

तिल नहीं माँग में जनानी के। यह कन्हैया खड़ा है गोकुल में ॥
आँख लड़ते ही हो गई आशिक़। मोहिनी थी मुए के काजल में ॥
बरसात किसको कहते हैं जी उस बहारमें। सरपर हवाके होती हैं बादलकी ओढ़नी ॥
करूँ मैं कहाँ तक मदारात रोज। तुम्हे चाहिए जी वही बात रोज ॥

मुग़ल वंश के अंतिम राजे कवियों के आश्रयदाता थे और उनमे कई कवि भी थे। आलमगीर द्वितीय के पुत्र मिर्जा मुहम्मद अलीगौहर

शाहआलम द्वितीय (सन् १७५९—१८०६)

शाहआलम द्वितीय 'आफताब' उपनाम से कविता करते थे। उन्होंने एक दीवान लिखा है तथा एक मसनवी 'मजमूने अक़्दस' लिखी है, जो सन् १७८७ ई० में समाप्त हुई थी। यह नाम ही इसकी रचना का समय बताता है। इसमें चीन के बादशाह मुज़फ्फर शाह की कहानी है। फ़ारसी में भी कविता करते थे। गुलाम क़ादिर द्वारा अंधे किये जाने पर फारसी में जो कितः लिखा है वह अत्यंत करुणोत्पादक है। इनके दरबार में सौदा, मीर, इंशा आदि बहुत से कवियों को समय समय पर आश्रय मिला था। उदाहरण—

१ क़िता फ़ारसी के दो शेर

सरसरे हादसः बरख़ास्त पए ख़्वारी मा । दाद बबाद सरो बर्ग जहाँदारी मा ॥
'आफ़्ताब' मजलिसे फ़लक इमरोज़ बपादी दीदी । बाज़ पर्दा देहद एज़िद सरो सरदारी मा ॥

भावार्थ—

घटना रूपी तूफ़ान हमारे नाश के लिए उठा। हमारी बादशाही के सरोसामान को नष्ट कर दिया। आकाश से सूर्य ने आज नाश देखा फिर कल ईश्वर ने सिर और सरदारी हमें दिया।

२ यह हसरत रह गई किस किस मज़े से ज़िन्दगी कटती।
अगर होता चमन अपना गुल अपना बाग़बान अपना ॥
कौड़ियाला मेरी तुरबत पै लगाना यारो।
नागिने गुल के काट की यह पहिचान रहे ॥

इनके पुत्र मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह 'सुलेमान' भी कवि थे, जो पहले लखनऊ चले गए थे। सन् १८१५ ई० में यह दिल्ली लौट आए जहाँ सन् १८३७ ई० में उनकी मृत्यु हो गई। इन्होंने एक दीवान लिखा है। दिल्ली में शाह हातिम और लखनऊ में मुसहफ़ी तथा इंशा को कविता दिखलाते थे। जब यह लखनऊ में थे तब दिल्ली से आए हुए कवियों को पहले इन्हीं के यहाँ आश्रय मिलता था। उदाहरण—

मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह

कहाँ है शीशए मै मुहतसिब छुपा के हर।
मेरी बग़ल में मलफ़ता है आबलः दिल का ॥
हर घड़ी की बदज़ुबानी ख़ुश नहीं आती हमें।
इस क़दर चढ़िए न अब ऐ मेहर्बां बालाए सर ॥

शाह आलम की मृत्यु पर उनके पुत्र अकबर शाह द्वितीय सन् १८०६ ई० में गद्दी पर बैठे। इन्होंने अपने पिता के उपनाम 'आफ़ताब' के विचार से अपना उपनाम 'शुआअ' रखा था। यह कभी कभी कविता लिखा करते थे।

अकबर शाह द्वितीय (किरण) (१८०६–१८३७)

अकबर शाह द्वितीय के पुत्र अंतिम मुग़ल सम्राट् अबूज़फर सिराजुद्दीन मुहम्मद बहादुर शाह द्वितीय 'ज़फर' अच्छे कवि थे। इनका जन्म सन् १७७५ ई० मे हुआ था। यह सन् १८३७ ई० में गद्दी पर बैठे और बलवे के अनंतर सन् १७५८ ई० में गद्दी से उतारे जाकर रंगून भेजे गए, जहाँ चार वर्ष बाद इनकी मृत्यु हुई। शाह नसीर, जौक़ और ग़ालिब को कविता दिखलाते थे। इनके अक्षर बहुत अच्छे बनते थे। भारतीय गान विद्या के भी यह अच्छे ज्ञाता थे और इन्होने बहुत सी ठुमरियाँ भी बनाई है। सादी के गुलिस्ताँ पर टीका लिखा है। इनका दीवान भी बहुत बड़ा है और इनकी ख्याति इसी पर स्थित है। इनके ग़ज़लो पर ज़ौक और ग़ालिब की छाप स्पष्ट है पर तब भी इनकी ख़ास ख़ास ग़ज़लों में इनकी निज की भी विशेषता है, जो इनके गुरुओं से भिन्न है। इनकी रचना-शैली आडंबर-शून्य, सीधी तथा प्रसाद गुण पूर्ण है। साम्राज्य की दुर्दशा के कारण इनकी कविता में करुणा की छाया मिली हुई है। इनके विचार ऊँचे तथा भाव अच्छे होते थे पर अस्वाभाविकता भी झलकती रहती थी। इन्होने भी नसीर, ज़ौक, ग़ालिब आदि से सुकवियो को आश्रय दिया था। उदाहरण—

-बहादुर शाह द्वितीय

देखिए किसदिन जवाबे खत से आँखे शाद हों।
रास्ता देखा नहीं कासिद भटकता जायगा॥
नातवानी ने बचाई जान मेरी हिज्र मे।
कोने कोने ढूँढती फिरती कजा थी मैं न था॥
सूफियों में हूँ न रिंदों में न मैख्वारों में हूँ।
ऐ बुतो बंदा खुदा का हूँ गुनहगारों में हूँ॥
खानए सैयाद मे हूँ तायरे तस्वीरवार।
पर न आजादों में हूँ औ न गिरफ्तारों मे हूँ॥

शेख क़ियामुद्दीन 'क़ायम' बिजनौर जिले के चाँदपूर नगर के रहनेवाले थे, जो 'दर्द' और 'सौदा' के शिष्य थे। दिल्ली आकर शाही

अस्त्रालय के दारोगा हुआ। इन्होंने एक बहुत बड़ा

कायम — दीवान तथा एक तज़्किरः 'मख़ज़नेनिकात' और दस मसनवियाँ लिखी हैं। स्फुट कविता भी बहुत की तथा गद्य में शफ़रिस्तान नामक ग्रंथ लिखा। दिल्ली छोड़ने पर कुछ दिन टाँडे में रहे फिर रामपुर चले गए। उदाहरण—

दर्दे दिल कुछ कहा नहीं जाता। आह चुप भी रहा नहीं जाता॥
हर दम आने से मैं भी नादिम हूँ। क्या करूँ पर रहा नहीं जाता॥
हमने हर तरह तर दिल में दिल शाद किया।
हिचकी गर आई तो समझे कि हमें याद किया।
ऐसा ही जो दिल न रह सकेगा। टुक दूर से देख जाएँगे हम॥

मीर निज़ामुद्दीन 'ममनून' के पिता मीर क़मरुद्दीन 'मिन्नत' फ़ारसी के कवि थे पर उर्दू में भी कुछ कविता की है। ममनून के पूर्वज

ममनून — सोनीपत के रहनेवाले थे पर यह दिल्ली ही में जन्मे और पले थे। अपने पिता ही से इन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। अजमेर में कुछ दिन सदरुस्सुदूर के पद पर नियुक्त थे और कुछ दिन लखनऊ में भी रहे। इसके अनंतर यह दिल्ली लौट आए, जहाँ सन् १८४४ ई० में इनकी मृत्यु हुई। इन्होंने फ़ारसी और उर्दू दोनों में दीवान लिखा है तथा प्रसिद्ध होने के कारण इनके कई शिष्य भी हुए। यह फ़ख़रुश्शोअरा या मुल्कुश्शोअरा कहे जाते थे। यह पदवी बादशाह ने इन्हें दी थी। उदाहरण—

गुमान ग़ुंचः पै करूँ क्यों न दिल चुरान का।
मुफा के ओंठ सबब क्या है मुस्करान का॥
किया फरेफ्तः फकर यह हाल दिल को मरे।
असर फसूँ से नहीं कुछ कम इस दिखाने का॥
नहीं बचा मर्जे इश्क़ से कोई 'ममनूँ'। हमें दरेग़ा बहुत है तेरी जवानी का॥

मिर्ज़ा जाफ़र अली 'हसरत' के पिता मिर्ज़ा अबुल् ख़ैर अत्तार थे। हसरत राय सरबसिंह दीवाना के शिष्य थे और शाह आलम के

गद्दी पर बैठने पर उन्हीं के आश्रित हुए। इन्होंने एक मसिए में गुलाम कादिर के अत्याचार का वर्णन किया है। यह दिल्ली से फैज़ाबाद गए और नवाब शुजाउद्दौला की प्रशंसा में एक क़सीदा लिखा, जिस पर कुछ वेतन मिलने लगा। नवाब आसफुद्दौला के लखनऊ जाने पर यह भी अपने मित्र नवाब मुहम्मद खाँ के कहने पर वहाँ जाकर बस गए। जब मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह लखनऊ आए तब उनके साथ हसरत के शिष्य जुरअत भी आए जिनके द्वारा यह भी उस दरबार में पहुँचे। अब दोनों उस्ताद और चेले ने कवि-सभाओं में योग देकर यहाँ भी प्रसिद्धि प्राप्त की। मिर्ज़ा अहसन अली खाँ बहादुर तथा मिर्ज़ा जहाँदारशाह भी इनके आश्रयदाताओं में थे। सौदा ने हसरत की हजो खूब की है। उस समय लखनऊ में हर एक दूसरे को गिराने के लिए प्रयत्न कर रहा था। उदाहरण—

हसरत

तुम जो कहते हो कह दो 'हसरत' को। आहो फरियाद याँ किया न करे॥
आपका उसमें क्या बिगड़ता है। दर्दे दिल की कोई दवा न करे॥

किसका है जिगर जिसपै यह बेदाद करोगे।
लो दिल तुम्हे हम देते हैं क्या याद करोगे॥

दिल में सौ बात थी पर उसने जो पूछा अहवाल।
मुझसे कुछ दर्दे दिल इजहार हुआ कुछ न हुआ॥

हुए हैं, इस कदर आफतजदे हम तो कि अब हममें।
न कैफीयत है हँसने की न कुछ लज्जत है रोने की॥

हसरत के उस्ताद राय सरबसिह (सरबसुख) दीवान थे, जिन्होंने कसीदों का एक, ग़ज़लों के दो और मुखम्मस मुसद्दस आदि का एक, तथा रुबाइओं का एक, इस प्रकार कुल मिलाकर पाँच दीवान लिखे हैं। यह फारसी के प्रसिद्ध कवि थे। इनके बहुत से शिष्य थे। कहा जाता है कि यह ईरान भी गए थे, जहाँ इनका बड़ा सम्मान हुआ था। उर्दू

दीवान

के पुराने उस्तादों में इनकी भी गणना है। उदाहरण—

एक गोशे में बैठकर दिवान उनका।
अब नाखुने गम से दिल खराशी कीजिए॥
दिल है कि तेरे तेग के आगे से न टल जाय।
रुस्तम का क्या जिगर है कि पुश्ता पिघल न जाय॥

ऊपर लिखे कवियों के सिवा इस काल में कई अन्य अच्छे कवि हुए हैं। शाह कुद्रतुल्ला 'कुद्रत' ने एक दीवान लिखा है। यह मीर शम्सुद्दीन 'फकीर' के चचेरे भाई थे। इनकी मृत्यु सन् १७९१ ई० में मुर्शिदाबाद में हुई। मीर मुहम्मदअली 'बेदार' मीर दर्द के पर मीर हसन के अनुसार मुर्तजा कुली फिराक के शिष्य थे तथा दो दीवान लिखे हैं। इनकी मृत्यु सन् १७९४ ई० में हुई। हिदायतुल्ला खाँ 'हिदायत' ख्वाजा दर्द के शिष्य थे और एक दीवान लिखा है। बनारस की प्रशंसा में एक मसनवी भी लिखी है। यह सन् १८०० ई० में दिल्ली में थे। इनके भतीजे हकीम सनाउल्ला खाँ 'फिराक' भी कवि थे तथा दर्द ही के शिष्य थे। मीर जियाउद्दीन 'ज़ीया' देहली के निवासी थे। वहाँ से यह फैजाबाद तथा लखनऊ होते पटना गए और वहीं अंत तक रहे। शेख बकाउल्ला आगरे के हाफिज लुत्फुल्ला के पुत्र थे। दिल्ली में पैदा हुए और वहाँ से लखनऊ जाकर बस गए। फारसी में हज़ीं और उर्दू में बका उपनाम था। हातिम तथा दर्द के शिष्य थे। एक दीवान लिखा है। सन् १७९२ ई० में मरे। इनके सिवा और भी बहुत से कवि इस काल में हुए हैं।

तड़प मत इस कदर ऐ नालए पुर जोर पहलू में।
मुबादा शीशए दिल होय चकनाचूर पहलू में॥ (कुद्रत)
बाकी नहीं है बास किसी गुल की ए सबा।
उस गुल की बू से है यह मुअत्तर दिमाग़ दिल॥ (बेदार)
खुदा जाने सनम आवे न आवे।
भरोसा क्या है दम आवे न आवे॥

गनीमत है करे कोइ सैरे गुलशन।
फिर अपना यॉ कदम आवे न आवे ॥ (हिदायत)
बरस ऐ अब्र जितना चाहे तू अब तेरी बारी है।
कभी दिल था तो मैं भी रो रो इक दरिया बहाता था ॥ (ज़िया)
याद में तड़पे है दिल किस अब्रुए खमदार की।
आज कुछ नाखुन बदिल है आह इस बीमार की ॥ (बका)

—❧*❧—

सातवाँ परिच्छेद

दिल्ली-साहित्य केंद्र का उत्तर-काल

दिल्ली के अनेक प्रसिद्ध कवियों के लखनऊ चले जाने पर तथा वहाँ के केंद्र के उन्नति करने पर भी दिल्ली-साहित्य केंद्र किसी प्रकार कम समुज्वल नहीं था प्रत्युत् इस काल को यहाँ के कई ऐसे सुकवियों ने सुशोभित किया है, जिनका नाम तथा रचनाएँ उर्दू साहित्य के इतिहास में अमर हैं।

विषय प्रवेश

मोमिन, ग़ालिब, ज़ौक़ तथा ज़फ़र इस काल के मुख्य कवि हैं। इनमें ग़ालिब का स्थान बहुत ऊँचा है। यद्यपि दो एक कवियों ने फ़ारसीपन लाने का विशेष प्रयास किया है, जो उन की उस भाषा की विद्वत्ता के कारण था, पर अधिकतर वे दिल्ली की सादगी, आडंबर-हीनता तथा भाव-स्पष्टीकरण ही के पोषक रहे हैं। फ़ारसी के शब्द तथा योजना की अधीनता इन कवियों के बाद कम होती गई, जैसा कि इन कवियों के शिष्यों में दृष्टिगोचर होता है।

मुहम्मद मोमिन ख़ाँ 'मोमिन' दिल्ली के निवासी थे। इनके पिता हकीम गुलामनबी थे, जिनके पिता हकीम नामदार खाँ शाह आलम बादशाह के समय अपने भाई कामदार खाँ के साथ आकर बादशाही हकीम हुए। इनके पूर्वज काश्मीरी थे। अंग्रेज़ी राज्य स्थापित होने पर इनकी जागीर झज्झर के नवाब को मिली, जिसके बदले में एक सहस्र रुपया वार्षिक इन्हें मिलना निश्चित हुआ। सन् १८०० ई० में मोमिन का जन्म हुआ। बचपन की साधारण शिक्षा प्राप्त कर शाह अब्दुल् कादिर से अरबी पढ़ा। इनकी मेधाशक्ति इतनी तीव्र थी कि एक बार सुन लेने से वह याद हो जाती थी। इन्होंने अपने पिता तथा पितृव्यों से हकीमी

मोमिन

सीखी, जो इनके वंश में चली आती थी। ज्योतिष पर भी प्रेम होने से इतनी योग्यता प्राप्त करली थी कि प्रश्नों के उत्तर तथा नक्षत्रों के फल ठीक बतलाते थे। शतरंज भी यह अच्छा खेलते थे। ज्योतिष तथा हकीमी को इन्होंने कभी व्यवसाय नहीं बनाया, क्योंकि ये इनके मनबहलाव के विषय थे। शारीरिक सौंदर्य तथा यौवन सभी के होने से आरंभ में इन्होंने खूब मौज किया पर शीघ्र ही उस मार्ग को छोड़कर कविता की ओर झुके। पहले कुछ दिन शाह नसीर को कविता दिखलाते थे पर बाद को अपनी कुशाग्र बुद्धि पर भरोसा रखा। इन्होंने कई बार दिल्ली छोड़ा पर उसका प्रेम इन्हें बार-बार वहाँ खींच लाता था। दिल्ली के कालेज में फारसी की प्राफेसरी के ग़ालिब के अस्वीकार करने पर टॉमसन साहब ने इनसे प्रस्ताव किया पर सौ रुपया महीने पर वहाँ जाना इन्होंने भी स्वीकार नहीं किया। कपूरथला राज्य से इन्हें साढ़े तीन सौ मिलते थे। पर उसी दर्बार में एक गायक को इतना ही वेतन मिलता है, यह सुनकर इन्होंने नौकरी छोड़ दी। टोंक के नवाब के यहाँ भी जाना इन्होंने स्वीकार नहीं किया। इनमें अहंकार की मात्रा अधिक थी, जिससे यह धनाढ्यों के आश्रय से दूर भागते थे। इनकी कविता में किसी आश्रयदाता की प्रशंसा नहीं मिलती। केवल एक कसीदा मिला है, जिसमें इन्होंने पटियाला नरेश महाराज कर्मसिंह के भाई राजा अचेतसिंह की प्रशंसा की है, जिसने एक हथिनी इन्हें पुरस्कार दिया था। प्राचीन तथा वर्तमान सभी कवियों पर घमंड के कारण व्यंग्य करते। शेखसादी पर कटाक्ष किया है कि उनकी रचना में हई क्या है। ग़ालिब और ज़ौक की कठोर आलोचना करते थे। सामयिकों में केवल मौलवी इस्माइल तथा ख्वाजा नसीर को मानते थे। इनके स्वभाव में शौकीनी थी। अच्छे कपड़े पहिरते थे। लंबे लंबे घुँघराले बाल थे, जिसमें उँगलियाँ बराबर फिराते रहते थे। सभी कविसभाओं में कविता भी बड़ी करुणापूर्ण आवाज़ से पढ़ते थे। सन् १८५२ ई० में गिरने से इनकी मृत्यु हुई।

इनकी कविता को सिलसिलेवार लगाकर कुल्लियात तैयार करने का पूरा श्रेय इनके शिष्य नवाब मुस्तफा खाँ 'शेफ्ता' को है। यह सन् १२४३ हि० में पूरा हुआ था, जिसकी तारीख 'दीवान बेनज़ीर अस्त' है, जो फारसी में लिखे गए तीन चार पृष्ठों की भूमिका में दिया है। इसमें क्रम से कसीदे, दीवान, फुटकर पद तथा छ मसनवियाँ हैं। नज़ीरी, हाफिज़, खुसरो आदि के फारसी तथा दर्द आदि के उर्दू शेरों पर तज़मीन तख़मीस आदि लिखा है। नामों पर मुअम्मे भी अच्छे लिखे हैं। पहेलियाँ और तारीख़ें भी हैं।

रचनाएँ

विचार-गाम्भीर्य तथा क्लिष्ट कल्पना इनकी विशेषता है। भाव तथा शब्द-योजना के सौकुमार्य में रूपक उपमादि अलंकार का संयोग कविता की श्री को खूब बढ़ाता है। प्रेम इनका अनुभूत विषय था, इससे इस विषय की कविता चित्ताकर्षक हुई है और विद्वत्ता तथा कवित्व शक्ति ने उसे और भी ऊँचे उठाया है। फारसी के विद्वान थे, इससे उस भाषा के शब्द, मुहावरों आदि का प्रयोग विशेष है पर कहीं कहीं हिंदी मुहावरों का भी अच्छा प्रयोग किया है। इनकी मसनवियों में ओज और करुणा का अच्छा सम्मिश्रण है, क्योंकि करुणहृदय से निकला है। किसी विरही की 'माशूक' के 'सितम' की शिकायतें इनमें भरी पड़ी हैं। कसीदे भी अच्छे और ओजपूर्ण हैं। उर्दू साहित्य के इतिहास में इनका स्थान अमर तथा ऊँचा है। इनके शिष्यों में शेफ्ता, तस्कीं, वहशत, नसीम आदि प्रसिद्ध कवि हैं, जिनका विवरण आगे दिया गया है। उदाहरण—

रचना-शैली

नाज़ब लज़्ज़त उठाने का बँधा ध्यान। लगे होने लगे हर बात पर कान ॥
मन क्योंकर कि है सब कार उलटा। हम उलटे, बात उलटी, यार उलटा ॥
(महतावराय)
मरज़ अपना नहीं अच्छा हुआ कुछ। तमामी उम्र ईसा ने दवा की ॥

खुशी न हो मुझे क्योंकर कजा के आने की।
खबर है लाश पे उस बेवफा के आने की॥

मेरा दिल ले लिया बातो ही बातो। चलो बोलो न बस तुमने दगा की।

उम्र सारी तो कटी इश्के बुताँ में 'मोमिन'।
आखिरी वक्त में क्या खाक मुसल्माँ होंगे॥

शेफ्ता

नवाब हाजी मुहम्मद मुस्तफा खाँ हौदल-पलोल के जागीरदार नवाब मुर्तज़ा खाँ मुजफ्फरजंग बहादुर के पुत्र थे, जिन्हें लार्ड लेक ने यह जागीर पुरस्कार में दिया था। नवाब मुस्तफा खाँ ने जहाँगीराबाद की रियासत क्रय की थी। इनका जन्म सन् १८०६ ई० में दिल्ली में हुआ था और ग़दर तक यह वहीं रहे। उसके बाद यह जहाँगीराबाद चले गए। इन्होंने फारसी में 'हसरती' और उर्दू में 'शेफ्तः' उपनाम रखा था। यह मोमिन के प्रिय शिष्य थे और उनकी मृत्यु पर 'ग़ालिब' से सहायता लेते थे। इनकी प्रतिभा तथा कवित्वशक्ति जन्मसिद्ध थी। यह शीघ्र ही प्रसिद्ध हो गए। इनके यहाँ कविसभाएं भी हुआ करती थीं। हज्ज से लौट कर ईश्वर की ओर मन लगाया। इन्होंने एक फारसी का और एक उर्दू का दीवान लिखा है। एक कुलियात में अन्य रचनाएँ हैं। यात्रा की एक पुस्तक तथा उर्दू कवियों का एक आलोचनात्मक सग्रह 'गुलशने बेखार' फारसी भाषा में लिखा है। इनकी आलोचनाशक्ति की ग़ालिब, हाली आदि ने बहुत प्रशसा की है। कविता में इन्होंने अपने गुरु मोमिन की शैली पकड़ी है और उसमें सूफियाना तथा उपदेशात्मक भाव विशेष लाए हैं। भावगांभीर्य, प्रौढ़ भाषा तथा विचारों की उच्चता इनकी कविता में स्थान स्थान पर दिखलाई देती है। उर्दू साहित्य के इतिहास में यह अमर हैं। उदाहरण—

देखते हम भी तो आराम से सोते क्योंकर।
न सुना तुमने कभी हाय फिसाना दिल का॥

इससे पूछूँ कि इसी मैल में कोई है उम्र ।
जैसा था हाल समझता है सगाना दिल का ॥
किस तरह दर्द मुहब्बत मैं बताऊँ तुमको ।
दर्द कहने से नहीं करता है दाना दिल का ॥
हम भी क्या शाद हैं क्या क्या है तमन्ना उसने ।
याबतक जिससे न जब हाल न जाना दिल का ॥

मीर हसन मौलाना के पुत्र मीर हुसन 'तसकीन' का वंश अमीरुल्उमरा हुसेन अली खाँ के घातक मीर हैदर काशगरी से मिलता है। इनका जन्म दिल्ली में सन् १८०२ ई० में हुआ था और यहीं इमामबख्श 'सहबाई' से शिक्षा प्राप्त की थी। कविता में नसीर और मोमिन को गुरु बनाया।

तसकीन

प्रसिद्धि तथा जीविका की खोज में लखनऊ और मेरठ गए पर अंत में रामपुर के नवाब यूसुफअली खाँ के यहाँ नौकरी लगी, जहाँ अंत तक रहे। यह नवाब सन् १८५५ ई० में गद्दी पर बैठे और सन् १८६५ ई० में मरे थे, इससे इसी बीच यह यहाँ रहे होंगे। इन्होंने अपने गुरु की शैली का अनुसरण किया है। यह वास्तव में सुकवि थे। इनके पुत्र मीर अब्दुर्रहमान 'आही' भी सुकवि हुए, जिन्हें नवाब कल्बअली खाँ रामपुर से वृत्ति मिलती रही। उदाहरण—

तुमको फिर काम से माजिम है बेगाना दिल का ।
सीने हैं सही लगावट से लगाना दिल का ॥

दिल्ली के एक सर्दार नवाब आग़ाअली खाँ के पुत्र नवाब असगरअली खाँ का पहले 'असगर' और फिर 'नसीम' उपनाम हुआ। इनका जन्म सन् १७९९ ई० में हुआ था।

नसीम

पिता की मृत्यु पर अन्य भाइयों के झगड़े के कारण यह एक भाई मिर्ज़ा अकबर अली के साथ लखनऊ चले गए। इनका स्वभाव तीव्र तथा आत्मसम्मानपूर्ण था, जिससे इन्होंने कष्ट पाते हुए भी लखनऊ में जीवन व्यतीत कर दिया।

यह अपने धर्म के कट्टर अनुयायी थे। रोज़ा, नमाज़ बराबर रखते थे। इन्होंने मौलवी इमामबख्श 'सहबाई' से शिक्षा प्राप्त की थी। कविता में 'मोमिन' के शिष्य थे। अरबी, फ़ारसी में अच्छी योग्यता प्राप्त की थी और साहित्य के अच्छे ज्ञाता भी थे। सन् १८७५ ई० के लगभग इनकी मृत्यु हुई। लखनऊ में नवलकिशोर प्रेस के लिए अलिफलैला की प्रथम जिल्द का पद्यानुवाद किया था पर प्रकाशक की जल्दी से चिढ़कर उस कार्य को छोड़ दिया, तब उसे तोताराम शायाँ ने पूरा किया था। इन्होंने बहुत कविता लिखी है, जिसका अनुसधान हो रहा है। जो दीवान प्राप्त हैं, उसे स्वयं उन्होने पसंद नहीं किया था। ग़ालिब ने इनकी प्रशसा की है और लखनऊ में अब्दुल्ला खाँ मेह्र, अशरफ़अली 'अशरफ़' तथा अमीरुल्ला 'तसलीम' इनके शिष्यों में से थे।

रचना

इनकी शैली मोमिन ही की सी थी। भाषा की दृष्टि से इनकी शब्दयोजना, लखनऊ के शब्दाडम्बर तथा क्लिष्ट योजना के विपरीत, परिमार्जित, सुगम तथा स्वाभाविक थी। इनकी कल्पना की नैसर्गिक सुंदरता तथा अनुपम वर्णना गुरुदत्त ही थी। मोमिन की शैली पर फ़ारसी शब्द योजना, भाव तथा विचार आदि का प्रयोग करते थे। उदाहरण—

अदम के जानेवालो बज़्मे जानाँ तक जो पहुँचोगे।
हमें भी याद रखना ज़िक्र गर दरबार में आए॥
भला किस तरह मेरे दिल से शक ऐ बदगुमाँ निकले।
वही कहना तुझे जिसमें नहीं निकले न हाँ निकले॥
नहीं दैरो हरम से काम हम उल्फ़त के बंदे हैं।
वही काबा है अपना आरज़ू दिल की जहाँ निकले॥
कुछ असर मुझ में न मेरे शेर में। हाय क्या मैं औ मेरी फ़रियाद क्या॥

शेख इब्राहीम 'ज़ौक़' के पिता शेख मुहम्मद रमज़ान नवाब लुत्फ़-अली खाँ की महलसरा के विश्वासी दरबान थे। इन्हीं के एकलौते

पुत्र ज़ौक़ का जन्म सन् १७९० ई० (१२०४ हि०) में दिल्ली में हुआ था। जब यह पढ़ने योग्य हुए तब मौलवी हाफ़िज़ गुलाम रसूल 'शौक़' के यहाँ इन्होंने

ज़ौक़

शिक्षा प्राप्त की। इन्हीं के संसर्ग से तथा इनके साथ कवि-सभाओं में जाने से इनमें भी कविता करने की इच्छा प्रगट हुई। इन्होंने मौलवी साहब के उपनाम ही के वज़न पर अपना उपनाम 'ज़ौक़' रखा। आरम्भिक कविता इन्हीं मौलवी से ठीक कराते थे पर जब इनके एक मित्र मीर काज़िम हुसेन अली शाह नसीर के शिष्य हुए तब यह भी उन्हीं के शिष्य हो गए। शाह नसीर अपने समय के सुप्रसिद्ध उस्तादों में से थे पर शिष्य की प्रतिभा, भाव-गांभीर्य तथा शब्द-योजना देख कर ईर्ष्या करने लगे और इसलाह देना तो दूर इनको अपदस्थ करने की चेष्टा करने लगे, तब इन्होंने स्वयं अपनी कविता ठीक करना आरंभ किया और किसी गुरु के फेर में न पड़े। यह अध्ययनशील थे, इसीलिए शीघ्र अच्छी योग्यता प्राप्त हो गई और कवि-सभाओं में बिना शुद्ध की हुई कविता पढ़ने लगे। शीघ्र ही इनकी प्रसिद्धि हो गई और अकबर शाह द्वितीय के उत्तराधिकारी मिर्ज़ा अबू ज़फ़र 'ज़फ़र' के दरबार में अपने मित्र काज़िम हुसेन 'बेक़रार' के साथ पहुँचे। जब शाह नसीर दक्षिण चले गए तब युवराज की कविता ठीक करने का कार्य मीर काज़िम हुसेन 'बेक़रार' को मिला, पर उन्हीं दिनों जान एलफिंस्टन साहब के मीर मुंशी नियत होकर यह उनके साथ चले गए तब ज़ौक़ इस कार्य को करने लगे। इन्हें चार रुपये महीना वेतन मिलने लगा। उस समय बादशाह की कोप-दृष्टि के कारण युवराज को पाँच सहस्र के बदले पाँच सौ रुपया महीना मिलता था, इसी से सभी का वेतन कम था। उसी समय मुग़ल दर्बार के सर्दार नवाब इलाही बख़्श खाँ 'मारूफ़' ने, जो सुकवि और ग़ालिब के श्वसुर थे, इनकी प्रसिद्धि सुनकर इनको बुलाया और इन्हें अपनी कविता ठीक करने के लिए नियुक्त किया। मारूफ़ के नाम से जो

दीवान अब मिलता है, वह लगभग कुल इन्हीं का ठीक किया हुआ है।

इस कार्य से जौक को बहुत लाभ पहुँचा। नवाब साहब दानी भी थे, जिससे इन्हें आय का कष्ट नहीं हुआ। दक्षिण में कई वर्ष रह-कर जब शाह नसीर दिल्ली लौटे तब यह कवि-सभा में फिर आने लगे। शाह नसीर ने इनकी प्रसिद्धि से कुढ़कर अपने एक शिष्य को इनकी कड़ी आलोचना करने तथा अशुद्धि निकालने को उभाड़ दिया। इससे आपस में खूब बहस हुई पर अंत में इन्हीं की विजय हुई। इसी बीच एक कसीदे पर प्रसन्न होकर अकबर शाह ने इन्हें 'खाक़ा-निए हिंद' की पदवी दी। जब 'ज़फर' बादशाह हुए तब इनका वेतन सौ रुपया हो गया। इन्हें खान बहादुर का पदवी, जागीर तथा बहुत धन मिला। यह सन् १८५५ ई० में ६६ वर्ष (चांद्र वर्ष के अनुसार ६८) की अवस्था में मरे।

जौक ग़ज़ल तथा क़सीदा लिखने में उस्ताद थे। नवाब हामिद अली खाँ के कहने पर 'नामए जहाँसोज़' मसनवी लिखी, जो अपूर्व थी और बलवे नष्ट हो गई। मुसम्मस, क़ितः तथा तारीख भी लिखते थे, जिनमें कुछ मिलते हैं। ठुमरी आदि गाने की चीजें भी बनाई थी, जिन्हें 'ज़फ़र' ने अपना लिया। प्रो० आज़ाद ने इनकी प्राप्त कविता का जो संग्रह प्रकाशित कराया है वह इनसे आशु कवि की पचास वर्ष क रचना के लिए बहुत ही कम है पर बादशाह 'ज़फर' की कविता ठीक करने में इनका बहुत समय व्यय हो जाता था और बलवे में इनका कविता बहुत कुछ नष्ट भी हो गई। जौक ने भाषा को अधिक महत्व दिया। इन्होंने रूपक-उपमादि अलंकारों को विशेषता न देकर भाषा को लद्दू नहीं किया। इनकी स्मरणशक्ति तीव्र थी, जिससे इन्हें सहस्रों शेर याद थे। इन्होंने गानविद्या, ज्योतिष तथा हकीमी तीनों ही आरंभ में कुछ कुछ सीख कर छोड़ दिया था। यह अध्ययनशील थे और अंत

रचनाएँ

तक पुस्तकावलोकन करते रहे। इतिहास, सूफी धर्म आदि के ग्रन्थों का खूब मनन करते थे।

कविता में भाषा को यहाँ तक प्रधानता देते थे कि भाव-गांभीर्य तथा कल्पनाशक्ति को उससे आगे गौण ही बना रहना पड़ता था। शैथिल्य-दोष ढूँढे नहीं मिलता और ओज तथा प्रसाद गुण सर्वत्र मिलता है। यही कारण है कि यह कसीदा लिखने में सबसे आगे बढ़ गए हैं। गज़ल में इन्होंने मीर, जुरअत आदि सब कवियों की शैलियों को सफलतापूर्वक निबाहा है जिससे इनका संग्रह रंग बिरंगे फूलों का गुच्छा कहलाता है। यह फारसी के विद्वान नहीं प्रसिद्ध थे, इससे प्रायः लोग इनकी विद्वत्ता पर शंका करते थे। इनके समकालीन कवियों में केवल एक 'गालिब' ही थे, जिनसे इनकी तुलना की जा सकती है। भाषा-सौष्ठव, माधुर्य तथा ओजपूर्ण कसीदों में जौक़ बढ़कर थे पर 'गालिब' में प्रतिभा तथा विद्वत्ता अधिक थी। भाषा को परिमार्जित करने तथा व्यावहारिक मुहाविरों के सुप्रयोग में इन्होंने खूब प्रयत्न किया है। काव्यकला के पूर्ण ज्ञाता होने से भाषा में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आने पाई है। इन्हीं गुणों के कारण जौक़ उर्दू साहित्य में समुज्वल रत्न के रूप में प्रतिष्ठित और अमर हैं।

उदाहरण—ए शमअ तेरी उम्र तबीई है एक रात।
रोकर गुज़ार या इसे हँसकर गुज़ार दे॥
इलाही कान में क्या उस सनम ने फूँक दिया।
कि हाथ रखते हैं कानों पै सब ख़ुदा के लिए॥
हस्ती से ज़ियादः है कुछ आराम अदम में।
जो जाता है वाँ से वह दुबारा नहीं आता॥
क्या जाने उसे वहम है क्या मेरी तरफ से।
जो ख़्वाब में भी रात को तनहा नहीं आता॥
ज़ाहिद शराब पीने से काफ़िर बना मैं क्यों?
क्या डेढ़ चिल्लू पानी में ईमान बह गया॥

ऐ 'जौक' किसको चश्मे हिक़ारत से देखिए।
सब हमसे हैं जियादः कोई हमसे कम नहीं॥
समझ ही में नहीं आती है कोई बात 'जौक़' उनकी।
कोई जाने तो क्या जाने कोई समझे तो क्या समझे॥
बेकरारी का सबब हर काम की उम्मीद है।
नाउमेदी से मगर आराम की उम्मीद है॥

जौक़ के सैकड़ों शिष्य हुए पर उनमें दाग़, आज़ाद, ज़फर, ज़हीर और अनवर प्रसिद्ध हो गए हैं। प्रथम दो का विवरण आगे दिया गया है और तीसरे का दिया जा चुका है। यहाँ अंतिम दो का वृत्तांत दिया जाता है। ये दोनों सगे भाई थे, जिनके पिता मीर जलालुद्दीन हैदर और दादा मीर इमामअली नसब सुंदर लिपि लिखने के लिए प्रसिद्ध थे तथा दिल्ली दरबार में नौकर थे। जहीर भी ज़फर बादशाह के यहाँ नौकर हुए और रक़ुमुद्दौला की पदवी तथा कलमदान पुरस्कर मे पाया। चौदह वर्ष की अवस्था में 'जौक' के शिष्य हुए। सन् १८५७ ई० के ग़दर में यह दिल्ली से भागे और झज्झर, सोनीपत आदि में घूमते हुए कुछ साल रामपुर में रहे। यहाँ से दिल्ली लौट कर कुछ दिन म्युनिसिपैल्टी में नौकरी की फिर 'जलवए नूर' के सपादक होकर बुलंदशहर गए। यहाँ से महाराज शिवदान सिंह के बुलाने पर अलवर गए, जहाँ चार वर्ष के लगभग रहकर जयपुर चले गए और 'शेफ्ता' की सहायता से पुलिस विभाग में १९ वर्ष तक नौकर रहे। सन् १८८० ई० में महाराज रामसिंह की मृत्यु हो जाने पर यह टोंक गए जहाँ पंद्रह वर्ष तक रहे। यहाँ से यह अंतिम समय हैदराबाद गए, जहाँ महाराज कृष्णप्रसाद ने इनकी सहायता की। निजाम दर्बार से वेतन नियुक्त होने के पहले ही यह मृत्यु-मुख में चले गए।

जहीर

इन्होंने चार दीवान लिखे थे, जिनमें तीन छप चुके हैं। पहला गुलगश्तए-सखुन के नाम से छपा है और दो बंबई के करीमी प्रेस ने

खरीदे हैं। जहीर प्रसिद्ध कवि हुए हैं। यद्यपि यह जौक़ के शिष्य थे पर इनकी शैली मोमिन की थी। पुरानी उर्दू के यह अंतिम उस्ताद माने जाते हैं। इनके एक शिष्य नजमुद्दीन अहमद 'साक़िब' बदायूनी थे, जिन्हें यह पहलवाने सखुन कहते थे।

मुस्तानुद्दौला मीर शुजाउद्दीन प्रसिद्ध नाम उमराव मिर्जा 'अनवर' 'जहीर' के छोटे भाई थे। पहले जौक़ के शिष्य हुए और उनकी मृत्यु पर ग़ालिब से इसलाह लेते रहे। यह प्रतिभाशाली तथा भावुक कवि थे। इनकी कविता सुनकर अच्छे अच्छे कवि प्रशंसा करते थे। बलवे के दस वर्ष बाद जो कवि-सभा इन्होंने दिल्ली में आरंभ की उसमें दाग़, जहीर, हाली मजरूह, सालिक, अर्शिक, असद, मुश्ताक आदि प्रसिद्ध कवि एकत्र होते थे। उनमें इनकी कविता ही कभी कभी सर्वोत्तम समझी जाती थी। बलवे के कारण अधिक कष्ट पाकर यह भी जयपुर चले गए थे, जहाँ ३८ वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु हो गई। इन्होंने जौक़, ग़ालिब तथा मोमिन तीनों ही की शैली ग्रहण की थी और उन्हें मिला कर एक नया रंग निकाला था। इनके दो पूरे दीवान नष्ट हो गए पर लाला श्रीराम एम० ए० ने बहुत परिश्रम करके इनकी प्राप्त कविता का दीवान में सम्मीश्र देकर प्रकाशित कराया है। जौक़ के प्रकाशित दीवान के संपादन में हाफ़िज़ वीरान, जहीर और अनवर ने बहुत परिश्रम किया था। उदाहरण—

मुद्दतों में भी क्या से क्या हो गया। सिर्फ़ आशिक़ी का पता हो गया॥
मिलेंगे तुम से यह क्यों कर गुमाँ हो। गुमाँ जिस जा न पहुँचे तुम वहाँ हो॥
इस क़दर महव तहय्युर हूँ कि मैं। मिल गया तुम में तुम्हारी याद से॥
तुझ से दिल का गुबार मिट न सका। अपने को हम मिटाए बैठे हैं॥

नसीरुद्दीन 'नसीर' दिल्ली के निवासी शाह ग़रीब के लड़के थे। यह काले होने के कारण मियाँ कल्लू भी कहलाए। यह नायल के शिष्य थे। यह पहले शाह आलम के दरबार में पहुँचे पर बाद

नसीर

को लखनऊ तथा हैदराबाद कई बार गए। हैदराबाद में उर्दू कविता को प्रोत्साहन दिया और वहीं सन् १८४० ई० में मरे। इनका रचनाकाल प्रायः साठ वर्ष लंबा था और इन्होंने बहुत कविता लिखी पर एक लाख शैर के लगभग अभी मिलते हैं। इन के शिष्य महाराजसिंह ने इनका एक संग्रह तैयार किया है।

यह प्रसन्न चित्त, विनोदी तथा विनम्र थे। यह सुन्नी होते हुए कट्टर नहीं थे। इनमें अहंकार नहीं था और इस कारण जिसमें घमंड का लेश भी देखते उससे चिढ़ जाते थे। ज़ौक से इसी कारण यह रञ्ज हो गए थे। इन्हें कठिन तरह में कविता करना पसंद था और इससे इनकी रचना में क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग अधिक है। इन्हें दृष्टांत देना अधिक प्रिय था। यह बहुत बड़े विद्वान नहीं थे पर बहुत से प्रसिद्ध कवि इनके शिष्य थे। यह दिल्ली में अपने गृह पर कवि-सभाएँ करते थे, जिनमें प्रायः सभी प्रसिद्ध कवि आते थे। उदाहरण—

चश्म वह क्या है कि जिसमें एक भी अफसूँ नहीं।
आबरू तब है सदफ़ की जबकि हो गौहर समेत॥
तूने क्यों सैयाद फेंका लाशए बुलबुल को आह।
दाब देना था कहीं गुलशन में बालो पर समेत॥

गालिब

उर्दू के सर्वोत्तम कक्षा के कवियों के अग्रणी महाकवि गालिब का पूरा नाम नज्मुद्दौला दबीरुल्मुल्क मिर्जा ग़ालिब असदुल्ला खाँ 'ग़ालिब' था। यह पहले 'असद' उपनाम करते थे पर एक अन्य साधारण कवि के वही उपनाम रख लेने पर उसे छोड़ 'ग़ालिब' रखा। यह मिर्जा नौशः के नाम से प्रसिद्ध थे। इनका जन्म सन् १७९६ ई० में आगरे में हुआ था। इनका वंश मध्य एशिया के उस प्राचीन तूरानी वंश से मिलता है, जिसका प्रथम प्रसिद्ध बादशाह अफरासियाब था। ईरान के कयानी वंश के बढ़ते हुए प्रताप के आगे इस वंश का राज्य नष्ट हो

गया। कई शताब्दियों के अनंतर राज्यलक्ष्मी की कृपा फिर हुई और ईरान के तख्त पर सेलजुकी वंश के नाम से यह वंश पुनः प्रतिष्ठित हुआ। कई पीढ़ियों के अनंतर सेल्जुकी वंश का भी अंत हो गया। मिर्जा गालिब के पितामह पहले पहल भारत आए और शाह आलम बादशाह की सेना में भरती हो गए जिनकी मृत्यु पर इनके पिता मिर्जा अब्दुल्ला बेगखाँ लखनऊ में आसफुद्दौला के यहाँ चले आए पर कुछ दिन बाद निजामअली खाँ के दरबार में हैदराबाद गए। थोड़े ही दिनों बाद वहाँ से भी हट गए। अलवर-नरेश राजा बख्तावरसिंह की नौकरी की और वहीं एक युद्ध में मारे गए। उस समय गालिब की अवस्था केवल पाँच वर्ष की थी। इनके चाचा नसरुल्ला खाँ बेग मरहठों की ओर से आगरे के सूबेदार थे। सन १८०६ ई० में अंग्रेजी राज्य होने पर आगरा कमिश्नरी हो गई और यह चार सौ सवारों के अफसर नियत हुए तथा जागीर पाई। परंतु यह भी सन् १८०६ ई० में गालिब को नौ वर्ष का छोड़कर मर गए। तब इनके ननिहाल वालों ने इनका पालन किया। इनके पूर्वजों की बहुत सी संपत्ति नष्ट हो गई पर भारत सरकार की ओर से इन्हें पेंशन बराबर मिलती रही। आगरे ही में इन्हें आरंभिक शिक्षा मिली। मियाँ नजीर अकबराबादी से, कहा जाता है कि, कुछ शिक्षा इन्हें मिली थी। जिस समय इनकी अवस्था चौदह वर्ष की थी, उस समय हुर्मुज नामक एक पारसी विद्वान से, जो यात्रा करता हुआ भारत आकर मुसलमान हो गया था और अपना नाम अब्दुस्समद रखा था, भेंट हुई। इन्होंने उसे दो वर्ष तक अपने यहाँ अतिथि बनाकर रखा और उससे अरबी तथा फारसी सीखी। यह पहले फारसी में कविता करते थे पर समय के प्रभाव से कुछ दिनों के अनंतर उर्दू में कविता करने लगे। सन् १८२९ -३० ई० में जागीर के बदले में जो पेंशन इन्हें मिलती थी, वह बंद हो गई। उसके लिये प्रयत्न करने यह कलकत्ते गए और लगभग दो वर्ष वहाँ रहकर तथा असफल प्रयत्न हो कर लौट आए। सन् १८४१

ई० में दिल्ली कॉलेज में फारसी की प्रोफेसरी की नियुक्ति के लिये इनसे प्रस्ताव किया गया। उसी भाव से यह आगरा-सरकार के सेक्रेटरी मिस्टर जेम्स टौमसन से मिलने गए पर इनका स्वागत करने कोई नही आया, इससे इन्होंने अस्वीकार कर दिया। १८४७ ई० के लगभग जुए के अपराध में इन्हें तीन मास को कैद की सजा मिली, जो उस समय के कोतवाल की दुष्टता थी। सन १८७५ ई० में बहादुरशाह द्वितीय ने इन्हें नज्मुद्दौला दबीरुल्मुल्क निजामजंग की पदवी दी और तैमूरी वंश का इतिहास लिखने के लिये पचास रुपये मासिक पर इन्हें नियुक्त किया। सन् १८५४ ई० में वाजिदअलीशाह ने इनकी योग्यता से प्रसन्न हो कर इन्हें पाँच सौ रुपया की वार्षिक वृत्ति दी पर दो ही वर्ष बाद वे स्वयं राज्यच्युत हो गए। इसी वर्ष बहादुरशाह द्वितीय की कविता ठीक करने के लिए पचास रुपये मासिक पर यह नियुक्त हुए। बलवे में बहादुरशाह के संबंध के कारण इन पर शंका की गई और इनकी पेंशन बंद कर दी गई। जब इन्होंने कुल आक्षेपों का ठीक ठीक उत्तर देकर हाकिमो को संतुष्ट कर दिया तब वह पेंशन फिर मिलने लगी। इसी बीच यह रामपुर गए, जहाँ के नवाब युसुफअली खाँ सन् १८५५ ई० ही में इनके शिष्य हो चुके थे। सन् १८५९ ई० में इन्होंने ग़ालिब को सौ रुपये की मासिक वृत्ति देकर अपने यहाँ बुला लिया। यह कुछ दिन प्रतिष्ठा के साथ वहाँ रह कर दिल्ली लौट आए और पेंशन के मिल जाने के कारण यहीं जीवन के अंतिम दिन व्यतीत किए। यहीं सन् १८६९ ई० में लगभग कहत्तर वर्ष (सौर) की अवस्था में परलोक सिधारे। गालिब के पत्र-संग्रह को देखने से यह ज्ञात होता है कि पत्रोत्तर देने में यह आलस्य नहीं करते थे। मित्रों के प्रति उनमें कितना प्रेम तथा उदारता थी, यह भी उसी संग्रह से मालूम होता है। यह मिलनसार और उदारहृदय थे, जिससे इनके मित्र तथा प्रशंसक बहुत थे। इनमें न किसी धर्म के लिए अंध-विश्वास या कट्टरपन था और न किसीके लिये घृणा। इसी से हिंदू, मुसलमान

सभी इनके मित्र थे। मुंशी हरगोपाल तुफ्ता इनके अंतरंग मित्रों में से थे और फारसी के अच्छे कवि थे। गालिब स्वयं धनाढ्य न होने पर भी मित्रों की सहायता करते थे। इनमें आत्मसम्मान की मात्रा अधिक थी और विचार-स्वातंत्र्य भी था। साथ ही नम्रता, शील तथा स्नेह भी कम न था। अपना सम्मान चाहते हुए दूसरों का भी सम्मान करना जानते थे। इनका पारिवारिक जीवन संतोषजनक नहीं था। इन्हें कोई संतान नहीं थी और स्त्री से भी प्रेम नहीं था। अंतिम काल में धन की कमी आरिफ नामक एक मित्र की मृत्यु और स्वास्थ्य-हानि से इन्हें बहुत कष्ट मिला, जिसका कुछ प्रभाव इनकी कविता पर पड़ा है। संसार के सुख दुःख दोनों ही का इन्हें अनुभव हुआ था। गालिब विनोद प्रिय और प्रसन्न-चित्त मनुष्य थे, इससे इन दुःखानुभव में आशा का संचार मिलता है। इनके विनोदपूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तर की कहानियाँ प्रचलित हैं।

अल्पावस्था ही में पिता की मृत्यु हो जाने से इन्होंने साधारण शिक्षा पाई थी। फारसी पर इनका इतना ममत्व था कि इन्होंने उसी में कविता की थी और उसी को अपनी प्रसिद्धि का आधार मानते थे। उर्दू कविता तो समय के प्रवाह में पड़कर मित्रों के अनुरोध से लिखी गई थी। पर आज गालिब की प्रसिद्धि उसी की आश्रित है। पठन-पाठन पर विशेष रुचि थी, जिससे इनकी प्रतिभा और विद्वत्ता विकसित होती चली गई। अरबी साहित्य का भी मनन किया था और ज्योतिष भी जानते थे। फारसी तथा उर्दू के रीति ग्रंथों का खूब मनन किया था और उनके पूर्ण ज्ञाता थे। यह प्रतिभाशाली, विद्वान् तथा अभ्यास प्रिय कवि थे और यही इनकी अमर प्रसिद्धि का कारण है। इनकी रचनाओं में 'ऊदए हिंदी' और 'ऊदए मुअल्ला' इनके पत्र संग्रह हैं, जो इनके गद्य के अच्छे नमूने हैं। प्रथम में कुछ निबंध भी हैं। मैकूल्हक उपनाम से लिखा गया 'लताइफे ग़ैबी' संग्रह मात्र है। 'बुर्हानेक़ातेअ' नामक प्रसिद्ध कोष की कुछ अशुद्धियों

को इन्होंने 'क़ातए बुर्हान' नामक पुस्तक में दिखलाया है, जिसका दूसरी बार 'दुरफ़्शे कावेयानी' नाम रखा। इसपर आक्षेप हुए, जिसका इन्होंने 'तेग़े तेज़' और 'नामए ग़ालिब' में समाधान किया है। 'पंच आहंग' फारसी का गद्य ग्रंथ है। फारसी के कुलियात में बादशाह, अवध के नवाब, गवर्नर आदि पर लिखे गए क़सीदे ग़ज़ल आदि हैं। बहादुरशाह द्वितीय की आज्ञा से फारसी में 'मेह्र नीम रोज़' नामक एक इतिहास लिखा, जिसमे अमीर तैमूर से हुमायूँ तक का वृत्तांत है। दूसरे भाग 'माह नीम' में अकबर से लेकर बहादुर शाह तक का इतिहास लिखने का विचार था पर बलवे ने ऐसा न होने दिया। 'दस्तबू' मे फारसी गद्य मे ११ मई सन् १८५७ ई० से १ जुलाई १८५८ ई० तक के बलवे का आँखों देखा वर्णन है। कुलियात में न संग्रहीत हुए कुछ क़सीदे, क़िते, पत्र आदि 'सबदचीं' में संकलित हुए हैं। उर्दू का इनका जो दीवान अब प्राप्त है, वह संक्षिप्त है, जिसे इनके दो मित्रों ने संकलित किया था। संक्षिप्त करने में केवल क्लिष्ट शैर निकाले गए हैं।

इतिहास में स्थान और रचना शैली

अपने पद्य तथा गद्य कृतियों के कारण फारसी के साहित्येतिहास में इनका स्थान बहुत ऊँचा है और खुसरो, फ़ैज़ी आदि प्रसिद्ध भारतीय कवियों के ये समकक्ष माने जाते हैं। उर्दू साहित्य के इतिहास में इनका स्थान इससे भी ऊँचा है और इने-गिने ही कवि इनकी बराबरी कर सकते हैं। उर्दू के यह तुलसीदास या सूरदास हैं। इनका जो दीवान प्राप्त है, उसमें अठारह सो शैर हैं, जो बड़े दीवान का संक्षिप्त संस्करण कहा जा सकता है। यह सन् १८४९ ई० में प्रकाशित हुआ था। गालिब ने आरंभ में प्रायः प्रौढ़ावस्था तक प्रकृत्या फारसी की विद्वत्ता दिखलाने के लिये फारसी शब्दावली, मुहाविरे आदि का इतना अधिक प्रयोग किया था कि दो चार शब्दों के हेर फेर से उर्दू फारसी हो जाती थी पर उक्त अवस्था में पहुँचने पर इन्होंने अपनी यह दुर्बलता

समझ ली और अपने मित्रों की राय तथा उनके आलोचनात्मक विचारों से प्रभावान्वित होकर यह फ़ारसी की परतन्त्रता से मुक्त हुए। यद्यपि फ़ारसी की प्रचलित शब्द-योजना, मुहाविरे, कथानक आदि का इसके बाद भी प्रयोग किया है पर यह विशेष नहीं खटकता। भाषा पर इनका अधिकार बहुत बढ़ गया था और यह थोड़े शब्दों में इतना भाव भर देते थे, पद्य में ऐसा सरल प्रवाह रहता था और मौलिकता तथा सौकुमार्यादि गुण से उसे ऐसा सुपाठ्य कर देते थे कि पाठक पढ़कर आनंद विभोर हो उठते थे। इनकी कविता में केवल पिष्टपेषण नहीं था प्रत्युत् भाव-व्यंजना, अलंकार-विधान, कल्पना तथा वाग्-योजना सभी में इनकी प्रतिभा तथा मौलिकता की छाप स्पष्ट है। यह कविता करने नहीं बैठते थे पर जब भाव उमड़ आते थे तभी उन्हें कविता में ढाल देते थे, जिससे कोरी तुकबंदी से यह बच गए। इन्होंने जीवन में जो कुछ दुख-सुख उठाए थे उन सब अनुभूतियों को कविता में स्थान दिया है, जिसमें कहीं आशा की झलक है, तो कहीं निराशा का अंधकार है, कहीं आनंद की झनकार है तो कहीं शोक का उद्गार है। तात्पर्य यह कि कविता में इन्होंने अपना हृदय खोल कर रख दिया है और इसी से यह इतनी आकर्षक हो गई है। धर्म के विषय में इनके विचार बहुत कुछ स्वतंत्र थे और यह छोटे छोटे दायरों में स्थित धर्मों से बहुत कुछ ऊँचे उठ गए थे। भावावेश में इन्होंने स्वर्ग-नर्क, पुण्य-पाप, जीवन-मृत्यु आदि के रहस्य पर छोटे छोटे शेरों में ऐसे मार्के की बात कह दी है कि वे प्रत्येक विचारवान के लिये विचारणीय है। ग़ालिब का हृदय अत्यंत कोमल था, जिस पर ज़रा ज़रासी बातों का असर पड़ता था और उन सब की इनकी कविता पर छाया वर्तमान है। इनकी विनम्रता और विनोदप्रियता भी इन्हीं सी है। कहाँ कहाँ ऐसा लिखा है कि पढ़कर हृदय करुणा से भर आता है और साथ ही बरबस हँसी भी आ जाती है। बातें इतनी गूढ़ कहते थे कि सोच विचार कर भी अर्थ लगाना कठिन हो जाता

था अर्थात् कुल मतलब कह देते थे और पाठकों को समझने के लिए भी बहुत कुछ छोड़ देते थे। उदाहरण—

मै से गरज निशात है किस रूसियाह को।
एक गूना वेखुदी मुझे दिन रात चाहिए॥
अबतो घबराके यह कहते हैं कि मर जाएँगे।
मरके भी चैन न पाया तो किधर जाएँगे॥
देखना तकदीर की लज्जत कि जो उसने कहा।
मैंने यह जाना कि गोया यह भी मेरे दिल में है॥
उनके देखे से जो आ जाती है मुँह पर रौनक।
वह समझते हे कि बीमार का हाल अच्छा है॥
हमको मालूम है जन्नत की हकीकत लेकिन।
दिल के खुश रखने को 'ग़ालिब' यह ख्याल अच्छा है॥
गर्मी सही कलाम में लेकिन न इस कदर।
की जिससे वात उसने शिकायत जरूर की॥
'गालिब' बुरा न मान जो वाएज बुरा कहे।
ऐसा भी कोई है कि सब अच्छा कहें उसे॥
कर्ज की पीते थे मै लेकिन समझते थे कि हाँ।
रंग लाएगी हमारी फाक़ामस्ती एक दिन॥
इश्क ने 'गालिब' निकम्मा कर दिया। वर्ना हम भी आदमी थे काम के॥
इशरते कतरः है दरिया में फना हो जाना।
दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना॥

ग़ालिब के बहुत से शिष्य थे परंतु उनमें से हाली, रख्शाँ, जकी, मजरूह, मुंशी हरगोपाल तुफ्ता, मुंशी बिहारीलाल मुश्ताक आदि प्रमुख हैं। हाली का विवरण आगे दिया जायगा और अन्य शिष्यो मे से दो तीन का यहाँ कुछ हाल दे दिया जाता है।

नवाब जियाउद्दीन अहमद खाँ उर्दू में 'रख्शाँ' और फारसी में

'नैयर' उपनाम करते थे। यह ग़ालिब के प्रिय शिष्य तथा संबंधी थे।

रख्शाँ — इनकी पिढ़ता खूब बढ़ी चढ़ी थी और अपनी अच्छी धनाशक्ति के कारण यह विद्वत्समाज में मान्य थे। इतिहास से भी शौक था। इनके दो भाइयों ने शाकिब और साक़िब उपनाम से कविता की है। इनके वंश में बाद को भी कई कवि हुए हैं।

नवाब मुहम्मद ज़िकरिया खाँ दिल्ली 'ज़र्की' का जन्म दिल्ली में सन् १७६९ ई० में हुआ था। उर्दू, फ़ारसी तथा अरबी की यहीं शिक्षा

ज़की — पाई और ज्योतिष, तिब, सूफ़ी धर्मतत्व आदि में भी इनका गम था। यह खुशलिपि लिख लेते थे तथा गायन-वादन का भी शौक था। कविता खूब लिखी है और कवि-समाज में भी बहुत जाते थे। बड़े बलवे में यह भी दिल्ली से निकले और डिप्टी इंसपेक्टर और स्कूल्स हो कर कई स्थाना में घूमते अंत में बदायूँ जा बसे, जहाँ सन् १९०२ ई० में मर गए।

मीर मह्दी 'मजरूह' ग़ालिब के अत्यंत प्रिय शिष्य तथा दिल्ली-निवासी थे। बड़े बलवे में यह भी दिल्ली छोड़कर पानीपत में जा

मजरूह — बसे पर शांति स्थापित होने पर लौट आए। कुछ दिन बाद जीविका की खोज में यह पहले अलवर के राजा शिवदान सिंह के यहाँ कुछ दिन रहे और बाद को रामपुर गए जहाँ अंत तक रहे। इन्हें छोटी बहरें पसंद थीं और उन्हीं में अच्छा लिखा है। इनका दीवान 'मज़हरे मआनी' के नाम से छप गया है।

इस काल में मौलवी मुफ्ती सदरुद्दीन खाँ 'आज़ुर्दा' एक विशिष्ट पुरुष हो गए हैं, जो अरबी, फारसी तथा उर्दू की अपनी विद्वत्ता के

आज़ुर्दा — कारण बहुत प्रसिद्ध तथा सम्मान्य व्यक्ति थे। सरकार ने इन्हें सदरुस्सुदूर नियत किया था जो पद प्रायः जिलाजज के बराबर था। ग़ालिब, ज़ौक़,

मोमिन आदि इनके मित्र वर्ग में थे और सर सैयद अहमद इनके शिष्य थे। यह रामपुर तथा भोपाल के नवाबों के शिक्षक नियत हुए थे। यह अपनी उर्दू कविता शाह नसीर को दिखलाते थे। इन्होंने एक दीवान तथा एक संग्रह (तजकिरा) लिखा है। यह इक्यासी वर्ष की अवस्था में सन् १८६८ ई० में दिल्ली में मरे।

आठवाँ परिच्छेद

लखनऊ साहित्य-केंद्र—नासिख और

आतिश—अवध के कवि नवाबगण

औरंगजेब की मृत्यु के अनंतर अठारहवीं शताब्दी ईसवी के आरंभ के साथ-साथ मुग़ल साम्राज्य की अवनति तथा उत्तरापथ में उर्दू साहित्य की उन्नति आरंभ होती है। जिस कल्प लखनऊ साहित्य-केंद्र तरु के आश्रय में यह फलने-फूलने आई थी जब वही शीघ्र उन्मत्त द्विरदों के धक्के से नष्ट हो गया, तब उसे अन्य आश्रय खोजना पड़ा। नादिरशाह, अहमदशाह, मराठों और जाटों की लूट-मार से दिल्ली नाम मात्र की राजधानी रह गई और उसका ऐश्वर्य और वैभव लुप्त हो गया। कवितृष्णा थोथे वाह वाह तथा पदवियों से क्यों तृप्त होने लगी। साम्राज्य के प्रांतीय अध्यक्षगण धीरे धीरे स्वतंत्र हो कर राज्य स्थापित कर रहे थे और उनके राजकोष परिपूर्ण थे, इससे जब दिल्ली के सुप्रसिद्ध कविगण धवला की खोज में स्वयं चंचल हो उठे तब पास ही ऐश्वर्यशाली विख्यात् दानी आसफुद्दौला के यश को सुनकर क्रमश: वे उसके आश्रित होने को लखनऊ पहुँचने लगे। मीर, सौदा, मुसहफी, इंशा आदि सभी इस नए छत्रच्छाया में पहुँच गए और उस क्षेत्र में ऐसा बीजारोपण किया कि वह आगे चलकर एक नया साहित्य-केंद्र बन गया। अवध के नवाबगण दिल्ली-सम्राटों से कवि बनने तथा कवियों के आश्रय देने में पीछे पड़ना नहीं चाहते थे इसलिए वे इन आगंतुकों को बराबर सम्मानित और धन तथा पदवियों से पुरस्कृत करते रहे। साधारण कविगण भी इस उदारता से वंचित न रहे। पर यह संपर्क दोनों ही के लिए विशेष लाभदायक नहीं हुआ। मीर और सौदा से

आत्मसम्मानपूर्ण कवियों को छोड़ अन्य सभी अपने स्वामियों को प्रसन्न करने मे इस प्रकार दत्त चित्त हो गए कि वे कविता-कामिनी की शालीनता का कुछ भी विचार न कर भँड़ैती तक करने पर उतारू हो गए। इन कवियों के संबंध से विषय-वासनादि में आसक्त नवाब-गण और भी शीघ्र तल्ल लोक में पहुँच गए। परंतु उर्दू कविता यहाँ का प्रोत्साहन पाकर खूब परिपुष्ट हो गई। अवध के नवाबो के सिवा यहाँ अन्य लक्ष्मी-पात्र सज्जन भी कविसभाएँ करते तथा प्रतिभा-वान कवियों को पुरस्कृत करते थे। क्रमशः दिल्ली से आए हुए प्रसिद्ध कवियों के कम होने तथा लखनऊ के निवासी कवियों के बढ़ने से यहाँ एक नया साहित्य-केंद्र स्थापित हो गया, जिससे दिल्ली से विशेष पार्थक्य न होते हुए भी कुछ विभिन्नता आ गई थी। नासिख तथा उनके शिष्यवर्ग इस केंद्र की विशेषता के उन्नायक तथा पोषक हुए।

लखनऊ साहित्य-केंद्र की विशेपता

जिस प्रकार संस्कृत मे वैदर्भी और गौड़ी शैलियो में विभिन्नता है उसी प्रकार या उससे भी कम विभिन्नता इन दोनो साहित्य-केंद्रों की शैलियो मे है। कविता हार्दिक उद्‌गार है, इसलिये जब वह शब्दाडंबर तथा आलंकारिक भाषा के दुरूह मार्ग से निकलती है तब उसमें भाव-व्यंजना तथा सरसता की अत्यल्पता हो जाती है। नासिख तथा उनके शिष्यवर्ग ने यही शैली पकड़ी थी और साथ ही वे अनुप्रास पर विशेष दृष्टि रखते हुए समता और सरसता का विचार कम करते थे। भाषा सुकवियो की अनुवर्तिनी होती है पर ये सुकविगण स्वयं ही उसके अनुवर्ती हो रहे थे। भाव पर कम और भाषा पर विशेष अनु-राग था, इससे गंभीरता तथा रोचकता कम, पर प्रौढ़ता अधिक थी। फलतः श्लिष्टता, सौकुमार्य, प्रसाद और सरसता सभी भाषा के प्राधान्य के आगे दब गई। कल्पना तथा प्रतिभा के स्थान पर भाषा की दुरूह रचना का कठिन श्रम दर्शनीय है। नैसर्गिकता का अभाव-सा है। फारसी कवि सायब, बेदिल आदि की दुरूहता का अनुकरण

किया गया। पर यह मार्ग स्थायी नहीं था और शीघ्र ही अनीस तथा दबीर आदि ने इसे त्याग दिया। दिल्ली वाले छोटे गज़ल लिखते थे पर यहाँ वाले बड़े लंबे लंबे गज़ल कम तरह में लिखते थे, जिसमें नैसर्गिक प्रवाह नहीं रहता था। ज़ुबाँदानी में यह अग्रणी थे तथा यह, मद, अक्षर आदि भी शब्दों तथा मुहाविरों के ठीक प्रयोग करने में सिद्धहस्त थे। इन लोगों ने जो नियम बनाए हैं, उनमें कितनों को दिल्लीवालों ने भी मान लिया। कुछ शब्दों को (जैसे ईजाद, तर्ज आदि) एक स्त्रीलिंग मानते हैं, तो दूसरे पुल्लिंग। ये विशेषताएँ कभी कभी अब तक तर्क-वितर्क का कारण हो जाती हैं।

शेख इमामबख्श 'नासिख़' के पिता का नाम ज्ञात नहीं है। खुदा बख्श नामक एक व्यापारी ने इन्हें गोद लेकर बहुत अच्छी तरह शिक्षा दी, जिससे यह एक सुप्रसिद्ध कवि हो सके।

नासिख़

खुदाबख्श की मृत्यु पर उसके भाइयों ने इन्हें दास कहकर उसकी सब धन लेना चाहा पर आपस में कुछ समझौता हो गया। इन्हें विष देने का भी प्रयत्न हुआ और यह मामला कचहरी में गया, जहाँ इन्हीं की जीत हुई। हाफ़िज़ वारिसअली लखनवी से फ़ारसी पढ़ा तथा फ़िरंगी महल के विद्वानों से भी कुछ शिक्षा प्राप्त की। अरबी भाषा का भी इन्हें ज्ञान अच्छा था। इनके कविता-गुरु का कुछ ठीक पता नहीं। मीर तक़ी 'मीर' ने इन्हें शिष्य बनाना स्वीकार नहीं किया तब यह स्वयं अपनी कविता ठीक करने लगे। मुसहफ़ी के एक शिष्य मुहम्मद ईसा 'तनहा' को कभी कभी अपनी कविता दिखलाते थे पर विशेष कर इन्हें अपने आयास का भरोसा रहता था। यह सभी कवि-सभाओं में जाते और पुराने प्रसिद्ध कवियों की कविता ध्यानपूर्वक सुनते। इंशा, जुरअत, मुसहफ़ी आदि की मृत्यु हो जाने पर इन्होंने कवि-सभाओं में गज़लें पढ़ना आरंभ किया और तब इनकी बड़ी प्रशंसा और सम्मान हुआ। शरीर के लंबे चौड़े थे और व्यायाम भी इन्हें प्रिय था, इससे यह

बलवान थे। यह प्रति दिन एक वार खाते थे और खाते भी थे कुल एक पसेरी। ईश्वर की कृपा से वर्ण भी आप का आवनूस के जोड का था जिससे वहुधा इनके प्रतिद्वंद्वी इन्हें दुमकटे भैंसे' की उपमा देते थे। दिन का अधिक समय खाने, स्नान करने, व्यायाम करने और लोगों से मिलने में वीतता था, इससे रात्रि के समय कविता करते थे। स्वभाव के निडर पर चिडचिड़े थे। धन की कमी न थी, इससे इन्होंने किसी की नौकरी नहीं की। इतने पर भी इनमें कुछ ऐसी आकर्षणशक्ति थी कि लखनऊ के कितने अमीर और सर्दार इनके शिष्य तथा मित्र थे। सन् १८३१ ई० में आगा मीर ने सवा लाख रुपये इन्हें पुरस्कार दिया। नासिख़ को कई बार लखनऊ छोडना पड़ा। नवाब गाज़ीउद्दीन हैदर ने इन्हें मलिकुश्शोअरा की पदवी दे कर अपने दर्बार में रखना चाहा पर इन्होंने स्वीकार नहीं किया और उस पर यह भी कहा कि नवाब की दी हुई पदवी का मूल्य ही कितना, यदि सुलेमानशिकोह दिल्ली के बादशाह हो जायँ तब वे दें या कंपनी-बहादुर दे। फल यह हुआ कि इन्हें लखनऊ छोडकर प्रयाग जाकर रहना पड़ा। नवाब ग़ाज़ीउद्दीन की मृत्यु पर यह लौटे। इसी बीच महाराजा चंदूलाल 'शादाँ' ने दो बार इन्हें हैदराबाद आने के लिए बड़े आग्रह से लिखा और लगभग बारह सहस्र रुपये भी भेजे पर इन्होंने वहाँ जाना स्वीकार नहीं किया। इनके लखनऊ लौटने पर जब मुंतज़िमुद्दौला नवाब हकीम मेहदीअली खॉ, जो उस समय दीवान थे, अपने पद से हटाए गए तब इन्होंने हजो में तारीख कही; क्योंकि वह इनके मित्र आग़ा मीर के प्रतिद्वंद्वी थे। पर कुछ ही दिनों के अनंतर वे फिर उसी पद पर नियुक्त हुए, तब यह प्रयाग चले आए। हकीम मेहदी के दूसरी बार दीवानी से हटाये जाने पर यह लखनऊ लौटे और वहीं सन् १८३८ ई० में इनकी मृत्यु हुई।

इन्होंने तीन दीवान लिखे। सन् १८१६ ई० में जब यह प्रयाग में थे उस समय पहला दीवान 'दीवाने परेशॉ' के नाम से संकलित

हुआ। इसमें ग़ज़ल, क़िते और तारीख़ें हैं। सन्
रचनाएँ १८३१ ई० और सन् १८३८ ई० में क्रमशः अन्य दो
दीवान संगृहीत हुए। इनकी तारीख़ें इतिहास के
लिए बड़े महत्व की हैं, क्योंकि ये अपने समय के उर्दू कवियों तथा
प्रसिद्ध पुरुषों की मृत्यु पर लिखी गई हैं। ये क़सीदे और हजो नहीं
लिखते थे। सन् १८३८ ई० में हदीसे मुफ़ज्ज़ल का अनुवाद एक
मसनवी में करके उसका नाम 'नज्मेसिराज' रखा। यह नासिख़ की
योग्यता के योग्य नहीं है, पर यह ध्यान रखना चाहिए कि यह अनु-
वाद मात्र है। दूसरी मसनवी 'मौलूद शरीफ़' है, जिसमें मुहम्मद के
जन्म का वर्णन है।

इनकी भाषा बड़ी ही मँजी और सुथरी हुई है। ग्रामीण शब्द
तथा पुराने धुराने मुहाविरे इन्होंने प्रयुक्त नहीं किए पर इसके साथ
इन्होंने अरबी और फ़ारसी के बड़े बड़े शब्द, जो
भाषा, रचना शैली अप्रचलित थे, कविता में ला घुसेड़े, जिससे कविता
और इतिहास में का सरल प्रवाह खरतर हो गया। ऐसे शब्द इन्हीं
स्थान के साथ चले गए। जब सुगम भाषा लिखने बैठते तो
भाव-गांभीर्य में कमी और शब्द योजना में शैथिल्य
आ जाता था। भाषा प्रौढ़ थी और कविता भी निर्दोष रहती थी।
यद्यपि दिल्ली से आनेवाले कवियों ही ने लखनऊ साहित्य-केंद्र स्थापित
किया था, पर उसमें निज की विशेषता लाना इन्हीं का कार्य था।
इन्होंने बहुत से योग्य तथा प्रतिभा-सम्पन्न शिष्य बनाकर अपना संप्र
दाय स्थापित किया। लखनऊ के केंद्र में इनका प्रभाव बहुत है तथा
इनकी कविता सनद मानी जाती है। उर्दू के इतिहास में इनका स्थान
बहुत ऊँचा है। इन्होंने विशेषतः ग़ज़लें ही लिखी हैं, कुछ तारीख़ें भी
हैं पर क़सीदे नहीं लिखे। यद्यपि इनकी ओजस्विनी भाषा क़सीदे के
लिए उपयुक्त थी पर स्वातंत्र्य-प्रिय स्वभाव ने वैसा नहीं करने दिया।
न इन्हें चापलूसी पसंद थी और न किसी के यह नौकर थे। किसी

की हँसी उड़ाना या विनोद करना इनकी प्रकृति के विरुद्ध था। इनकी प्रसिद्धि मुख्यतः इनके ग़जलों पर स्थित है, पर उनमें स्वाभाविकता की कमी है। भावोत्कर्ष के लिए इन्होंने अलंकार नहीं प्रयुक्त किए हैं प्रत्युत् उन्हीं के लिए कविता रची है। इससे काव्य-सौष्ठव आडंबर में ढँक-सा गया है। काव्य की आत्म-व्यंजना की कमी भी खटकती है, भाव उत्कृष्ट नहीं हैं, हास्यादि रस नहीं से हैं और इसी से इनकी कविता हृदयग्राहिणी नहीं है। फारसी कवियों के भाव तथा शब्द ज्यों के त्यों उठा लेना इनका साधारण काम था। ऐसा उर्दू के अनेक अन्य प्रसिद्ध कवियों ने भी किया है।

रचना-शैली

नासिख़ शब्द का अर्थ नष्ट करनेवाला है। वास्तव में इन्होंने दिल्ली साहित्य-केंद्र के प्रभुत्व का अंत कर लखनऊ का नया साहित्य-केंद्र स्थापित किया था। लखनऊ में कवियों का जमघट होते दो तीन पीढ़ियाँ व्यतीत हो चुकी थीं और वहाँ एक ऐसे नए साहित्य-केंद्र का स्थापित होना आवश्यक हो गया था, जिसमें निज की विशेषताएँ हों। नासिख़ इस ओर अग्रसर हुए और इस कार्य में मिर्ज़ा क़मरुद्दीन अहमद प्रसिद्ध नाम मिर्ज़ा हाजी से विशेष सहायता मिली, जो ऐश्वर्यवान् तथा प्रभाव-शाली दोनों ही थे। लखनऊ के कई कवि इनके आश्रित थे, जिनमें मिर्ज़ा कतील और उसी के शिष्य काजी मुहम्मद सादिक खाँ 'अख्तर' प्रधान थे। इनके दरबार में साहित्यिक तथा भाषा-विषयक तर्क-वितर्क होते रहते थे, जिससे नासिख को बहुत मदद मिली। इनके शिष्य मीर अली औसत 'रश्क' ने इस कार्य में विशेष भाग लिया था। इन विशेषताओं में कुछ ऐसी भी हैं, जिन्हें दिल्लीवालों ने भी स्वीकार कर लिया है। रेख्ता या दखिनी शब्दों के बदले में उर्दू का और रेख्ते के बदले ग़ज़ल शब्द का प्रयोग होने लगा। पहले वाले शब्द एकदम बहिष्कृत कर दिए गए। अपने स्वभाव के अनुसार नित्य प्रयुक्त सरल हिंदी शब्दों को निकालकर अरबी और फ़ारसी के अप्रयुक्त, क्लिष्ट तथा

बड़े बड़े शब्द काम में लाने लगे। तर्ज़, ईजाद, कलाम आदि शब्दों में लिंग-भेद हो गया था। एक केंद्र उन्हें पुल्लिंग कहता था तो दूसरा उन्हें स्त्रीलिंग मानता था। पहले यहाँ, वहाँ का याँ और वाँ भी उच्चारण कर आँ के साथ बाँध देते थे पर अब उनका जहाँ से मेल मिलाया जाने लगा। का, को, ने, से आदि विभक्तियों तथा है, नहीं आदि को भी काफ़िया के अंत में लाने लगे। अश्लील तथा ग्रामीण शब्दों का बहिष्कार पहले ही से हो रहा था, पर अब विशेष रूप से किया गया। क्रियाओं में भी नियम बनाए गए, जैसे आए हैं गए हैं के स्थान पर आता है, जाता है प्रयोग किया जाने लगा। ये सब अदल-बदल इनके तथा इनके शिष्यों द्वारा नियमपूर्वक माने जाते थे। उदाहरण—

शिकवे आहें करूँ पर हाल क्या आवाज़ का।
तीर जो देवे सदा है नुक्स तीरअंदाज़ का॥
शहसवारी का जो उस चाँद के टुकड़े को है शौक़।
चाँदनी नाम है शबदेज़ का अँधियारी का॥

ऐ अजल एक दिन आख़िर तुझे आना है वले।
आज आती शबे फ़ुर्क़त में तो एहसाँ होता॥
बाँधते हैं अपने दिल में ज़ुल्फ़ जानाँ का ख़याल।
इस तरह ज़ंजीर पहनाते हैं दीवाने को हम॥

कर वह ज़िक्र ख़ुदा ए सनम मस्ता किस वक़्त।
जिसे कि आठ पहर तेरे नाम की रट हो॥
ईज़ाए लाग़री से जब नज़र आया न मैं।
हँसके वह कहने लगे बिस्तर को झाड़ा चाहिए॥

दिल लेती है वह ज़ुल्फ़ सियहफ़ाम हमारा।
बुझता है चिराग़ आज सरे शाम हमारा॥
जो ख़ास हैं वह शरीके गरोहे आम नहीं।
शुमार दानए तस्बीह में इमाम नहीं॥

तू भी आग़ोशे तसव्वुर से जुदा होता नहीं।
ऐ सनम, जिस तरह दूर एक दम खुदा होता नहीं॥

यद्यपि नासिख के बहुत से शिष्य हुए पर उनमें बर्क़, बह्र, रश्क, मुनीर, आबाद तथा मेह्र प्रधान हैं। वज़ीर कुछ दिन इनके और कुछ दिन पहले आतिश के शिष्य रहे थे। बर्क़का पूरा नाम फ़तहुद्दौला बख्शीउल्मुल्क मिर्ज़ा मुहम्मदरज़ा खाँ था और वह मिर्ज़ा काज़िम अली खाँ 'ख़ालिक़' के पुत्र थे। वाजिदअलीशाह 'अख्तर' के यह प्रिय दरबारी तथा उनकी कविता के सशोधक थे। गद्दी से उतारे जाने पर नवाब के साथ यह भी कलकत्ते गए और सन् १८५७ ई० के विद्रोह के समय जब नवाब साहब फोर्ट विलिअम दुर्ग में सुरक्षित रखने के लिये लाए गए, तब यह भी साथ थे। वहीं उसी वर्ष इनकी मृत्यु हुई। युवावस्था में यह बड़े तिर्छे-बाँके थे और वज़ीर मेह्दीअली खाँ के प्रधानत्व में अच्छे पद पर रहे। तलवार-पटा आदि में भी कुशल थे और अपने दान तथा दया के लिए प्रसिद्ध थे। अपने गुरु की बड़ी प्रतिष्ठा करते थे तथा कविता में अनुकरण करते थे। ग़जल, मुख़म्मस आदि सभी लिखा है। एक बड़ा दीवान तथा लखनऊ पर 'शहर-आशाब' नामक एक मसनवी लिखी है जो करुणापूर्ण है। उपमादि साम्य अलकारों का आधिक्य है। अस्वाभाविकता का समय ही था। भाषा पर पूर्ण अधिकार था तथा काव्य के अग-प्रत्यग के अच्छे ज्ञाता थे।

बर्क़

उदाहरण—

ले गइ मौत मुझे सूए अदम हस्ती से।
बेतलब घर में खुदा के भी तु मेहमाँ न हुआ॥
दीनो ईमाँ कहते हैं किसको खुदा का नाम लो।
सबको भूले यह असर है उस सनम के याद का॥
खुदा ग़रीब की सुनता है ग़ैब से फ़रियाद।
असर अजीब दिले दर्दमंद रखता है॥

वही उसका है जो देता है किसी को कोई।
अपनी वह चीज नहीं जो कि पराई न हुई॥
बे इबादत न खुदा बख्शेगा हुमान अल्लाह।
ऐसे फ़िर्दौस से हम गुज़रे कि मजदूर नहीं॥

शेख इमदाद अली 'बह्र' के पिता शेख इमामबख्श इनके गुरु शेख इमामबख्श 'नासिख' से भिन्न पुरुष थे। इनकी अधिक अवस्था लखनऊ में ही बीती और यह धनाभाव से सदा दुखित रहते थे। वृद्धावस्था में रामपुर के नवाब कल्बअली खाँ (सन् १८६५–१८८०) ने इन पर कृपा करके इन्हें अपने यहाँ बुला लिया और आजीविका नियत कर दी। वहीं पचहत्तर वर्ष की अवस्था पाकर सन् १८८३ ई० में इनकी मृत्यु हुई। इनके मित्र नवाब सैयद अहमद खाँ 'रिंद' ने, जो आतिश के शिष्य थे, इनके दीवान को संकलित कर सन् १८६८ ई० (१२८५ हि०) में प्रकाशित किया, जिसकी तारीखें स्वयं इन्होंने तथा मह्र, तस्लीम आदि कवियों ने लिखी हैं। इनकी कविता में भी अलंकारों की भरमार है पर स्वाभाविकता का कहीं ह्रास नहीं होने पाया है। इनकी कविता हृदयग्राहिणी तथा करुणोत्पादक है। इनकी शब्द-योजना बड़ी चुस्त होती थी, भाव गंभीर तथा अच्छे हैं और प्रसादगुण भी पूरी तरह है। काव्य-कौशल के यह अच्छे ज्ञाता थे। भाषा-ज्ञान में नासिख और रश्क के बाद इन्हीं का स्थान है।

उदाहरण—

सदक़ की बू न जायगी पीसो कि जलाओ।
मिटता है मिटाए से कहीं नाम किसी का॥
कभी है पुरवा कभी है पछिवा हवाएँ दुनिया का क्या भरोसा।
यहाँ के फूलों पै हो न शैदा न चार दिन ये वफ़ा करेंगे॥
वही जाता है खराबी वही करता है अखीर।
बादशाही है अगर दिल पे हुकूमत रक्खे॥

शुक्र काबे में कलीसा मे भटकते न फिरे।
अपने दिलबर का पता हमने लगाया दिल में॥

मीर अली औसत 'रश्क' मीर सुलेमान के लड़के थे और फैजाबाद से लखनऊ आकर बस गए थे। भाषा के विचार से नासिख के शिष्यों में यह सब से अधिक प्रसिद्ध थे। इनका

रश्क

नफसुल्लुगात सन् १८४० ई० में समाप्त हुआ, जो बहुत बड़ा और मान्य कोष है। इसके नाम से ग्रंथ की समाप्ति की तारीख सन् १२६५ हि० निकलती है। इनके दो दीवान हैं पहला नज्मे मुबारक सन् १८३७ ई० में और दूसरा नज्मे गिरामी सन् १८४५ ई० में समाप्त हुआ था। यह नासिख के मार्ग का अनुसरण करने वाले थे और शब्दों के ठीक प्रयोग करने में इनकी सम्मति नासिख के समय ही में मान्य समझी जाती थी। ये तारीखें खूब लिखते थे और इनके शिष्य भी बहुत थे। इनकी कविता शृंगारात्मक तो थी ही, उसमें भी संयोग तथा स्त्रियों के शृंगार का वर्णन अधिक किया है। वृद्धावस्था में यह कर्बला चले गए, जहाँ सत्तर वर्ष की अवस्था में सन् १८६८ ई० में इनकी मृत्यु हुई। इनकी कविता भाषा के विचार से सनद मानी जाती है। उदाहरण—

रखूँ जुबान बद कहाँ तक जबान में।
इतनी न खोल ऐ बुते बेदादगर जुबान॥
कुर्बान भवों का हूँ कमानों से नहीं काम।
तीरों से ग़रज क्या मुझे दरकार हैं पलकें॥
पर्दः उठा के 'रश्क' को नूरे जबीं दिखा।
ऐ कुदरते खुदाए जहाँ आफरीं जबीं॥

सैयद इस्माइल हुसेन 'मुनीर' के पिता सैयद अहमद हु भी कवि थे और इनके पूर्वज मैनपुरी के अंतर्गत शिको रहने वाले थे। यह लखनऊ आए और यहीं शिक्षा प्राप्त की

अनंतर कानपुर में नवाब निज़ामुद्दौला की सेवा में चले गए। यह पत्रव्यवहार कर नासिख़ से कविता ठीक कराते थे और जब नासिख़ कानपुर गए तब यह उनके शिष्य हुए। मुनीर वहीं की सम्मति से आतश को यह इस्लाह के शिष्य हुए। अपने दोनों गुरुओं की यह बड़ी प्रतिष्ठा करते थे। लखनऊ पर इनका बड़ा प्रेम था, इससे अवसर मिलते ही वहाँ आ रहते। पहली बार जब यह कानपुर से लखनऊ आए तब नवाब अलीअसगर के यहाँ और दूसरी बार सैयद मुहम्मद ख़ाँ रिंद 'जुर्रत' के यहाँ संशोधन काम पर रहे। इस बार दो वर्ष लखनऊ में रहकर फ़र्रुखाबाद के नवाब तज़म्मुल हुसेन ख़ाँ के यहाँ गए, जहाँ उनकी मृत्यु तक रहे। इसके अनंतर बाँदा के नवाब अली बहादुर के यहाँ रहे। यहाँ यह नवाबखान नामक वेश्या के ख़ून के फेर में फँस गए, जिससे इन्हें कालेपानी का दंड हुआ, पर सन् १८६० ई० में इनकी रिहाई हो गई। इसके बाद नवाब रामपुर के दरबार में गए, जहाँ सन् १८८१ ई० में इनकी मृत्यु हुई। मुन्तख़बाते आलम, सनवीरुल्अशआर और इनमे मुनीर तीन दीवान लिखे, जिसमें प्रथम की भूमिका में अपना कुछ वृत्तांत भी लिखा है। मेराजुल् मज़ामीन' एक मसनवी है, जिसमें इमामों का वर्णन है। एक रिसाला सिराजमुनीर भी है। इन्होंने मर्सिय, क़सीदे, क़िते, ग़ज़ल आदि सभी लिखे हैं। इनकी कविता में कल्पना तथा भावोत्कर्ष विशेष है। सादगी सुगमता रहते हुए भी यह अपने गुरु की शैली के अनुकरण-शील थे। उदाहरण—

> आस्तीं में गर सबस्कुन प य पोशीद रहा।
> दाग़ा दस्त तीर का यालग हमारे हाथ में॥
> य किदगार कौन स मजनूँ की बाग़ में।
> अब तक सियाहपोश है लैलाए शाने सुरा॥
> ठते हैं हर वक़्त कलेजे की धड़क से।
> हीं देता उन्हें खटका मेरे दिल का॥

सीने में समाता नही अब मारे खुशी के।
नाहक को मिजाज आपने पूछा मेरे दिल का ॥

मिर्जा मेहदी हसन खाँ 'आबाद' मिर्जा गुलाम जाफर खाँ के पुत्र थे और सन् १८१३ ई० में लखनऊ में इनका जन्म हुआ था। लखनऊ के रईसों में इनकी गिनती थी और यह फ़र्रुखाबाद के नवाब के संबंधी थे। इन्होंने सुखपूर्वक जीवन बिताया। प्रत्येक कविसभा में जाते और कविता सुनाते। कविता भी बहुत की है। इनके दो दीवान, एक मसनवी और तीन वासोख्त मिलते हैं। एक दीवान निगारिस्ताने इश्क़ सन् १८४६ ई० में लखनऊ के मुर्तजबी प्रेस से प्रकाशित हुआ था। इनका बहारिस्ताने सखुन नामक संग्रह विशेष प्रसिद्ध है, जिसमें नासिख़, आतिश और अपने ग़ज़ल उसी बहर और काफ़िया के एक साथ संगृहीत किए हैं। इससे इन कवियो के तुलनात्मक पठन-पाठन में बड़ी सहायता मिलती है। यह भी अपने समय के प्रवाह से नहीं बचे हैं। नासिख़ के अच्छे शिष्यों में थे और कविता में प्रतिभा भी दिखलाई देती है। वासोख्त अच्छे लिखे हैं पर महाविरों की कमी है। उदाहरण—

आबाद

भला देखेंगे क्योंकर गैर उसको।
मेरी आँखों के पर्दे में निहाँ है ॥
जब हुए बर्बाद ऐ 'आबाद' तब पाया पता।
बेनिशाँ होकर मिला हमको निशाने कूए दोस्त ॥
जहाँ तक हो सका अपनी ज़ुबाँ से उससे कह गुजरे।
जताई बात हमने दोस्ती की अपने दुश्मन को ॥

मिर्ज़ा हातिम अली बेग 'मेह्र' (सूर्य) का दादा मिर्ज़ा मुराद अली खाँ कजिलबाश लखनऊ में आकर बस गया। उसे नवाब शुजाउद्दौला ने रुक्नुद्दौला बहादुर की पदवी दी थी और वह अच्छे

पद पर नियुक्त था। मेह्र के पिता फैजअली बेग
मेह्र अलीगढ़ में फौजदारी की ओर से तहसीलदार थे। मेह्र
का जन्म सन् १८१४ ई० में हुआ और इनके पिता
इन्हें चार वर्ष का छोड़कर मर गए। चौदह वर्ष की अवस्था ही से यह कविता करने लगे। यह नासिख के शिष्य हुए और इनके सगे भाई मिर्जा इनायत अली 'माह' (चंद्र) आतिश के शिष्य हो गए। सन् १८४० ई० में मुंसिफ के पद पर नियुक्त हुए। इन्होंने वकालत भी पास कर लिया था। सन् १८५७ ई० के बलवे में कुछ अंग्रेजों की रक्षा की थी, जिससे इन्हें खिलअत और दो गाँव जागीर में मिले। तब यह आगरा आकर वकालत करने लगे। सन् १८९३ ई० में ७६ में इनकी मृत्यु हुई। काशी के महाराज बलवान सिंह जब आगरे में रहने लगे, तब इन्हें अपना कविता-गुरु बनाया और इन्हें पचास रुपये मासिक वृत्ति देते रहे। इनका दीवान 'अलमासे दुरख्शाँ' कहलाता है, जिसका तारीखी नाम 'खियालाते मेह्र' है। 'वारए उरूज' छंद शास्त्र का छोटासा ग्रंथ है। दो मसनवी और दास्ताने गुलाए मेहरनिगार तथा एक वासोख्त दागे दिल मेहर भी लिखा। शमाए इशरत, सीप्रारे शरफ आदि अनेक स्फुट कविताएँ भी इनकी हैं। तारीख भी खूब लिखते थे। यह एक सुकवि हो गए हैं और भाषा पर इनका भी अच्छा अधिकार था, जिससे इनकी कविता में प्रसाद गुण पूरा तरह से है। उदाहरण—

शोख चश्मी से शिकारों को यह भमकाते हैं।
हरिणयों दम से मिलाना न तरहदार आँखें॥
चश्मे मखमूर में बाकी फ य फैसियत है।
नशा मस्ती के हुमला हों या हों चार आँखें॥
बुलाया आई निकाला निकल गई दम में।
य शुक्र है कि रही हुस्ने किर्दगार में रूह॥

ख्वाजा मुहम्मद वजीर 'वजीर' के पिता ख्वाजा मुहम्मद फकीर

थे, जो प्रसिद्ध फकीर ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबंदी के वंश में थे।

वजीर

यह लखनऊ में रहते थे। यह इतने एकांतप्रिय थे कि नवाब वाजिद अली शाह के दो बार बुलाने पर भी उनके दरबार में नहीं गए। सन् १८५४ ई० में इनकी मृत्यु हुई। यह पहुँचे हुए फकीर माने जाते थे। इनका दीवान इनकी मृत्यु पर उसी वर्ष दीवाने फसाहत के नाम से प्रकाशित हुआ, जिससे फसली सन् १२६३ निकलता है। फकीर मुहम्मद गोया आदि इनके बहुत से शिष्य थे। नासिख़ की शैली के प्रधान परिपोषक और इनके प्रिय शिष्य थे। कड़े बहरों में भी अच्छी कविता की है और प्रसिद्ध कवि हुए हैं। उदाहरण—

तेरा गेसू बहुत बल कर रहा है। बिगाड़ा तूने जालिम सिर चढ़ाकर ॥

दिल में है इश्क तेरा याद तेरी गम तेरा।
रहजनों से हुई आबाद यह मंजिल कातिल ॥
बू होके गुल में क्या दिले बुलबुल समा गया।
तोड़ा किसी ने फूल तो आई सदाए दिल ॥

आतिश

ख्वाजा हैदरअली 'आतिश' के पिता ख्वाजा अली बख्श दिल्ली के रहनेवाले थे, पर नवाब शुजाउद्दौला के समय में फैजाबाद आकर मुगलपुरा में बस गए। आतिश का यहीं जन्म हुआ। इन्हें अल्पवयस्क छोड़कर इनके पिता की मृत्यु हो गई, जिससे इनकी शिक्षा पूरी न हो सकी। इनका ढंग सिपहियाना था और नवाब मुहम्मद तक़ी के नौकर होकर लखनऊ आ बसे। यहाँ कविसभाओं में जाते थे और इंशा तथा मुसहफ़ी की जो चोटें आपस में चल रही थीं, उसे देखा या सुना था। इससे कविता की ओर इनकी रुचि हुई और मुसहफ़ी को गुरु बनाया। इन्होंने साधारण शिक्षा प्राप्त की थी तथा कुछ काव्यग्रंथ भी देखे थे पर ये अपने प्रतिद्वंद्वी नासिख़-से विद्वान् नहीं थे। इनमें संतोष की मात्रा अधिक थी, इसी से किसी धनाढ्य की प्रशंसा आदि में कविता

नहीं की। अवध के नवाब से इन्हें अस्सी रुपये मासिक की वृत्ति मिलती थी और उसी में अपना कालयापन करते तथा गरीबों की सहायता भी करते थे। शिष्यगण भी यथाशक्ति भेंट लाते थे। इनके कोई पूर्वज फकीर थे, इससे इनके मुरिद चेले भी थे और वे भी सहायता करते थे। इनके शिष्य वजीर के शिष्य फकीर मुहम्मद गोया पचास रुपया मासिक देते थे और मीर दोस्त अली खलील भी विशेष सहायता करते थे। इस प्रकार जीविका की ओर से संतुष्ट रहकर एक टूटे फूटे मकान में साधुओं की तरह इन्होंने अपना जीवन बिता दिया। यह सन् १८४० ई० में मरे। आतिश और नासिख समकालीन थे तथा उनके समय लखनऊ कवि दो भागों में विभाजित हो गया, जिनके ये ही दोनों प्रधान थे। आपस की प्रतिद्वंद्विता के कारण दोनों ही अपनी प्रतिभा का अच्छी तरह विकसित कर सके थे, पर इस प्रतिस्पर्धा में ईर्ष्या की मात्रा नहीं थी। आपस में गुप्त रूप से एक दूसरे पर चोटें कर लेते थे पर इनमें इंशा और मुसहफ़ी का सा तू तू, मैं मैं, नहीं था। यद्यपि दोनों की शैली भिन्न है पर अपने प्रतिस्पर्धियों की योग्यता दोनों ही मानते थे। आतिश ने तो नासिख की मृत्यु पर कविता करना ही छोड़ दिया कि मानों अब कोई उनकी कविता का ममज्ञ ही नहीं रह गया था। इनकी रचनाओं में पहला एक दीवान है, जो इन्हीं के समय में प्रकाशित हो चुका था। दूसरा छोटा संग्रह इनकी मृत्यु पर इनके शिष्य खलील द्वारा प्रकाशित किया गया। उसमें पीछे से लिखी गई कविता थी। इन्होंने सिवा गजल के और कुछ नहीं लिखा।

इनकी भाषा बिल्कुल बोलचाल की भाषा थी और इनकी कविता तत्कालीन सभ्य समाज के बोलचाल की भाषा का उत्तम नमूना है।

भाषा, शैली — सीधी-सादी बातें शुद्ध भाषा में कवितावद्ध कर दी हैं और अलंकारादि के बोझ से उन्हें जटिल करने का कुछ भी प्रयत्न नहीं किया है। इनमें अस्वाभाविकता

का नाम भी नहीं है और न साधारण भावों को शब्दाडंबर या क्लिष्ट वाक्य-विन्यास में छिपाया है। मुहाविरों की भरमार है और उनके प्रयोग के लिये इनकी कविता सनद मानी जाती है। इनकी कविता समझने के लिये प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है। इनकी कृतियों में उच्चकोटि की कविता कहीं कहीं मिलती है, पर सब वैसी नहीं है। तब भी भाषा-सौष्ठव, सरलता और कवित्व-शक्ति में यह किसी से कम नहीं हैं। अपने समय के प्रभाव में यह नहीं पड़े और स्त्रियों के शृंगारादि के अश्लील वर्णन से इन्होंने अपने किसी आश्रय-दाता को प्रसन्न नहीं किया। इनकी कविता में ऐसा अच्छा प्रवाह है कि पढ़ने में गाने सा आनन्द आता है। इतिहास में यह अमर हैं और प्रथम कक्षा के कवियों में इनकी गिनती है। इनमें कुछ समालोचक दोष भी निकालते हैं, जिसे वे अविद्या के कारण हुआ मानते हैं। कवित्व-शक्ति ईश्वर-प्रदत्त होती है, विद्वत्ता की मुखापेक्षी नहीं होती पर तब भी साहित्य का कुछ ज्ञान अवश्य होना चाहिए। वास्तव में इन्होंने कुछ शब्दों का प्रयोग साधारण बोलचाल के अनुसार कर दिया है, जो अशुद्ध है। पर कविगण ऐसा कर सकते हैं और भाषा को एकदम इस प्रकार नियंत्रित करना भी ठीक नहीं।

आतिश और नासिख़ दोनो ही लखनऊ में एक समय में हुए थे और दोनों ही ने अपनी अपनी शैली का प्रचार किया, जिससे लखनऊ साहित्य केंद्र इन दोनों के प्रधानत्व में दो विभागों में बँट गया। नासिख अपने समय में विशेष सम्मानित और लोकप्रिय थे तथा गुलशने बेख़ार के लेखक नवाब मुस्तफा ख़ाँ शेफ्तः ने इन्हीं को आतिश से बढ़कर माना था। पर समय ने उनकी क्लिष्ट शैली को नहीं अपनाया और उन्हें आतिश से घटकर माना। ग़ालिब को आतिश की कविता में नासिख से अधिक कवित्वशक्ति दिखलाई पड़ी और उन्होंने इन्हीं को बढ़कर माना है। आतिश की कविता में प्रसाद

आतिश और नासिख

तथा सौकुमार्य गुण अधिक है जिससे उसके पढ़ने में आनन्द आता है पर नासिख़ की क्लिष्ट शब्दावली और योजना ने इन दोनों गुणों को न आने दिया, जिससे उनकी कविता की धारा खरखर हो गई और उसमें सरसता की कमी हो गई। आतिश में नैसर्गिकता, भावों की सरलता, गाम्भीर्य और धार्मिक विचाराग्नि अधिक है यद्यपि यह भी समय के प्रभाव में पड़े थे और कुछ शृङ्गारिक वर्णन भी किया था पर अधिक नहीं। नासिख़ में काव्योत्कर्ष विशेष है और गहन अलंकार तथा भाषा-नैपुण्य के कारण ओज की मात्रा अधिक है। इस प्रकार विवेचना करने पर देखा जाता है कि काव्य शक्ति आतिश की बढ़ी चढ़ी थी। उदाहरण—

आती है किस तरह से मेरे क़ब्ज़ रूह का।
देखूँ तो मौत ढूँढ रही है बहाना क्या॥
तिर्छी नज़र से तायरे दिल हो चुका शिकार।
जब तीर कज पड़ेगा उड़ेगा निशान क्या॥
आलम को लूट खाया है एक पेट के लिए।
इस शार में गढ़ हैं हज़ारों ही ग़ारतें।
बाक़ी रहेगा नाम हमारा निशाँ के साथ।
अपनी भी चंद बैतें हैं अपनी इमारतें॥
हो गया है एक मुद्दत से दिले नालाँ ख़मोश।
बाग़ में चलकर इसे बुलबुल सुनाया चाहिए॥
बाइदे तिफ़्ली में भी था मैं बसकि सादाई मिज़ाज।
बेड़ियाँ मिन्नत की भी पहिनीं तो मैंने भारियाँ॥
बेग़मी दिल को ना दे ले यह इसे सहलील।
सारी सरकारों से है इश्क़ की सरकार जुदा॥

आतिश के शिष्यों में रिंद, सबा, ख़लील, नसीम, शौक़ और आग़ा हज्जू शर्फ़ थे। नवाब सैयद मुहम्मद ख़ाँ 'रिंद' (मस्त) के पिता नवाब मिर्ज़ा सिराजुद्दौला गियासुद्दीन मुहम्मद ख़ाँ बहादुर

रिद

नुसरतजंग नैशापुरी थे और माता नवाब नजफ खॉं जुल्फिकारुद्दौला की बड़ी पुत्री थी। नजफ़ खॉं की बहिन का विवाह अवध के द्वितीय नवाब सफदर जंग के भाई से हुआ था। इनका जन्म सन् १७९५ ई० में फैजाबाद में हुआ और वहीं इन्होंने शिक्षा प्राप्त की। मीर हसन के पुत्र मीर ख़लीक को वहाँ अपनी कविता दिखलाते थे। सन् १८२४ ई० में यह लखनऊ आ रहे और आतिश के शिष्य हुए। पहला दीवान गुलदस्तए इश्क़ सन् १८३४ में और दूसरा इनकी मृत्यु के अनंतर संकलित हुआ था। यह उपनाम के अनुकूल ही विषय-वासनादि में अधिक आसक्त रहे पर अपने गुरु आतिश की मृत्यु पर इन सबसे विरक्त होकर हज्ज को चले पर बंबई ही में मृत्यु ने आ घेरा। सन् १८५६ ई० में विद्रोह के पहले इनकी मृत्यु हो गई। इनकी शैली सुगम है और भाषा मुहाविरेदार है। इनके भाव और विचार इन्हीं के अनुरूप और उपनाम को सार्थक करनेवाले होते हुए भी अश्लीलता से दूर हैं। कहीं अच्छे भाव भी मिलते हैं। उदाहरण—

दिल सीने मे बेताब है जॉं आई है लब पर।
अब जान को रोके कोई या दिल को निकाले॥
जिस शजर पर तेरा जी चाहे नशेमन कर ले।
फट पड़ेंगी न तेरे बोझ से डालें बुलबुल॥
खुम का खुम लाके मेरे मुँह में लगा दे साकी।
बाद मुद्दत तू मुझे आज छका दे साकी॥
बढ़ाया क्यों मरज अपना किया क्या तूने ऐ नरगिस।
उन आँखों से तुझे बीमार क्या आँखे लड़ाना था॥
बाज आया बंदगी से मैं तुम्हारी ऐ बुतो।
क्या मिलाएगी खुदा से आशनाई आपकी॥

मीर वज़ीर अली 'सबा' के पिता का नाम बंदे अली था और इन्हें इनके मामा मीर अशरफ अली ने गोद लेकर अच्छी शिक्षा दी

थी। इन्हें वाजिद अली शाह के दरबार से दो सौ रुपये की मासिक वृत्ति मिलती थी। नवाब मुहसि-
नुलमुल्क भी तीस रुपये मासिक देते थे। यह बड़े
महद्दा पुरुष थे, इससे अपने गरीब मित्रों की प्रायः सहायता किया करते थे। इनके मित्र इन्हें बहुत घेरे हुए भी थे और कहा जाता है कि इन मित्रों के स्वागत में लगभग एक सेर अफ़ीम इनके यहाँ नित्य व्यय होती थी। यह सन् १८४५ ई० में घोड़े से गिरकर मर गए। दो सौ पृष्ठों का एक दीवान 'गुंचए आज़ू' है और वाजिद अली शाह के शिकार पर एक मसनवी लिखी है। इनकी कविता में स्वाभाविकता, सरसता तथा सरलता का अभाव लखनऊ साहित्य-केंद्र की विशेषता ही थी। शृंगारिक कविता में अश्लीलता का भी मेल है और अपने गुरु आतिश का भी वर्णन करने, व्यंग्य आदि में अनुकरण किया है। उदाहरण—

> ऐ गर्दिशे फलक तेरा खाना खराब हो।
> रहते हैं हम अज़ाब में दिन भर तमाम रात॥
> क़यामत है किसी को प्यार करना इस ज़माने में।
> क़ज़ा का सामना रक्खा हुआ है दिल लगाने में॥
> लाज़िम है आदमी के लिए एक न एक हुनर।
> क्या ऐब है रहे जो कोई काम हाथ में॥
> किसी के बाद का रह रह के ध्यान आता है।
> अटक अटक के निकलती है इंतज़ार में रूह॥
> पर कतरकर मुझे कहता है कि गुलशन से निकल।
> ऐसी बेपर की उड़ाता न था सैयाद कभी॥

मीर दोस्त अली 'खलील' के पिता का नाम सैयद जमाल अली था। यह बारहा के बड़ौली ग्राम के निवासी थे और लखनऊ में आ बसे थे। यह नवाब नादिर मिर्ज़ा नैशापुरी के प्रिय मित्र थे, जिनके साथ

खलील

सन् १८६२ ई० में कलकत्ते गए थे। यह आतिश के प्रिय शिष्यों में से थे। इनका एक दीवान प्राप्त है। इनकी कविता साधारण तथा उत्तम दोनों ही प्रकार की है। साधारण कोटि के शृंगारिक विचार हैं और शुद्ध तथा मुहाविरेदार होते हुए भी भाषा में अप्रचलित शब्दों का प्रयोग बहुत है। उदाहरण—

उस बुत को देखते ही हुआ दिल असीरे इश्क।
पत्थर के नीचे दब गए बेअख्तियार हाथ॥
कर दे गदा को शाह जो मंजूर हो तुझे।
देने के ऐ करीम तेरे हैं हजार हाथ॥

नसीम

पं० गंगाधर कौल के पुत्र पं० दयाशंकर कौल ही का उपनाम 'नसीम' था। ये कश्मीरी ब्राह्मण थे और आतिश के प्रसिद्ध शिष्यों में से थे। यही प्रसिद्ध मसनवी गुलजारे नसीम के रचयिता थे। इनका जन्म सन् १८११ ई० में लखनऊ में हुआ था और सन् १८४३ ई० में युवावस्था ही में इनकी मृत्यु ही गई। फारसी की शिक्षा प्राप्त कर यह नवाब अमजद अली शाह की सेना में मुशी हुए और कविता की ओर रुचि होने से बीस वर्ष की अवस्था में आतिश के शिष्य हुए। पहले इन्होंने गुल-ज़ारे नसीम को बड़े विस्तार से लिखा था पर आतिश की सम्मति से उसका ऐसा संक्षेप कर डाला कि केवल चुने हुए सुंदर पद मात्र रह गए। उर्दू-साहित्य में दो ही मसनवियाँ सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं—पहली मीर हसन की सेहुल बयान और दूसरी गुलजारे नसीम यह सन् १८३८ ई० में प्रकाशित हुई थी। यह शीघ्र ही प्रसिद्ध हो गई। सेहुल बयान से इसकी शैली भिन्न है और इससे उससे तुलना करना ठीक नहीं। इसकी कविता अपने प्रवाह, कल्पना, मुहावरों के प्रयोग, उपमादि अलंकार के लिये सर्वप्रिय है। अधिक भाव विचार थोड़े में भर देना इसकी विशेषता है। यह एक ऐसी उत्तम

है कि केवल इसी से दयाशंकर का नाम अमर हो गया है। उदाहरण—

शेख ने मसजिद बना मिसमार बुतखाना किया।
तब तो एक सूरत भी थी अब साफ़ वीराना किया॥

कूचए जानाँ की मिन्नत थी न याद। दैर की राहें था रस्ता गुम गया।
'नसीम' इस चमन में गुलेतर की सूरत। फटे कपड़े रखता है परदा तुम्हारा॥

समझ है इस का अपनी हो गाफ़िल हरेक शख़्स।
यह चाँद टसक साथ चला जो जिधर गया॥
क्या लुत्फ जो गैर परदा खोले। जादू वह जो सर पै चढ़के बोले॥

इसफ़िर जज्बए-रियाज और शायरुल् हिंद में नासिख तथा आतिश के शिष्यों ने शैली में जो अदल बदल किया था उसकी सूची सी दी गई है, जिसमें फारसी के क्लिष्ट शब्दों तथा नासिख तथा आतिश उसकी योजना का बहिष्कार, चलते हिंदी शब्दों की विशेषता का पुन: प्रयोग, भरती के मुहाविरे का न प्रयोग करना आदि हैं। तात्पर्य यह कि आडंबर को अनुचित समझ कर उसका उपयोग नहीं करते थे। आतिश के एक शिष्य आगा इब्नु शर्फ़ ने बुत, मंदर, ज़ुन्नार, शराब आदि शब्दों का, जो मुसलमानों को अरुचिकर थे कविता में नहीं प्रयोग किया था पर यह उन्हीं तक रह गया। उर्दू कविता के ये आवश्यक शब्द हैं।

मुग़ल साम्राज्य की अवनति के समय क्रमश: प्रांताध्यक्ष गण स्वतंत्र होने लगे थे। इन्हीं में अवध के नवाब बुर्हानुल्मुल्क सआदत खाँ भी थे। उनके उत्तराधिकारी सफ़दर जंग और रहे व नवाबगण उनके बाद उसके पुत्र नवाब शुजाउद्दौला अवध के नवाब हुए। इन्हीं के पुत्र वज़ीरुल् मुमालिक नवाब यहिया खाँ मिर्ज़ा अमानी आसफुद्दौला थे, जिनके दान के विषय में कहा जाता है कि 'जिसे न दे मौला उसे दे आसफुद्दौला'। यह सत्ताईस वर्ष की अवस्था में सन् १७७५ ई० के जनवरी महीने में गद्दी पर बैठे।

इतने ही समय में अवध राज्य की बड़ी उन्नति हुई और राजकोष पूर्ण हो गया। आसफुद्दौला फैजाबाद से राजधानी उठाकर लखनऊ लाए और इससे नगर का भाग्य फिर गया। इन्हीं के समय दिल्ली के बादशाहों की पूरी अवनति हो जाने तथा राजकोप के सूने हो जाने से वहाँ के कविगण निराश्रय हो रहे थे, जिससे इनके दान की धूम सुनकर धीरे धीरे प्रायः सभी प्रसिद्ध कवि अवध चले आए और सभी को आश्रय मिला। आर्जू सौदा, मीर, इंशा, जुरअत, मुसहिफी आदि बहुत से कवियों ने इसी वैभवपूर्ण दरबार में आकर अपने अंतिम दिन व्यतीत किए थे। कवियों को आश्रय देने के साथ साथ कविता करने में भी नवाब वंश मुग़ल सम्राटों के पीछे नहीं रहा। पर उसी तरह कविता के आरंभ के साथ इस राज्य की अवनति भी आरंभ हो गई।

नवाब आसफुद्दौला 'आसफ' उपनाम से अच्छी कविता करते थे। मीर तथा सोज़ इनकी कविता शुद्ध करते थे और इस कारण इनके उस्ताद कहलाए। इनकी कविता मे बड़ी सादगी तथा करुणा है जो इनके गुरु 'सोज़' का अनुकरण है। भाव अच्छे हैं और भाषा भी उसीके अनुकूल साफ सुथरी है। इनका एक दीवान है, जिसमें लगभग तीन सौ पृष्ठों में ग़ज़ल है, १७० पृष्ठों में रुबाई, मुखम्मस आदि और सौ पृष्ठों में एक मसनवी है। इन्हीं के समय में मीर और सौदा लखनऊ आए और प्रतिष्ठापूर्वक वृत्ति पाकर इनके दरबार में रहे। सन् १७९७ ई० में इक्यावन वर्ष की अवस्था में यह परलोक गए। इनके पुत्र वज़ीर अली खाँ, जो उपपत्नी के पेट से थे, गद्दी पर बैठे पर भारत सरकार ने कुछ ही महीने बाद इन्हें गद्दी से उतार कर इनके चाचा नवाब सआदत अली खाँ को उसपर बिठा दिया। उदाहरण—

आसफुद्दौला 'आसफ'

गुजरते हैं सौ सौ ख्याल अपने दिल में।
किसी का जो नक्शे कदम देखते हैं॥

या डर मुझे तेरा है कि मैं कुछ नहीं कहता।
या दोस्ता मेरा है कि मैं कुछ नहीं कहता॥

नवाब सआदत अली ख़ाँ सन् १७९७ ई० में गद्दी पर बैठे। यह भी कवि थे। कुछ कविता भी की है पर कोई दीवान नहीं लिखा है। यह कवियों के आश्रयदाता थे। अंग्रेज़ों की सहायता सआदत अली खाँ से यह गद्दी पर बैठे थे और इन्हीं के आश्रय पर निश्चिंत होकर अपना समय ऐशो आराम में व्यतीत किया। इशा के अनुसार यह शाघ्र क्रुद्ध हो जाते थे पर इनका दरबार विशेषतः इन्हीं तरह के विदूषक मसख़रे आदि से भरा रहता था, क्योंकि अश्लीलतापूर्ण उत्तर प्रत्युत्तर, कविता आदि पुरस्कृत और मान्य होती थीं। इंशा की कवित्वशक्ति तथा विद्वत्ता इन्हीं दरबार में स्वाहा हुई थी और उनके स्थान पर हजो इत्यादि में पक्षपात पूर्ण आक्षेप, मत्सर-युक्त व्यक्तिगत कटाक्ष आदि ने कविता में अवतरित होकर उसके कलेवर को भ्रष्ट कर दिया था। ममनवी कोक आदि भी पूर्णतया अश्लील मसनवियाँ यहीं उत्साह पाकर लिखी गईं। सन १८१४ ई० में नवाब सआदत अली ख़ाँ की मृत्यु हो गई।

नवाब सआदत अली ख़ाँ के पुत्र ग़ाज़ीउद्दीन हैदर सन् १८१४ ई० में गद्दी पर बैठे। इन्हें लार्ड हेस्टिंग्स ने बादशाह की पदवी दी और दिल्ली सम्राट् से पूर्णतया स्वतंत्र कर दिया। इसके उपलक्ष में बड़ धूमधाम से लखनऊ में दरबार हुआ जिसमें तीस सहस्र के हीरे मोती लुटाए गए। यह साधारण कोटि की कविता कर लेते थे। यह सन् १८२७ ई० में परिपूर्ण राजकोष छोड़कर मर गए और शाह नजफ़ में गाड़े गए, जिसे इन्होंने स्वयं इसी लिए बनवाया था। इनकी मृत्यु पर इनके पुत्र नसीरुद्दीन हैदर गद्दी पर बैठे और कुल राजकोष चौपट कर दिया।

ग़ाज़ीउद्दीन की मृत्यु पर इनका पुत्र सुलेमान जाह नवाब नसीरुद्दीन हैदर की उपाधि से गद्दी पर बैठा। दिल्ली के सम्राट् की पुत्री

नसीरुद्दीन

से इनका विवाह हुआ। इसने 'अली या आली हैदर' के उपनाम से मर्सिए और 'बादशाह' उपनाम से कुछ ग़ज़ल भी लिखे। इनकी सन् १८३७ ई० में विष खिलाने से मृत्यु होने पर इसके चाचा मुहम्मद अली शाह बादशाह हुए। सन् १८४२ ई० में इसके मरने पर इसके पुत्र अमजद अली शाह गद्दी पर बैठे। ये दोनों साहित्य और कला के आश्रयदाता रहे और कवियों को वृत्तियाँ देकर प्रोत्साहित करते थे।

वाजिद अली शाह

अमजद अली शाह के पुत्र वाजिद अली शाह सन् १८४७ ई० में अपने पिता की मृत्यु पर गद्दी पर बैठे। इनकी पूर्ण यौवनावस्था थी और इनके पिता राजकोष में लगभग डेढ़ करोड़ रुपये नक़द छोड़ गए थे। 'यौवन धनसंपत्ति· प्रभुत्वमविवेकेता' सभी साधन एकत्र हो गए। दो करोड़ रुपए व्यय कर क़ैसर बाग तथा उसमें की इमारतें तैयार हुईं। वहीं रासलीला, मेले तथा विषय भोगादि में समय बीतने लगा। प्रबंध कुमंत्रियों के हाथ पड़कर नष्ट हो गया। भारत सर्कार ने कई बार चेतावनी दी पर कोई फल न निकला। अंत में यहाँ तक अशांति फैली कि कंपनी ने उस राज्य को जब्त कर लिया। बीस लाख वार्षिक वृत्ति देकर इन्हें कलकत्ते में रहने की आज्ञा मिली। मटिया बुर्ज मे कुछ समय के अनतर फिर वही रंगरलियाँ मचने लगीं। बीच में सन् १८५७ ई० का गदर आरंभ हो गया, जिससे इन्हें लगभग डेढ़ वर्ष तक फोर्ट विलिअम में नज़र कैद रहना पड़ा था। 'हुज़्ने अख्तर' में लखनऊ से कलकत्ते पहुँचने तक का वर्णन है। कलकत्ते का इनका चिड़ियाघर इतना सपन्न था कि योरोप तक के यात्री उसे देखने को यहाँ आते थे। यह सन् १८८७ ई० में मृत्यु-मुख मे समा गए। नवाब वाजिद अली शाह कविता में अपना उपनाम 'अख्तर' और ठुमरी आदि मे 'जाने आलम पिया' रखते थे। गान विद्या के ज्ञाता और मर्मज्ञ थे। इमारत बनवाने के भी प्रेमी थे। यह हर समय सुन्दर

स्त्रियों, गवैयों तथा कवियों से घिरे रहते थे। यह अपनी कविता असीर और वर्क से शुद्ध कराते थे। इनके सिवा अमानत, फ़लक़, बह्र, तस्लीम, सह्र, जकी, दुरख्शाँ आदि बहुत से कवि इनके दरबार में बराबर रहे। इनके पुत्रों में युवराज मिर्ज़ा हामिद अली, मिर्ज़ा आस्मान जाह और मिर्ज़ा प्रद्र कौकिब, अंजुम और मिर्ज़ा उपनाम से कविता करते थे। इनकी बेगमों में से भी दो आलम और महबूब उपनाम से कविता करती थीं।

इनकी रचनाएँ इतनी अधिक हैं कि लगभग चालिस जिल्दें हो जाती हैं। इन्होंने ग़जलों के छ दीवान लिखे हैं, जिनके नाम (१) शयूज फ़ैज़ (२) क़मरे मज़मून (विषय चंद्र) (३) जुहुने अशरफ़ (अच्छी कविता) (४) गुलदस्तए आशिक़ाँ (प्रेमियों का गुच्छा) (५) अख्तरे मुल्क (देश नक्षत्र) और नज्मे नामवर (प्रसिद्ध पद्य) हैं। हुज्ने अख्तर, बनी, नाजू, दुल्हन (संगीत कला पर), बहिआर सअर्दुल्फ़ और खिताबाते महलात आदि कई मसनवियाँ लिखीं। इनके सिवा बहुत से मर्सिए और क़साइदे लिखे हैं जो कई जिल्दों में संगृहीत हुए हैं। दफ्तरे परेशाँ, मख्ज़ने मावसिर, दस्तूरे वाजिदी, रिसालए ईमान, इश्क़नामा आदि बहुत से छोटे छोटे ग्रंथ लिखे हैं। इनकी ठुमरियाँ भी बहुत प्रचलित हैं। इनकी एक प्रिय बेगम मुमताज़े जहाँ जीनत बेगम लखनऊ में रह गई थीं, जिन्हें ये बराबर पत्र लिखते रहे। इन पत्रों का एक संग्रह नवाब की आज्ञा से अकबर अलीखाँ तौक़ीर ने किया था और इसकी भूमिका लिखी थी। ये पत्र समयानुक्रम से छपाए गए हैं और सन् १८८० ई० में यह संग्रह समाप्त हुआ था। वाजिद अली शाह आशु कवि थे, पर इनकी कविता साधारण है। यह आप बीती कहने में स्पष्टवादिता की विशेषता देते थे और इसीसे हुज्ने अख्तर करुण रस पूर्ण तथा स्वाभाविक होने से हृदयग्राही हो गया है। उदाहरण—

जबसे बंगाले में हसने की एकामत देखना।
नावके सोजाँ का हर बंगला निशाना हो गया॥
जुल्फे तुहमत से फँसे आन के कलकत्ते में।
हमने जिंदाँ को भी देखा है सिवाए गुर्बत॥
कैद होने से कहीं बूए रियासत जायगी।
लाख गर्दिश आसमाँ को हो जमीं होता नहीं॥
न साथवालो करो बहानः मैं पूछता हूँ यः दोस्तानः।
किधर को है काफिलः रवानः बताओ आए हो सब कहाँ से॥
बीमारे इश्क देखे से अच्छा है ऐ मसीह।
दरकार है तबीब न हाजत दवा की है॥

सैयद मुज़फ्फर अली 'असीर' के पिता मदद अली मुहम्मद सालिह करोड़ी के वंशज थे। ये अमेठी के रहनेवाले थे। बारह वर्ष की अवस्था में असीर का विवाह लखनऊ के शेखज़ादा के घराने में हुआ तब यहीं आकर फिरंगी महल के विद्वानों से शिक्षा प्राप्त की, कविता में मुसहिफी के शिष्य हुए पर वे दो ही तीन वर्ष बाद मर गए, इसलिये स्वयं आयास करते रहे। नसीरुद्दीन हैदर के समय नौकर होकर अमजद अली शाह के समय बादशाही कचहरी के सरिश्तेदार और कारीगरों के दारोग़ा हुए। वाजिद अली शाह ने तदबीरुद्दौला मुदब्बिरुलमुल्क बहादुर जंग की पदवी दी और इनसे कविता में इसलाह लेते रहे, पर जब वे राज्यच्युत होकर कलकत्ते जाने लगे तब ये साथ न गए। इससे नवाब को बहुत दुख पहुँचा। विद्रोह के बाद रामपुर के नवाब युसुफ अली खाँ ने इन्हें बुलाकर अपने दरबार में रखा, जहाँ यह अंत तक रहे। इनकी सन् १८८२ ई० (१२९९ हि०) में चौरासी वर्ष की अवस्था में मृत्यु हुई। इन्होंने चार दीवान, दुर्रतुल्ताज नामक मसनवी और छंदशास्त्र पर एक पुस्तक लिखी। इनके दो दीवान और भी सुने जाते हैं। इन्होंने क़सीदे और

असीर

मर्सिए भी खूब लिखे हैं। छंदशास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे और भाषा तो इनकी अनुवर्तिनी थी। इनके सबसे अधिक प्रसिद्ध शिष्य अमीर मीनाई थे और अन्य शिष्यों में इनके दोनों पुत्र हकीम और अफ़-ज़ल तथा शौक़, यासिती और असद थे। उदाहरण—

उसको मंज़ूर नज़र है और कुछ होता है कुछ।
हँसती है तक़्दीर क्या क्या आदम तद्वीर पर॥
आया है हमको हाथ यह मज़मूँ निराश से।
रौशन उसी का नाम रहे जो बनाए दिल॥
आग़ाज़ तमाम फ़िक्र तमाम और दम तमाम।
पर दास्तान शौक़ अभी नातमाम है॥
मुसहफ़ को मैं ग़ैर कर आया।
यों जुदा ही जुदा नज़र आया॥

सैयद आग़ा हसन 'अमानत' मीर आग़ा रिज़्वी के पुत्र तथा सैयद अली रिज़्वी के वंशधर थे। इनका जन्म २८ जमादिउल् अव्वल सन् १२३१ हि०, सन् १८१६ ई० में हुआ था। आरंभ में मसिया कहने की ओर इनकी रुचि हुई, इसलिए मियाँ दिलगीर के शिष्य हुए। बीस वर्ष की अवस्था में रोग से यह गूँगे हो गए। जब यह ग़ज़ल लिखने लगे तब स्वयं उसे ठीक करते थे। सन् १८४४ ई० में यह करबला गए, जहाँ से लौटने पर इनका गूँगापन जाता रहा। पहेली मुख़म्मस बहुत कहा है। इनका दीवान ख़ज़ायनुल्फ़साहत, गुलदस्तए अमानत और इंदर सभा तथा मर्सिए प्रकाशित हो चुके हैं। परंतु यह अपने वासोख़्त तथा इंदर सभा के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। यह इंदर सभा उर्दू नाटकों में सर्व प्रथम होने से विशेष प्रसिद्ध है। इनकी कृतियों में शब्दावली अति उत्तम है और मुहाविरेदार भाषा की छटा दर्शनीय है पर सब अस्वाभाविक तथा आडंबरपूर्ण है। नासिख़ की चलाई प्रथा का इनमें पूर्ण विकास हुआ है। इनकी रचनाएँ लोकप्रिय हुईं। अमानत अपने

दो पुत्र—लताफ़त और फसाहत—को छोड़कर सन् १८५८ ई० में 'इंदरलोक' सिधारे। उदाहरण—

परियों की मुहब्बत में एक हाल है दोनों का।
फर्जानः हुआ तो क्या दीवानः हुआ तो क्या॥
कल यार को जो ले चले अग़यार खींचकर।
हम ठंढी साँसें रह गए दो चार खींचकर॥
नरगिस को बागबाँ से महल है हिजाब का।
चोरी गया चमन से कटोरा गुलाब का॥
आँसू रवाँ हैं ज़ुल्फे सियह के खियाल में।
मोती पिरो रहा हूँ तेरे बाल बाल में॥

कल्क़

आफ्ताबुद्दौला ख्वाजा असद बहादुर अर्शद अली खाँ 'क़ल्क' के पिता का नाम ख्वाजः बहादुर हुसेन 'फिराक़' था और दादा अटक निवासी ख्वाजः मिर्ज़ा खाँ थे। यह अपने मामा वज़ीर के शिष्य थे, जो नासिख के प्रिय शिष्य थे। यह वाजिद अली शाह के दरबारी कवि थे और अपने को उनका शिष्य लिखा है। इन्होंने एक दीवान लिखा है। इनकी कविता में अश्लील शृंगार का वर्णन है। इनकी मसनवी तिलस्मे उलफत अच्छी है। अपने आश्रग्दाता की प्रशंसा में जो क़सीदा लिखा है, कैसर बाग पर जो गज़ल है और राज्यच्युति पर जो मुखम्मस लिखा है, ये सब अच्छे हैं। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था और कुछ कविता उच्च कोटि की भी है। उदाहरण—

ऐसे दीवाने हों सर संग से फोड़े अपना।
कभी बादाम जो देखें तेरी प्यारी आँखें॥
वह कौन है जहाँ में नहीं जिस को हुब्बे जर।
ज़ाहिद लगाएँ आँखों से उस सीमतन के पाँव॥

सैयद अली खाँ 'दुरख्शाँ' के पिता का नाम मीर मुग़ल था। यह लखनऊ के रहनेवाले और असीर के शिष्य थे। इन्हें महताबुद्दौला

कोफियुलमुल्क मिजारुद्दौला पदवी मिली थी। यह
सुरूर्ज्यों वाजिद अली शाह के साथ कलकत्ते गए, जहाँ इनकी
मृत्यु हुई। यह ज्योतिष भी जानते थे। इन्होंने एक
दीवान लिखा है। साधारण कवि थ।

ख्वाजी मुहम्मद नादिम 'अख्तर' के पिता ख्वाजा लाल मुहम्मद
हुगली के रहने वाले थे। यहीं इनका जन्म हुआ था पर यह सन्
१८१४ ई० के लगभग लखनऊ चले आए, जहाँ ये
अख्तर मिर्जा कतील के शिष्य हुए। मुसहिफी, इंशा आदि
की कविसभाओं में भाग लिया और आतिश तथा
नासिख के समय तक रहे। नवाब गाजीउद्दीन हैदर ने इन्हें
मलिकुश्शोअरा की पदवी दी। यह कुछ दिन फैज़ाबाद में रहे।
वाजिद अली शाह ने इनका उपनाम अपनाया था, इसलिये इनको
पुरस्कृत और सम्मानित किया था, पर कुछ दिनों के अनंतर
किसी प्रकार इन पर नाराज हो गए, जिससे यह लखनऊ छोड़कर
इटावे चले गए। वहाँ अंत तक तहसीलदार रहे। यह विद्रोह
के बाद लखनऊ में सन् १८५८ ई० में मरे। यह लखनऊ के
प्रसिद्ध विद्वानों और कवियों में परिगणित थे। इनकी कविता
में तीव्रता, विनोद और मार्मिकता है। इनकी फारसी रचना अधिक
है। मदामिह हैदरिया, सुबह सादिक, नूरुलईसा, दीवान फारसी
और पाँच सहस्र फारसी कवियों का जीवनियाँ तथा कविताओं
का संग्रह आफ्ताबे आलमताब फारसी की कृतियाँ हैं। उर्दू में एक
दीवान लिखा है। उदाहरण—

हैर क्या याँ खाक है गुल की परेशानी का देख।
बैठकर हम भी कोई दम मिस्ले शबनम रह गए॥
अगर है नाम की ख्वाहिश तो उनका भी तरह रहिए।
कि ढूँढ़ें लाख कोई पर न जाहिर हो निशाँ अपना॥

जिस गुल को आबे चश्म से पाला हो उसके अब।
आँखों मे खटकने लगे हम मिस्ले खार हैफ़॥

शेख मेह्दी अली खाँ 'ज़की' के पिता करामत अली लखनऊ के शेखजादों में से थे। यह मुरादाबाद के रहनेवाले थे, जहाँ इनका जन्म हुआ था। नवाब ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के समय लखनऊ आकर यह नासिख के शिष्य हुए। नवाब की प्रशंसा में क़सीदा लिखा, जिससे अच्छा पुरस्कार मिला। इसके अनंतर दिल्ली और दक्षिण गए, जहाँ अच्छा सम्मान हुआ। फिर लखनऊ लौटने पर नवाब वाजिद अली शाह के दरबारी कवि हुए। कुतबुद्दौला की सहायता से मलिकुश्शोअरा की पदवी मिली। अवध की नवाबी का अंत होने पर मुरादाबाद चले गए। फिर वहाँ से नवाब यूसुफ अली खाँ के बुलाने पर रामपुर गए। यहीं सन् १८६४ ई० में इनकी मृत्यु हुई। यह काव्यशास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे और उस विषय पर एक पुस्तक भी लिखी है, जो सन् १८५८ ई० में प्रकाशित हुई। इनका एक दीवान है, जो प्रकाशित हो चुका है। यह एक विद्वान् और सुकवि हो गए हैं। उदाहरण—

जकी

जाबजा चर्चे हुए जब हुए हमसे दो चार।
खुल गया राज पड़ी बात जो दो चार के मुँह॥
अब सबब क्या है जो काँटा सा खटकता है 'जकी'।
यही वह दिल है जो रहता है सदा आँखों में॥
इन संगदिल बुतों से कहाँ तक बराये दिल।
पहलू में संग काशके होता बजाय दिल॥

नवाँ परिच्छेद

लखनऊ साहित्य-केंद्र—मर्सिए और मसियागो—

जमीर और खलीक़—अनीस और दबीर

मर्सिए शोक-गीत को कहते हैं, जो मृत की प्रशंसा तथा स्मृति में लिखा जाता है। मुसलमानों में यह कृति सम्मान्य है तथा हसन और हुसेन आदि कर्बला युद्ध में मारे गए वीरों की याद में होने से इस प्रकार की कविता इस धर्म के इतनी ही प्राचीन है। मुहर्रम के अवसर पर साथियों के जुलूस के साथ यह गाया जाता है। यह कविता आरंभ में केवल धार्मिक उत्साह से की जाती थी और इनमें पंद्रह बीस शैर से अधिक न होते थे। उनमें वास्तविक उद्गार रहता था और करुण रससे ओत प्रोत होता था पर मृत की कोरी प्रशंसा कवि को कम नहीं कर सकी, इससे मर्सियों की कमी और कसीदों का आधिक्य होने लगा। फारसी कविता में शृंगार तथा प्रेम का प्राधान्य होने पर नैसर्गिकता का ह्रास हो गया और ऊपरी दिखावट बढ़ने लगी। करुण रस के लिए हृदय का उद्गार होना ही सर्वस्य है, जिसका अभाव सा हो रहा था। फिर्दौसी, फर्रुखी, सादी तथा खुसरो ने भी छोटे छोटे शोक-गीत लिखे हैं पर उनका विशेष प्रचार नहीं हुआ।

मर्सिया

उर्दू-साहित्य का आरंभ दक्षिण में गोलकुंडा तथा बीजापुर के दरबारों में हुआ था, जो शीआ थे। यहाँ के राजे स्वयं कवि थे और कवियों के आश्रयदाता थे। इन लोगों की रचनाओं में मर्सियों को भी स्थान मिला है। वली ने सलाम लिखा है। मीर और सौदा के समय में बहुत से कवि मर्सिया ही लिखते थे, जिनमें सिकंदर, अमानी,

उर्दू साहित्य में मर्सिया

आसिमी, मिस्कीं, मीर हसन आदि उल्लेखनीय हैं। ये रचनाएँ केवल धार्मिक विचारों से लिखी जाती थीं और इनका पुरस्कार पुण्य मात्र था। ये कवित्व-शक्ति तथा विद्वत्ता दिखलाने के लिए नहीं प्रणीत होती थीं। मीर और सौदा ने स्वयं भी कहने को मर्सिए लिखे हैं। मीर हसन तथा उनके पिता के मर्सिए भी विशेष प्रशंसनीय नहीं हैं। पहले के मर्सिए चार चार मिसरों के बंद के होते थे पर सौदा ने पहले पहल छ मिसरों के मुसद्दस का मर्सिए में प्रयोग किया, जिसका खलीक़ और ज़मीर ने प्रचार किया। उस समय तक तीस चालीस बंद तक के मर्सिए होते थे पर मीर ज़मीर ने पहले पहल एक बहुत बड़ा मर्सिया लिखा, जिसमें शाहज़ाद: अली अकबर के मारे जाने का बयान है। आरंभ में भूमिका देकर वस्तु-प्रवेश दिखलाया, फिर नखशिख तथा युद्धस्थल का वर्णन किया और आलंकारिक भाषा आदि का भी प्रयोग किया। यह शैली अनीस और दबीर के समय पूर्णता को पहुँची। पहले मर्सिए 'सोज' में पढ़े जाते थे पर अब 'तहत लफ्ज' में पढ़े जाने लगे। ये दोनों पढ़ने के ढंग मात्र हैं।

ज़मीर

मीर मुजफ्फ़र हुसेन 'ज़मीर' के पिता मीर क़ादिर अली लखनऊ के रहने वाले थे। जमीर मुसहिफी के शिष्य थे। कविता के साथ साथ अरबी तथा फारसी में अच्छी योग्यता रखते थे। धर्मप्रिय तथा शुद्धात्मा होते हुए भी विनोदप्रिय और चंचल स्वभाव के थे। यद्यपि पहले ग़जल इत्यादि लिखते थे और इनका दीवान भी सुना जाता है, पर बाद में केवल परलोकगत जीवों की प्रशंसा में मर्सिए ही कहने लगे। जैसा उल्लेख हो चुका है, इन्होंने नखशिख (सरापा) युद्ध तथा युद्धस्थल-वर्णन आदि का समावेश कर सौ सौ पद तक के मर्सिए लिखे हैं। मीर खलीक़ इनके समकालीन तथा प्रतिद्वंद्वी थे और आपस की इस समानता में दोनों की प्रतिभा ने पूरा विकास पाया। उस समय मियाँ

दिलगीर और मियाँ फ़सीह दो और भी मर्सियागो थे जिनमें दूसरे हज को गए तो वहीं रह गए तथा पहले मर्सिए नहीं पढ़ते थे क्योंकि तुतलाते थे। इस कारण इन्हीं दो के लिए मैदान खाली था। ज़मीर विद्वत्ता तथा प्रतिभा के कारण काव्य वातावरण में अच्छी प्रकार पहचान लेते थे और ख़लीक़ भाषा के अच्छे ज्ञाता थे। उदाहरण—

क्या कहूँ मैं कि कब कहाँ हैं दिन। उस ग़म में रहें दसों हैं दिन॥
शाह अस्र् में शाह थार न बाग़। दश्मनों का कहाँ कहाँ हैं दिन॥
इस शरम ऊंच उठाता था। शाह और पूत में जनाँ हैं दिन॥

ख़लीक़

मीर मुस्तहसिन 'ख़लीक़' मीर हसन के पुत्र थे और इन्होंने फ़ैज़ाबाद तथा लखनऊ में शिक्षा प्राप्त की थी। सोलह वर्ष की अवस्था में यह ग़ज़ल बनाने लगे। पहले पिता ही को कविता दिखलाते थे पर समयाभाव से उन्होंने इन्हें मुसहफ़ी की शिष्य मण्डली में भर्ती करा दिया। शीघ्र ही प्रसिद्धि प्राप्त कर नैशापुरी वंश में पन्द्रह रुपए मासिक वृत्ति पाने लगे। इसी वंश के मिर्ज़ा तक़ी 'तरक़्क़ी' ने फ़ैज़ाबाद में कवि-सभा स्थापित करने को आतिश को बुलवाया था पर इनके ग़ज़लों को सुन कर उन्होंने अपनी ग़ज़ल फाड़ डाली कि ऐसे योग्य कवि के रहते इन्हें यहाँ बुलाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसी समय पिता की मृत्यु हो जाने से गृहस्थी का कुल भार इन पर आ पड़ा, जिससे यह अपनी ग़ज़लें बेचने लगे। इस पर भी एक पूरा दीवान लिख डाला। यह अपने मर्सियों ही के लिए प्रसिद्ध हुए, जिसे स्वयं सभाओं में पढ़ते थे। मीर ज़मीर आदि के समकालीन थे। मीर ख़लीक़ ने भाषा सौष्ठव, कारुण्य तथा उपयुक्त प्रवाह लाने में विशेष नैपुण्य दिखलाया है। मीर ज़मीर में कवित्व शक्ति, कल्पना तथा विद्वत्ता अधिक है। ख़लीक़ का वंश ही उर्दू के शुद्धतम प्रयोग का कोष समझा जाता था। उदाहरण—

इश्के आईनः है उस रश्के कमर का पहलू।
साफ इधर से नजर आता है उधर का पहलू॥
मुजराई तबअ कुंद है लुत्फे बयाँ गया।
दंदाँ गए कि जौहरे तेगे जुबाँ गया॥
गुजरी बहारे उम्र 'खलीक़' अब कहेंगे सब।
बागे जहाँ से बुलबुले हिंदोस्ताँ गया॥
अश्क जो चश्मे खूँ फशाँ से गिरा।
था सितारा कि आस्माँ से गिरा॥
हँस दिया यार ने जो रात 'खलीक़।
खाके ठोकर उस आस्ताँ से गिरा॥

अनीस

मीर बबरअली 'अनीस' का जन्म लगभग सन् १८०२ ई० में फैजाबाद में हुआ था। वहीं इन्होंने पिता मीर मुस्तहसिन 'ख़लीक़' की तत्वावधानता में शिक्षा पाई। प्रौढ़ावस्था प्राप्त होने पर यह अपने छोटे भाई मीर मेहअली 'उन्स' के साथ लखनऊ आए। इसके बहुत दिनों बाद कुल परिवार ही लखनऊ आकर बस गया। अनीस भारी विद्वान नहीं थे पर उनमें कवित्वशक्ति ईश्वरदत्त थी। इन्होंने साधारण शिक्षा प्राप्त की थी। युद्धविद्या में यह बड़े कुशल थे और घुड़सवारी के भी प्रेमी थे। कविता में इन दोनों कलाओं के ज्ञान का पूरा उपयोग किया गया है। कविमात्र सौंदर्य के उपासक होते हैं। अनीस में इसकी मात्रा अधिक थी और काव्यपरंपरा को छोड़कर जीवमात्र में वे सौंदर्य ढूँढ़ लेते थे। साथ ही कविता इन्हें रिक्थ-क्रम मे मिली थी, जैसा कि इन्होंने स्वयं कहा है कि 'पाँचवीं पुश्त है शब्बीर को मद्दाही में'। इन्हें अपने वंश का अभिमान भी बहुत था और इसी से लोगों से मिलने-जुलने में ये अदब कायदे के बड़े पाबंद थे। कवित्वशक्ति ने इनकी प्रतिष्ठा भी बहुत बढ़ा दी थी, यहाँ तक कि हैदराबाद के नवाब तहौव्वर जंग ने इनकी जूतियाँ उठाकर पालकी में रखने में अपना सम्मान समझा था। इनमें

संतोष भी अधिक था और इसी से किसी धनी की प्रशंसा कर रुपये उगाहने की इनकी इच्छा ही नहीं रहती थी। अवध के नवाबों के शीआ होने से मुहर्रम का तेहवार दस दिन के बदले चालिस दिन तक मनाया जाने लगा था और वहाँ के रईस तथा जनसाधारण इसमें अधिक योग देते थे। मर्सिए, सलाम आदि के पढ़ने के लिये मजलिसें जगह जगह नित्य होती रहती थीं। इस प्रकार मर्सिए पढ़ने ही से काफी आय हो जाया करती थी। अवध की नवाबी के अन्त होने पर भी ये कहीं जाना नहीं चाहते थे, पर अंत में जाना ही पड़ा। सन् १८५९ ई० और १८६० ई० में दो बार यह पटने गए और दूसरी बार लौटते समय बनारस में भी ठहरे थे। सन् १८७१ ई० में यह हैदराबाद गए और लौटती समय प्रयाग में ठहरे थे। सभी स्थानों में इन्होंने मर्सिए सुनाए और सभी जगह इनकी खूब प्रशंसा हुई। सन् १८७४ ई० (१२९१ हि०) में लगभग ७४ वर्ष की अवस्था में ज्वर से इनकी मृत्यु हुई।

पहले इन्होंने मीर जाहक के मित्र फारसी के प्रसिद्ध कवि 'हज़ीं' के उपनाम को अपनाया था पर जब इनके पिता खलीक इन्हें लेकर नासिख के पास मिलने गए तब उन्हीं के कहने पर 'अनीस' उपनाम किया। इन्होंने ग़जल लिखना आरम्भ किया था पर पिता के कहने पर उसे छोड़कर मर्सिए की ओर झुक पड़े और उन्हीं के सामने ही अच्छा नाम पैदा कर लिया। खलीक और ज़मीर की मृत्यु पर अनीस और दबीर मर्सिए के अखाड़े में उतरे और इस प्रतिद्वंद्विता ने दोनों ही की प्रतिभा को विशेष जागृत किया। इन्होंने ग़ज़लों का एक दीवान लिखा है और मर्सिए, क़िस्से, रुबाइयाँ आदि बहुत लिखी हैं। मर्सियों की छ जिल्दें प्रकाशित हो चुकी हैं और बहुत से अप्रकाशित पड़े हुए हैं। इनके पढ़ने की चाल भी अच्छी थी जिसे ये अपने भाई उन्स और मूनिस की चाल पर आईन आगे रखकर ध्यान पर चढ़ाते थे।

रचनाएँ

भाषा तथा साहित्य पर प्रभाव

अनीस के पूर्वज दिल्ली के रहनेवाले थे और कई पीढ़ियों से सुकवि होते आए थे, इससे इनके घर की भाषा उर्दू की टकसाली भाषा मानी जाती थी तथा दिल्ली और लखनऊ दोनों स्थानों में सम्मानित थी। यह स्वयं भी अपनी भाषा के कुछ मुहावरों का प्रयोग लखनऊ की चाल से भिन्न अन्य प्रकार से करते थे। नासिख़ आदि कई प्रसिद्ध कवियों ने इनके वंश को उर्दू भाषा की टकसाल माना है और उसे सीखने के लिए लोगों को राय भी देते थे। अनीस ने भी उर्दू भाषा को परिमार्जित करने में बहुत प्रयत्न किया है और कितने नए शब्द चलाए हैं। इनकी शब्द-योजना बड़ी ही सरल और प्रसादमयी होती थी। कविता का प्रवाह ऐसा सुंदर होता था कि पढ़ने में कहीं अटक नहीं होती थी। उर्दू-साहित्य में स्फुट कविता ही विशेष है। प्रबंध काव्य में केवल मसनवियाँ प्राप्त थीं पर पौराणिक महाकाव्यों का बिलकुल अभाव था। इस कमी को कहा जाता है कि इन्होंने पूर्ण किया। महाभारत और रामायण, इलिअड और इनीअड आदि से ग्रंथों की गुंजाइश उर्दू भाषा में कहाँ से हो सकती है, जिसका जन्म तथा पोषण रँगीले बादशाहों और नवाबों की छाया में हुआ है। इतने पर भी अनीस का युद्धस्थल, सेनाओं, वीरों, अस्त्रशस्त्रादि का वर्णन बहुत ही उत्तम हुआ है। फ़िर्दौसी तथा निज़ामी के वर्णन से ये कभी घट-कर नहीं हैं। प्राकृतिक शोभा का वर्णन ऐसा है मानों उसका चित्र ही खींच दिया है। सूर्योदय, चंद्रास्त, समीर-विचरण, पुष्प, वृक्ष आदि के वर्णन की शैली इनकी निज की है और अत्यंत हृदय-ग्राही है। मनुष्य के आनंद, कष्ट, ईर्ष्या, द्वेष आदि मानसिक विकारों का भी कहीं कहीं कविता में अच्छा विश्लेषण किया है और पात्र के अनुकूल भाषा भी रखी है।

जैसी कि लखनऊ की प्रथा थी, उसके विपरीत इन्होंने भाव, अर्थ तथा शब्द-योजना को प्रधानता देते हुए अलंकारादि का प्रयोग किया

है, जिससे कविता का सौंदर्य्य बहुत बढ़ गया है। रचनाशैली तथा अतिशयोक्ति का उपयोग वहीं तक किया है जहाँ तक इतिहास में स्थान वह साधक और समथ था। इन्होंने अनूठी और अछूती उपमाएँ ही काम में लाई हैं। भाषा ओज और प्रसादमय है और उसका प्रवाह भी अत्यंत सरल है। एक ही बात को इन्होंने अनेक बार नई नई रीति पर कहा है और सभी मनोहर और आकर्षक हैं। इनकी कविता में इतिहास के साथ साथ काल्पनिक घटनाएँ समाविष्ट हैं। इनकी कविता की आलोचना करते हुए कुछ विद्वानों ने अशुद्धियाँ निकाली हैं और दूसरों ने उत्तर भी दिए हैं। अधिक लिखने वाले प्रसिद्ध कवियों की सभी कविता एक सी नहीं होती, साँचे में वे ढली नहीं रहतीं, इससे किसी साधारण पद को लेकर सब पर आक्षेप करना ठीक नहीं है। ऐसी अशुद्धियाँ रही जाती हैं और ऐसी साधारण कविता होती ही है, जो उनसे प्रसिद्ध कवियों के योग्य नहीं पर वह भी उनकी अमर रचना के साथ अमिट हो रहती है। उर्दू-साहित्य के इतिहास में इनका स्थान बहुत ऊँचा है और ये उर्दू के फिर्दौसी और होमर समझे जाते हैं। उदाहरण—

देखना कल ठोकरें खाते फिरेंगे इनके सर।
आज नखवत से जमीं पर जो कदम रखते नहीं॥
जो सखी हैं मारे दुनिया से हैं खाली उनके हाथ।
अहले दौलत जो हैं वह दस्ते करम रखते नहीं॥
करीब कब्र हम आए कहाँ कहाँ फिर कर।
तमाम उम्र हुई जब तो अपना घर देखा॥
मिस्ले बूए गुल सफर होगा मेरा।
वह नहीं मैं जो किसी पर बार हूँ॥
हलचल थी कि तलवार चली फौज में सन से।
ढालें तो रहीं हाथों में सर उड़ गए तन से॥

तायर भी हवा हो गए सन्न जुल्म के बन से।
आगे था हिरन शेर से औ शेर हिरन से॥
आई जिस गोल पै लाशों से जमीं पाट गई।
हाथ मुँह सद्रोकमर सीनओ सर काट गई॥
चाट ऐसी थी लहू की कि सफें चाट गई।
देखी तेगों की जिधर बाढ़ उसी घाट गई॥
'अनीस' दम का भरोसा नहीं ठहर जाओ।
चिराग लेके कहाँ सामने हवा के चले॥

दबीर

मिर्जा सलामत अली 'दबीर' का जन्म सन् १८०५ ई० (१२२० हि०) में दिल्ली मे हुआ था पर ये अपने पिता गुलाम हुसेन काग़ज़ी के साथ सात वर्ष की अवस्था ही में लखनऊ में आकर बस गए और यहीं शिक्षा प्राप्त की। विद्या-प्राप्ति में बड़ा उत्साह था और अन्य विद्वानों से तर्क वितर्क करने का इनका स्वभाव होने से इनकी बुद्धि अधिक तीव्र हो गई थी। यह कविता में ज़मीर के शिष्य हुए और शीघ्र ही अपनी कवित्व-शक्ति तथा अध्ययन से अपने गुरु के प्रिय शिष्य हो गए। इनकी प्रसिद्धि भी बहुत जल्दी हो गई। यहाँ तक कि बीस बाईस वर्ष की अवस्था ही में नवाब गाज़ीउद्दीन हैदर ने इनकी कविता सुनी थी। इन्हीं नवाब के राज्यकाल में लिखे गए 'सुरूर' के फिसानए अजायब में प्रसिद्ध मर्सियागोओं में इनका नाम भी दिया गया है। बहुत से धनाढ्य गण भी इनके शिष्य हो गए और उर्दू भाषा साहित्य के यह भी विद्वान् माने जाने लगे। कविसभाओं मे 'जमीर' इन्हीं को पहले पढ़ने की आज्ञा देते थे और तब उसके अनंतर स्वयं पढ़ते थे। 'दबीर' का लिखा हुआ एक मर्सिया उन्हे इतना पसंद आया कि उन्होंने उसे स्वयं पढ़ने के लिये ले लिया और उसे बड़े परिश्रम से ठीक ठाक कर नवाब शरफुद्दौला की कवि सभा में गए। परंतु मित्रों के बहकाने तथा ख्याति के लोभ में दबीर ने इसी मर्सिए को स्वयं

ठीक कर नियमानुसार पहले ही कवि सभा में पढ़ डाला। यह उसे सुनकर बड़े दुःखी हुए और इस प्रकार गुरु शिष्य में मनोमालिन्य हो गया पर आपस का यह मालिन्य शीघ्र दूर हो गया। दबीर अपने गुरु की बराबर प्रतिष्ठा करते रहे। फैजाबाद से अनीस के लखनऊ आने के समय तक दबीर ने अच्छी ख्याति अर्जित कर ली थी। इन दोनों की प्रतिद्वंद्विता ने दोनों ही के यश को अधिक उज्ज्वल किया और दोनों की कविता को उत्कृष्टतर कर दिया। दोनों ही एक दूसरे से प्रेमपूर्वक मिलते-जुलते थे और ईर्ष्या द्वेष से एक दूसरे को गिराने का भी प्रयत्न नहीं करते थे। सन् १८७४ ई० में दबीर की आँखें जाती रहीं। नवाब वाजिद अली शाह ने कलकत्ते बुलाकर इनकी आँखें बनवा दीं। इसके पहले सन् १८४८ ई० और १८५९ ई० में यह क्रमशः मुर्शिदाबाद और पटना गए थे। सन् १८७५ ई० (२९ मुहर्रम १२९२ हि०) में ७२ वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु हुई।

इन्होंने मर्सिए ही लिखे हैं जिनका संग्रह कई जिल्दों में प्रकाशित हो चुका है। इन्होंने अपना सारा जीवन इसी प्रकार की रचना में व्यतीत कर दिया। यह फारसी तथा अरबी के विद्वान् थे और इस कारण इनकी कविता में क्लिष्ट शब्द-योजना और अर्थ-गाम्भीर्य विशेष था। नए भावों का उपयोग करते हुए करुणात्मक व्यंजना, प्रभावशाली शब्दों का प्रयोग और ओजमयी वर्णना इनके पदों में दर्शनीय है। इनकी कल्पना-शक्ति बढ़ी-चढ़ी थी और इनके पदप्रवाह में तीव्रता और उद्दंडता थी। इसी प्रकार का एक धूमधाम का मर्सिया इन्होंने एक कवि-सभा में पढ़ा, जिसमें ख्वाजा आतिश भी, जो बहुत वृद्ध थे, निमंत्रित होकर आए थे। उस मर्सिए में शत्रु-पक्ष शाम की ओर के एक पहलवान की भयंकर राक्षस-सी कल्पना की गई थी। मर्सिया पढ़ने के अनंतर जब इन्होंने आतिश से सम्मति माँगी तब उन्होंने यही उत्तर दिया कि मुझे यह न ज्ञात हुआ कि यह मर्सिया है

रचनाएँ तथा रचना शैली

था लंधौर बिन सादाँ की दास्तान है। तात्पर्य यह कि कल्पना के जोर से स्थल की उपयुक्तता का विचार न कर बहुत बढ़ाकर कह डालते थे। अरबी के मिसरे भी बड़ी योग्यता से मर्सिया में खपा देते थे, जिससे सौंदर्य-वृद्धि ही होती थी। ये आशुकवि कहे जा सकते हैं, क्योंकि अति शीघ्रता से अच्छी कविता कर लेते थे। अलंकारों में इनकी उपमा तथा उत्प्रेक्षाएँ भी नवीन तथा उत्तम होती थीं। इन्हीं सब गुणो के कारण दबीर भी अनीस के समकक्ष होकर उर्दू साहित्य के श्रेष्ठ कवियों में परिगणित हैं। उदाहरण—

घर कौन सा बसा कि जो वीराँ न हो गया।
गुल कौन सा हँसा कि परेशाँ न हो गया॥
शाहाने दह कौन सा सामान ले गए।
सब कुछ वो ले गए कि जो ईमान ले गए॥
चमकी जो खूदे सर पै तौ सर से निकल गई।
शाने पै जो पड़ी तो जिगर से निकल गई॥
सीने मे दम लिया तो कमर से निकल गई।
हैराँ था खुद बदन कि किधर से निकल गई॥
दुनिया का अजीब कारखाना देखा।
किस किस का न याँ जमाना देखा॥
बरसों रहा जिनके सिर पै छत्रे जरी।
तुरबत पै न उनके शामियाना देखा॥
हर रग का जलवा है तेरी कुदरत का।
जिस फूल को सूँघता हूँ बू तेरी है॥

इन दोनों समकालीन प्रसिद्ध कवियों के पक्षपाती गण क्रमशः अनीसिए और दबीरिए कहलाने लगे। ये आपस में झगड़े कर एक दूसरे से बढ़कर रहना चाहते थे। जब प्रथम

अनीस और दबीर

अपने सर्दार के प्रसाद गुण की प्रशंसा करता तो दूसरा अपने सर्दार की ओजस्विनी भाषा के गुण गाता

था। इसी प्रकार एक दूसरे में दोष-गुण निकालते थे पर वास्तव में दोनों ही एक से एक बढ़कर थे। कोई कल्पना के मदान में निकल जाता था तो दूसरा भाषा-सौष्ठव में ऊँचे उठ जाता था। दोनों ही लग-भग साथ ही पैदा हुए, बढ़े और समान ही अवस्था पाकर पाँच छ महीने आगे पीछे साथ ही परमीदोज हुए। अनीस का जन्म ही कवि वंश में हुआ था पर दबीर स्वयं ही कवि होकर जन्मे थे। अनीस ने भाषा की स्वच्छता तथा सौंदर्य, महाविरों के सुप्रयोग और कविता के सरल प्रवाह पर जितना परिश्रम किया है उतना ही परिश्रम दबीर ने भाषा में ओज तथा प्रभाव, अरबी के शैर आदि के अच्छे प्रयोग और भाव तथा कल्पना में उच्चता लाने में किया है। ऐसा करने में दबीर की भाषा में वह सारल्य नहीं आ सका, जो चित्ताकर्षक होता पर यह उनकी विद्वत्ता का दोष है। इन्हीं दोनों सुकवियों के कारण मर्सिए इतनी उन्नत अवस्था को पहुँच गए।

जिस प्रकार अनीस के पूर्वजगण कवि हुए हैं, उसी प्रकार इनके वंशजों में भी अब तक कवि होते आए हैं। यह कम से कम आश्चर्य की बात है कि किसी वंश में आठ दस पुश्त तक

अनीस का वंश

बराबर विद्वान और सुकवि होते चले आवें। इनके पुत्र मीर नफीस ने लिखा है कि 'शमशेरे फसाहत पै है यह सातवाँ सैकल' अर्थात् उनके समय तक सात पीढ़ियाँ, क्रमश: मीर इमामी, ख्वाजा अजीजुल्ला, मीर जाहक, मीरहसन, मीर खलीक, मीर अनीस और मीर नफीस पूरी हुई। इनमें प्रत्येक में पिता-पुत्र ही का संबंध चला आया है। नफीस के पुत्र 'जलीस' भी सुकवि थे। इस वंश के अन्य पुरुष भी सुकवि हुए हैं, जिनका उल्लेख आवश्यक है।

अनीस के दो छोटे भाइयों का नाम मीर मुहम्मद 'मूनिस' और मीर मेहर अली 'उन्स' था। ये दोनों ही अच्छे मर्सिया लिखने वाले

मूनिस

और पढ़नेवाले थे। इन दोनों में मूनिस अधिक प्रसिद्ध हुए और इनके रचित मर्सिए तीन जिल्दों में प्रकाशित हो चुके हैं। महमूदाबाद के राजा अमीर हसन खाँ मर्सिए लिखने के लिए इन्हें काफी धन देते थे। मूनिस को कोई पुत्र नहीं था और यह सन् १२९२ हि० के लगभग मरे। 'उन्स' के दो पुत्र मीर वहीद और मीर तअश्शुक अच्छे कवि हुए। यह नब्बे वर्ष की अवस्था में सन् १८९७ ई० के लगभग मरे। उदाहरण—

दिन फिर अब फस्ले बहारी के हैं आनेवाले।
कह दो तैयार रहे दश्त के जानेवाले॥
लिखना इसी मिसरे को मेरे सगे लहद पर।
मौत अच्छी मगर दिल का लगाना नहीं अच्छा॥
मूनिस फिर आज हिज्र की शब काटनी पड़ी।
नींद ऐसी सोगई कि न आई तमाम रात॥
रखती थी फूँककर कदम अपना हवाए सर्द।
यह खौफ था कि दामने गुल पर पड़े न गर्द॥

(मूनिस)

लो कसम वस्ल हुआ हो जो कभी हमको नसीब।
इक नजर देखने की तो हैं गुनहगार आँखें॥
रुखे रौशन को न दामन से छिपाओ लिल्लाह।
अब नजर भरके जो देखें तो गुनहगार आँखें॥
मर गए जागते ही जागते फुर्कत में तेरी।
सोएँ अब चल के बहुत रह चुकीं बेदार आँखें॥ (उन्स)

नफीस

अनीस के तीन पुत्रों में सबसे बड़े तथा योग्य पुत्र मीर खुर्शीद अली 'नफीस' थे और इन्होंने अपने पिता के नाम को बढ़ाया, जिसके यह शिष्य भी थे। इनके भाइयों का नाम मीर सलीम और मीर रईस था। नफीस के मर्सियों तथा अन्य रचनाओं के कई बड़े बड़े संग्रह हैं और इनकी कविता

भी उच्च कोटि की है। यह सन् १९०१ ई० में पचासी वर्ष की अवस्था में मरे।

सैयद मुहम्मद हैदर का पुत्र सैयद अली मुहम्मद 'आरिफ़' नफ़ीस का दौहित्र था, जिसका कुछ भार नफ़ीस ने स्वयं अपने ऊपर लिया था। इन्होंने कविता भी सिखलाई। मर्सिए लिखने में यह बड़े कुशल हुए और शीघ्र ही लखनऊ में अच्छा नाम पैदा कर लिया। महमूदाबाद के राजा सर मुहम्मद अली मुहम्मद ख़ाँ इनसे कविता शुद्ध कराते थे और इन्हें सवा सौ रुपये मासिक देते थे। इनकी रचना में ओज अधिक है और यह मुख्य कथा भाग पर ही विशेष ज़ोर देते थे। इधर उधर का प्रपंच बढ़ाकर कविता का विस्तार नहीं करते थे। यह सन् १९१८ ई० में सत्तावन वर्ष की अवस्था में मरे।

आरिफ़

मीर अनीस के पौत्र और सलीम के पुत्र सैयद अबू मुहम्मद 'जलीस' 'रशीद' के शिष्य थे। यह होनहार सुकवि थे पर यौवन ही में सन् १३२५ हि० में मर गए। इन्होंने भी कुछ मर्सिए और ग़ज़ल लिखे हैं। इस वंश के अन्य कवि उरूज, फ़ायक़, हसन और क़दीम आदि हैं। मर्सिया गोओं में 'अनीस' के वंश के अतिरिक्त एक और वंश भी प्रसिद्ध है, जो सैयद मुहम्मद मिर्ज़ा 'उन्स' का है। इनके पिता फ़ैज़ाबाद निवासी सैयदअली मिर्ज़ा और पितामह जुल्फ़िक़ार अली मिर्ज़ा थे। यह नासिख़ के प्रसिद्ध शिष्यों में थे, जहाँ बहुधा इनके अन्य गुरुभाई गण एकत्र हुआ करते थे। अवध दर्बार से सौ रुपये मासिक वृत्ति मिलती थी पर उस राज्य का अंत होने पर अवध के नवाब मुहम्मदअली शाह की बेगम मलकए जहाँ के दारोग़ाए-सफ़ा के पद पर नियुक्त हुए, जिसे योग्यता से निबाहा। रामपुर के नवाब कल्बअली ख़ाँ ने अपने कविता-गुरु अमीर मीनाई को इन्हें बुलाने के लिए भेजा था, जिससे यह वहाँ कुछ

जलीस

उन्स

दिन जाकर रहे थे। सन् १८८५ ई० में पंचानवे वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु हुई। इनके पाँच पुत्र थे - हुसेन मिर्जा 'इश्क', अहमद मिर्ज़ा 'साबिर', सैयद मिर्ज़ा 'तअश्शुक़', अब्बास मिर्ज़ा 'सब्र' और नवाब मिर्ज़ा। इनमें इश्क और तअश्शुक़ विशेष प्रसिद्ध हुए। उदाहरण—

सुब्हे उम्मीद औ शबे यास को इक जा देखा।
आ गई जब तेरे आरिज के बराबर गेसू॥
फँसा दिया दिले नाशाद को मुहब्बत में।
न था यकीन कि हो जायगी अदू आँखें॥
तमाम उम्र न जी भरके यार को देखा।
यह साथ ले गईं दुनिया से आर्जू आँखें॥

इश्क़ अपने पिता के शिष्य हुए और इन्होंने एक दीवान लिखा है। यह अपने समय के सुप्रसिद्ध मर्सियागो हुए हैं और अनीस तथा दबीर के समकालीन थे। इनके पौत्र मिर्ज़ा अस्करी 'मुअद्दब' भी अच्छे मर्सियागो थे, जो अपने चाचा 'रशीद' के शिष्य थे। तअश्शुक' सैयद साहब के नाम से प्रसिद्ध कवि हुए, जिन्होंने मर्सिए और ग़ज़ल दोनों लिखे हैं। यह दो बार कर्बला गए और अपने भाई 'इश्क' की मृत्यु पर लौटकर प्रसिद्धि प्राप्त की। बड़े भाई के प्रतिद्वंद्वी न बनने की इच्छा ही से यह वहाँ चले गए थे। यह नासिख़ के शिष्य थे और इनकी कविता में सरसता, भाषा-गांभीर्य और करुणा विशेष है। यह अच्छे कवि हो गए हैं। सन् १३०९ हि० में इनकी मृत्यु हुई और एक पुत्र मिर्ज़ा तअल्लुक छोड़ गए। उदाहरण—

कल न हम होंगे मसीहा न यः बीमारिए दिल।
आज बस और है तकलीफ परस्तारिये दिल॥
क्या लगा तीरे मुहब्बत कि न निकली आवाज।
रो दिया मर्ग ने भी देखके नाचारिए दिल॥

उन्स के द्वितीय पुत्र साबिर का अनीस की पुत्री से विवाह हुआ जिससे ये दोनों प्रसिद्ध मर्सियागो वंश संबद्ध हो गए। इस संबंध के फल रूप यह 'रशीद' पैदा हुए थे। वाजिद अली शाह साबिर को बराबर वृत्ति देते थे और नवाब मलकए-जहाँ के यहाँ दारोगा भी नियत कर दिया था। वाजिद अली शाह ने कलकत्ते जाते समय ख़ुर्दमहल बेगम के यहाँ इन्हें नौकर रखा दिया, जो बादशाह के यहाँ से बेगम के नाम आए हुए पत्रों के जवाब की पांडुलिपि तैयार करते थे। यह बहत्तर वर्ष की उम्र प्राप्त कर सन् १८९४ ई० में मरे। रशाद का नाम सैयद मुस्तफा उर्फ प्यारे साहब था और सन् १२६२ हि० में इनका जन्म हुआ था। अनीस की पौत्री से इनका विवाह हुआ। यह अपने चाचा 'इश्क़' के शिष्य हुए पर अनीस को कविता दिखलाते थे। इश्क़ के मरने पर तअश्शुक़ को कविता दिखलाते थे। भाषा में अनीस का और रीति में तअश्शुक़ का विशेष अनुकरण किया है। मर्सिया, ग़ज़ल, सलाम, रुबाई आदि खूब लिखा है। कसीदे भी कुछ लिखे हैं। फ़ारसी का वाक्य-योजना का प्रयोग कम किया है। इनकी कविता में सरसता, सौकुमार्य और मुहाविरों के सुप्रयोग अच्छे हैं पर साथ ही कल्पना, व्यंजना आदि की कमी भी है। मर्सिए में साक़ीनामा और बहार (वसंतऋतु वर्णन) का समावेश इन्होंने विशेष रूप से किया है। पहले भी इसका समावेश होता था और साधारण रूप में अनीस आदि इन पर कुछ लिख दिया करते थे पर इन्होंने इसे अधिक बढ़ाया। सन् १८५४ ई० में यह रामपुर गए। इसके अनंतर पटना और हैदराबाद गए, जहाँ इनका अच्छा सम्मान हुआ। यह सन् १९१८ ई० में मरे। हमीद, मुअइय, नसीरी, जलीस, अख़्तार आदि प्रधान शिष्य थे। उदाहरण—

वह सर्मा सुबह का वो चानवरों का वह गुल।
कुञ्ज जो खिल रहे हैं नगम सरा है बुलबुल॥

जब हवा आई झटकने लगीं जुल्फें सुंबुल।
ठंढी ठंढी व नसीम ओस में डूबे हुए गुल।
वह हवा दश्त में आई कि चमन फूल गए।
प्यास दो रोज की सब गुंचः दहन भूल गए॥
वह हवा बाग़ की वह अब्र का आना जाना।
किस्सा बुलबुल का कहीं गुल का कहीं अफ़साना॥
हुस्न और इश्क का हर एक जो है दीवाना।
कसरते गुल यह है मुश्किल है खिजाँ का आना॥
रास्ते बंद हैं फूलों का मजा ताजः है।
दहन गुंचः है यह बाग़ का दरवाजा है॥

मिर्जा दबीर के सुपुत्र मिर्जा जाफ़र का उपनाम 'औज' था। यह अपने पिता के प्रदर्शित पथ पर चले और मर्सियागोई में अच्छी ख्याति पाई। पटना की जाफरी बेगम साहिबः इन्हें दो सहस्र वार्षिक वृत्ति मर्सियागोई के लिए देती थीं। हैदराबाद और रामपुर के दरबारों तथा अवध के नवाबों से भी इन्हें बराबर सहायता मिलती थी। छंद शास्त्र के यह धुरंधर विद्वान थे, जिस पर एक अच्छा ग्रंथ लिखा है।

औज

उदाहरण—

चार सू आलमे इमकाँ में अँधेरा देखा।
तू जिधर है उसी जानिब को उजाला देखा॥
चल सुए गोरे गरीबाँ ऐ हरीसे मालोजर।
देख कितनी आर्जूएँ नज्र मदफन हो गईं॥
जमीं कैसी कहाँ के आस्माँ सब उसके जोया हैं।
कहीं मिलता नहीं वह बेनिशाँ खातिर निशा क्यों हो॥

सन ६८० ई० में कर्बला युद्ध हुआ था, जिसमें अली के पुत्र हुसेन मारे गए थे। उस घटना को लेकर जो कविता की जाती थी उसी को मर्सिया कहते हैं। लखनऊ के नवाबगण शीआ थे और शीओं ही

मर्सिया तथा उसका उर्दू साहित्य पर प्रभाव

में प्रतिवर्ष मुहर्रम महीने में इस घटना का उत्सव मनाया जाता है। इन नवाबों की छत्रच्छाया में यह उत्सव विशेष धूमधाम से मनाया जाने लगा और मर्सिए पढ़े जाने लगे। पहले इनमें शोकोद्‌गार मात्र रहता था पर मीर ज़मीर ने इनमें पहले पहल युद्ध-स्थल तथा युद्ध का वर्णन कर इसे रज़्मिय' अर्थात् युद्धीय बना डाला। उसमें याद की सरापा अर्थात् नखशिख का और अस्त्र शस्त्र, घोड़े आदि के वर्णन बढ़ाए गए। इस प्रकार सौ या उससे अधिक पदों के मर्सिए लिखे जाने लगे। ज़मीर और ख़लीक़ के दिखलाए पथ को अनीस और दबीर ने और भी प्रशस्त किया। मुसद्दस का प्रयोग इन्हीं लोगों ने किया, जो आगे चलकर प्रकृत कविता का प्रधान साधन हो गया। मर्सिया धार्मिक कविता है, इससे इसमें शराब, सुंदर युवक, वस्ल, विरह आदि को स्थान नहीं मिला और उर्दू साहित्य में वीर रस की कविता का जो अभाव था, उसे इसने पूरा कर दिया। अश्लील से अश्लील कवि भी जब इस मैदान में आता था तब वह पूरा भद्र बन जाता था और उसे धर्मभाव ही से कविता करना पड़ता था। वीरता, सत्य न्याय आदि के वर्णन इनमें अच्छे होते हैं। द्वंद्व युद्ध, सेनाओं तथा युद्ध के वर्णन, वीरों के उत्तर-प्रत्युत्तर, शस्त्रों की प्रशंसा आदि प्रशंसनीय हैं। साथ ही उर्दू साहित्य में अभी तक स्फुट कविता विशेष थी और कभी कभी कोई मसनवी के रूप में प्रबंध काव्य लिखता था। पर मर्सियों के कारण संबद्ध लंबी लंबी कविताएँ लिखना आरंभ हुआ। इनमें प्राकृतिक दृश्य के चित्रण तथा मनुष्य के मानसिक विकारों का वर्णन अच्छा होने लगा। कई लाख पंक्तियाँ लिखकर अनीस दबीर आदि ने शब्दों, मुहाविरों आदि के मानों कोष ही तैयार कर डाले। यही मर्सिया हाली, आज़ाद और सरूर की कविता का आदर्श हुआ।

दसवाँ परिच्छेद

उर्दू-साहित्य के अन्य केंद्र

जो उर्दू-साहित्य मुहम्मद शाह के समय में उत्तरी भारत में जन्म लेकर पहले दिल्ली में और फिर दिल्ली तथा लखनऊ में केंद्रीभूत हो रहा था, वह दोनों स्थानों के आश्रयदाताओं के राज्य-भ्रष्ट होने पर सन् १८५७ ई० के अनंतर आश्रय की खोज में अन्य स्थानों में फैल गया। नवाब वाजिद अलीशाह के आश्रित बहुत से कवि कलकत्ते में रहते थे, जिनमें सात अधिक प्रसिद्ध थे। ये मटियाबुर्ज के सप्तर्षि कहलाते थे, जिनके उपनाम बर्क़, दुरख्शाँ, सौलत, बह्र, ऐश और हुनर थे। स्यात् ध्रुव स्थान पर अख्तर स्वयं थे। अन्य प्रसिद्ध कविगण भी आते-जाते थे। उसी प्रांत के कवि अब्दुलग़फ़ूर खाँ खाल्दी 'नसख' थे, जो राजशाही में डिप्टी कलेक्टर थे। सन् १८७५ ई० में इन्होंने 'सखुनेशोअरा' नामक एक संग्रह-ग्रंथ लिखा था। दफ्तरे बेमिस्ल, क़ितए-मुतखिब, चश्मए-फैज, शहीदे-इशरत आदि कई पुस्तकें लिखीं। यह अच्छे समालोचक भी थे और इनकी अनीस तथा दबीर की आलोचना पठनीय है। मटियाबुर्ज के सिवा रामपुर, हैदराबाद, फर्रुख़ाबाद, पटना, मुर्शिदाबाद, भूपाल, टोंक आदि अन्य स्थानों में इन दोनों केंद्रों से निकले हुए अन्य कवियों ने आश्रय पाया था। इनमें प्रथम दो विशेष उल्लेखनीय हैं, इसलिए पहले साधारण स्थानों ही के विषय में लिखा जाता है। इन स्थानों के सिवा आगरे का नाम भी केवल 'नज़ीर' के कारण उल्लेखनीय हो गया है, जिन्होंने कभी राजाश्रय की परवाह नहीं की।

विषय-प्रवेश

'नज़ीर' का नाम वली महम्मद था और इसका पिता मुहम्मद फ़ारूक़ दिल्ली निवासी था। अहमद शाह अब्दाली की चढ़ाई के समय

नज़ीर आगरे अर्थात् अकबराबाद आ बसे और यहीं
नज़ीर अकबराबादी अपना विवाह कर लिया। इसे एक पुत्र गुलज़ार
अली और एक पुत्री इमामी बेगम थी। यह फ़ारसी
तथा अरबी का ज्ञाता था और खुशनवीस लिखता था। यह सन्तोषी था
इसलिए निमंत्रित होने पर भी लखनऊ नहीं गया। आगरे में शिक्षण
कार्य कर कालयापन करता था। यह लकवे से सन् १८३० ई० में वृद्ध
होकर मरा। स्वभाव से विनोद प्रिय था और गाना सुनने, तमाशा
देखने तथा तेहवारों में योग देने का प्रेमी था। इसमें धर्मांधता की
कमी थी। इसने पहिले बाज़ार का बहुत हवा खाई पर बाद को
सूफ़ी हो गया।

नज़ीर ने कविता बहुत लिखी थी पर उसको संग्रह कर रखने में
इसने ढिलाई की जिससे इस समय जो संग्रह इसके नाम से मिलता
है उसमें केवल छ सहस्र शेर हैं। रोटीनामा, पैसा
रचना नामा, बंजारानामा, कन्हया का बालपन आदि आदि
कविताओं के पढ़ने तथा सुनने में बड़ा आकर्षण है।
इसके सिवा इनमें सासारिक ऐश्वर्य में विरक्ति, भावोत्कर्ष और
कवित्वशक्ति भी अपूर्व है। हिंदू मुसल्मान द्वेष का भी इसकी रचना
में अभाव है। इसकी कविता इन कारणों से विशेष लोकप्रिय है तथा
हिंदी लिपि में भी इसी कारण अनेक बार प्रकाशित हो चुकी है।
इसने त्योहारों का भी अच्छा अनुभूत वर्णन किया है और बुलबुल
तथा भालुओं की लड़ाइ, पतंगबाजी, चिड़ियों आदि का भी सुन्दर
वर्णन किया है। इसने बाज़ार में यौवन में जो अनुभव प्राप्त किए थे,
उसका वर्णन करने में भी यह नहीं चूका।

इसकी भाषा देशी थी और उसे विलायती बनाने का कभी इसने
प्रयत्न नहीं किया। इसका चलती भाषा पर पूरा अधिकार था और
फ़ारसी तथा अरबी कोषों से चुन-चुन कर अपनी भाषा को उर्दू
बनाने की इसे आवश्यकता नहीं पड़ी। जैसा विषय चुना वैसा ही

भाषा ली और वैसी ही वास्तविकता से उसका चित्रण भी कर डाला। इस पर अश्लीलता, ग्राम्यता तथा भाषा की निरंकुशता का दोष लगाया जाय पर इन्हीं सबसे इसका ऐसे विषयों का वर्णन सजीव तथा मनोहर हो गया है।

उर्दू साहित्य में मसनवियों को छोड़ दें तो मुक्तक कविता ही का आधिक्य है ओर नज़ीर ने ही पहले पहल छोटे छोटे विषय लेकर अल्प प्रबंध काव्य लिखे। यह प्रकृति का पुजारी न था पर नगरस्थ बाग आदि का इसने वर्णन किया है। नज़ीर का विनोद भँड़ौआ नहीं था जिस पर सारा दरबार हो हो कर उठे, क्योंकि वह स्वतंत्र-प्रकृति का था और उसे किसी की चापलूसी नहीं करना था। इस प्रकार विवेचना करने पर ज्ञात होता है कि इसका उर्दू साहित्येतिहास में निज का विशिष्ट स्थान है और उसके अग्रगण्य कवियों में वह गिना जा सकता है। उदाहरण—

ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन।
क्या क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैया का बालपन॥
कलजुग नहीं कर जुग है यह याँ दिन को दे औ रात ले।
क्या खूब सौदा नक़्द है, इस हाथ दे उस हाथ ले॥
अच्छा भी आदमी ही कहाता है ऐ 'नज़ीर'।
औ सबसे जो बुरा है सो है वह भी आदमी॥
मुझे ऐ दोस्त तेरा हिज्र अब ऐसा सताता है।
कि दुश्मन भी मेरे अहवाल पर आँसू बहाता है॥
बाग़ में लगता नहीं, सहरा से घबराता है दिल।
अब कहाँ ले जा के बैठें ऐसे दीवाने को हम॥
हर आन में हर बात में हर ढंग में पहिचान।
आशिक है तो दिलबर को हर एक रंग में पहिचान॥

फर्रुखाबाद के नवाब अहमद खाँ बंगश के एक सरदार तथा पोष्य पुत्र नवाब मेहरबान खाँ 'रिंद' सुकवि थे और गानविद्या के भी ज्ञाता

थे। मीर मुहम्मदी 'सोज' तथा मिर्जा रफीय 'सौदा'
फर्रुखाबाद लखनऊ जाते समय कुछ दिन यहाँ ठहरे थे और इस
पर प्रसादे भी लिखे थे। इसके अनंतर यहाँ इसका
विशेष प्रचार नहीं रहा, क्योंकि यह एक छोटीसी रियासत थी और
यहाँ के नवाबगण बराबर कविता प्रेमी नहीं होते गए।

राजा शिताबराय, जो बिहार के नायब नैयाब थे, स्वयं कवि
तथा कवियों के आश्रयदाता थे। इनकी मृत्यु सन् १७७३ ई० में हुई।
इनके पुत्र राजा कल्याणसिंह उसी पद पर नियुक्त
अजीमाबाद(पटना) हुए। यह भी कवि थे और उपनाम 'राजा' रखते
थे। मीर ज़ियाउद्दीन 'जिया' को कविता दिखाते थे।
'फुगाँ' ने भी मुर्शिदाबाद और फ़ैज़ाबाद से लौटकर यहीं सम्मान
पूर्वक जीवन व्यतीत किया था। मीर मुहम्मद बाकर 'हज़ीं' नवाब
सआदत जंग के दरबार में अंत तक रहे। ज़मीर के पुत्र औज का
पटने की जाफ़री बेगम साहब बराबर सहायता देती रहीं थीं।

बंगाल के नवाब गण तथा उनके दरबारियों ने पश्चिमोत्तर से आए
हुए कवियों का अच्छा स्वागत किया था। मीर सोज पहले यहीं
आए थे। प्रसिद्ध मीर कुदरतुल्ला 'क़ुदरत' भी यहाँ
मुर्शिदाबाद आए और यहीं सन् १ ९१ हि० में इनकी मृत्यु हुई।
मिर्ज़ा जाफ़र अली 'खलीक़' भी नवाज़िश मुहम्मद
खाँ शुहामजंग के निमंत्रण पर आए जो मर्सियागो और कवि थे।
इस दरबार में कुछ तो उस देश के प्रभाव रहने तथा किसी एक राज
वंश के दृढ़ता से न जमने के कारण उर्दू-साहित्य को विशेष आश्रय
नहीं मिला।

रामपुर के पास यह एक स्थान है। जब नवाब शुजाउद्दौला ने
रामपुर का राज्य नवाब फ़ैजुल्ला खाँ को दिया तब उनके छोटे भाई
नवाब मुहम्मद यार खाँ 'अमीर' को भी पचास सहस्र की जागीर

टाँडा

दी थी। यह स्वयं कवि थे और कवियों का सम्मान भी करते थे। मीर सोज़ और सौदा तो बुलाने पर नहीं आए पर शेख क़ियामुद्दीन 'क़ायम' चाँदपुरी को इन्होंने अपना गुरु बनाया और सौ रुपये मासिक वृत्ति दी। मुसहिफी, फिद्वी लाहौरी, मीर मुहम्मद नईम पर्वाना आदि अन्य कवियों का भी सम्मान किया था। यह चित्रकारी अच्छी जानते थे और विनयशील तथा योग्य पुरुष थे। सन् १७७४ ई० में इनकी मृत्यु हुई।

टोंक

टोंक के नवाब सर हाफिज़ मुहम्मद इब्राहीम अली खाँ सन् १८६६ ई० में गद्दी पर बैठे। यह 'खलील' उपनाम से कविता करते थे। अमीर 'मीनाई' के शिष्य हाफिज सैयद मुहम्मद हुसेन 'बिस्मिल' ख़ैराबादी को गुरु बनाया और इनकी मृत्यु पर इनके छोटे भाई 'मुजतिर' से कविता ठीक कराते थे। ज़हीर तथा असद आदि कई प्रसिद्ध कवि इनके यहाँ सम्मानित हुए। असद के यहाँ कई शिष्य हुए, जिनमें असग़र अली आबरू, हबीबुल्ला जब्र आदि प्रसिद्ध हैं। इन नवाब के उत्तराधिकारी भी कविता के प्रेमी हैं।

भूपाल

भूपाल के नवाब नजर मुहम्मद खाँ की पुत्री नवाब सिकंदर बेगम का विवाह नवाब जहाँगीर मुहम्मद खाँ से हुआ था, जो 'दौलत' उपनाम से कविता करते थे। इनका उर्दू दीवान प्रकाशित हो चुका है। इनकी पुत्री नवाब शाहजहाँ बेगम (सन् १८३८-१९०१ ई०) स्वयं कवि थीं। उर्दू में पहले 'शोरीं' और फिर 'ताजवर' उपनाम रखा था तथा फारसी में 'शाहजहाँ' था। यह हिंदी में 'रूपरतन' उपनाम से कविता करती थीं। कुछ पद देखने में आये हैं, जो बहुत सुंदर बन पड़े हैं। इनका पहला विवाह बख्शी बेह मुहम्मद खाँ से हुआ था, जिसकी पुत्री नवाब सुल्तान जहाँ बेगम थीं। दूसरा विवाह सन् १८७१ ई० में

नवाब मुहम्मद सादिक हुसेन से हुआ, जो 'तौरीफ़' उपनाम से कविता करते थे। फ़ारसी और अरबी में 'नवाब' उपनाम था। इन्होंने धर्म आदि विषयों पर लगभग डेढ़ सौ पुस्तकें लिखी हैं। नवाब सुल्तान जहाँ बेगम का उर्दू पर विशेष आग्रह था और इन्होंने मुस्लिम यूनिवर्सिटी आदि शिक्षा देनेवाली संस्थाओं को काफ़ी सहायता दी। भूपाल में कई स्कूल खुल गए हैं। यह स्वयं विदुषी थीं और कई पुस्तकें लिखी हैं। कवियों तथा लेखकों को पुस्तक-प्रकाशन आदि में बराबर सहायता देती रहीं।

पूर्वोल्लिखित स्थानों के सिवा काठियावाड़ में मँगरोल स्थान के नवाब बहादुर ने अपने जीवन काल में जलाल, तस्लीम, दाग़ और

अन्य स्थान

शमशाद आदि को निमंत्रित कर सम्मानित किया था। पर यह स्थान इतना दूर और साधारण है कि उर्दू-से साहित्य के लिए यह उपयुक्त नहीं हुआ। अलवर-नरेश महाराज शिवदान सिंह ने ज़हीर, सख़ावत, तिश्न:, मजरूह, सालिक आदि को आश्रय दिया था। फ़िसानए अजायब के रचयिता सरूर को भी अपने यहाँ बुलाया था। ज़हीर जयपुर भी गए थे तथा उनके छोटे भाई 'अनवर' भी वहीं सम्मानित होकर अंत तक रहे। मालेर कोटला और मायटपुर में कवियों की प्रतिष्ठा हुई थी। अब रामपुर तथा हैदराबाद (दक्षिण) के विषय में संक्षेप में लिखा जाता है।

यह राज्य दिल्ली और लखनऊ के बीच में पड़ता है और दोनों ही स्थान से प्राय: बराबर दूरी पर होने के कारण यहाँ लोगों का आना-

रामपुर

जाना बना हुआ था। दिल्ली से निकले हुए कविगण इसी ओर से होते हुए लखनऊ जाते थे। यहाँ के नवाब स्वयं कवि थे तथा गुणियों के आश्रयदाता थे। पुरस्कार तथा वृत्तियाँ देने में उदार भी थे। ये इन कवियों को निरा वेतन-भोगी सेवक न समझकर उनसे मित्रवत् व्यवहार करते थे

जिससे थोड़े ही पर संतोष कर कविगण इस दर्बार को नहीं छोड़ते थे। इन्हीं कारणों से रामपुर उर्दू-साहित्य का एक अच्छा केन्द्र बन गया।

नवाब मुहम्मद सईद खाँ की मृत्यु पर सन् १८५५ ई० में नवाब यूसुफ अली खाँ इकतालीस वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे। दस वर्ष के राज्य-काल में इन्होंने रियासत की प्रतिष्ठा बढ़ाई। बलवे में सर्कार की सहायता कर सम्मानित हुए। यह साहित्य और कला के प्रेमी तथा कवियों के आश्रयदाता थे। स्वयं उर्दू और फारसी में कविता करते थे और नाज़िम उपनाम रखा था। पहले मोमिन तब ग़ालिब और ग़ालिब की मृत्यु पर अमीर को कविता दिखलाते थे। दिल्ली और लखनऊ दोनों स्थानों के कवियों का इनके यहाँ जमघट हुआ, जिससे दोनों केंद्रों की विशेपताओं का सम्मिलन आरंभ हुआ, जो इनके पुत्र के समय पूरा हुआ। ग़ालिब, तस्कीं, असीर, जलाल, अमीर मीनाई, दाग़ आदि सुप्रसिद्ध कविगण दोनों स्थानों से यहाँ बराबर आया करते थे। इनकी मृत्यु सन् १८५६ ई० में हुई।

नवाब यूसुफ अली खाँ

नवाब यूसुफ अली खाँ की मृत्यु पर उनके पुत्र नवाब कल्ब अली खाँ बहादुर इकतीस वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे। यह अपने पिता से भी बढ़कर गुणियों के प्रेमी हुए और इसी से इन कवियों को अपने कार्य में कुछ भी रुकावट नहीं हुई। यह एक सुयोग्य प्रबधकर्त्ता थे, जिससे राज्यवृद्धि के साथ साथ कवियो, गायकों तथा अन्य गुणियों का अच्छी प्रकार आदर सत्कार भी करते रहे। अब्दुल हक खैराबादी, अब्दुल् हक मुहद्दिस, इर्शाद हुसेन, सैयद हसन शाह मुहद्दस, मुफ्ती सादुल्ला आदि योग्य विद्वान, मुहम्मद इब्राहीम, अली हुसेन, अबुल् अली, हुसेन रजा आदि विख्यात हकीम और असीर अमीर, दाग़, जलाल, तस्लीम, बह्र, मुनीर, कल्क, उरूज, हया आदि प्रसिद्ध कवि इनके आश्रय में रहते थे। नवाब कुछ ही सज्जनों को सौ

नवाल कल्ब अली खाँ

से अधिक वेतन देते थे और उनमें से बहुतों को राज्य के कार्य में लगा दिया था जिससे वे सहायता पाते हुये राज्य को बोझ भी नहीं हुए। इनकी मृत्यु १३ माघ सन् १८८७ ई० को हुई थी। पहले इन्होंने मौलाना फज़्ल हक़ से शिक्षा प्राप्त की। उर्दू और फारसी गद्य में मुन्तखबुल नफ़ायस, मसनवी सनअत, इंशाए हरम आदि कई पुस्तकें लिखीं। अमीर मीनाई उर्दू में इनके कविता गुरु थे। इनका उपनाम 'नवाब' था। फारसी में इनका एक दीवान नाज़िरुलखयाल है। उर्दू में इन्होंने नसख-मुसद्दस, दस्तंबूए बरसाती, दुरुलुल् इंतखाब और मौज़े सखुन चार दीवान लिखे, जो छप चुके हैं। छन्द विचार का भी इन्हें प्रेम था, इससे सब विवाद में स्वयं भाग लेते थे और अशुद्ध तथा अनुपयुक्त शब्दों को बाहर कर देते थे।

इनके दर्बार की एक और विशेषता यह थी कि दोनों साहित्य-केंद्रों के कवियों का यहाँ सम्मिलन हो रहा था और क्रमशः दोनों ही पक्ष वालों ने एक दूसरे के गुणों को अपनाया। नासिख की शैली की अस्वाभाविकता तथा आडंबर का अंत हो चला और दिल्ली केंद्र के पुराने शब्द तथा मुहाविरों के प्रयोग निकाल दिए गए। समय के अनुकूल शुद्ध भावपूर्ण कविता का प्रचार बढ़ रहा था, इससे कविगण भी अपनी अपनी लीक पीटना छोड़कर सच्चे हार्दिक उद्गार को प्रसाद युक्त भाषा में कवितावद्ध करने लगे थे। अमीर, असीर, बहू, ग़ल्फ आदि लखनऊ के कवि थे और दाग़ तथा तस्लीम दिल्ली की शैली के समर्थक थे। जनता में अंतिम दो की कविता का बहुत ही प्रचार था, इससे अंत में लखनऊ के कवियों ने भी इन्हीं की शैली पकड़ी। अमीर के दूसरे दीवान सनमख्यानए इश्क़ के देखने से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। इनके शिष्य हफ़ीज़, जलील, रियाज़ तो और भी इस ओर बढ़े हैं।

नवाब कल्ब अली खाँ के अनंतर नवाब हामिद अली खाँ सन् १८८९ ई० में १६ वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे। यह बड़े ही योग्य

नवाब मुहम्मद आमिद अली खाँ

और गुणियों के आश्रयदाता थे। यह स्वयं कवि थे और कवियों तथा विद्वानों को अच्छी प्रकार पुरस्कृत करते थे। भिन्न भिन्न उपयोगी संस्थाओं को भी बराबर दान देकर सहायता करते रहते थे।

मुफ्ती अमीर अहमद 'अमीर' के पिता का नाम मौलवी करम मुहम्मद था और इनका जन्म सन् १८२८ ई० में लखनऊ में हुआ।

अमीर मीनाई

हजरत मखदूम शाह मीना नामक एक फकीर के संबंध के कारण यह मीनाई कहलाए। इस फक़ीर का मकबरा लखनऊ में है। लखनऊ के फिरंगी महल में इन्होंने शिक्षा प्राप्त की। बुद्धि तथा प्रतिभा अधिक थी इससे शीघ्र ही फारसी तथा अरबी में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। वैद्यक, ज्योतिष आदि में अच्छा गम हो गया था। चिश्ती साबरिय: के सज्जादनशीन अमीर शाह को धर्म का गुरु बनाया और कविता में सैयद मुजफ्फर अली खाँ 'असीर' के शिष्य हुए। प्रतिभाशाली तथा ईश्वरप्रदत्त कवित्व शक्ति-युक्त होने से यह शीघ्र अपने गुरु से आगे बढ़ गए। समय भी आरंभ में नासिख़ तथा आतिश की प्रतिद्वंद्विता का था और फिर सबा, खलील, रिंद आदि की कविताओं के साथ साथ अनीस तथा दबीर की मर्सियागोई की गूँज से इनका मस्तिष्क परिष्कृत हो चुका था। इनकी प्रसिद्धि शीघ्र ही फैल गई और सन् १८५२ ई० में चौबीस ही वर्ष की अवस्था में नवाब वाजिदअली शाह ने इन्हें बुलवा कर इनकी कविता सुनी और प्रसन्न होकर अपने दर्बार में रख लिया। बादशाह की आज्ञानुसार इर्शादुस्सुल्तान और हिदायतुस्सुल्तान लिख कर ख़िलअत तथा पुरस्कार पाया। इस प्रकार इनकी ख्याति उन्नति पर थी कि अवध राज्य का अंत हो गया। कुछ दिन जीविका की खोज में रहे पर अंत में नवाब यूसुफअली खाँ के बुलाने पर वहाँ गए और वहीं रह गए। यूसुफअली खाँ ने इन्हे अदालत दीवानी में काम दे दिया जिस कारण यह मुफ्ती कहलाए।

इनकी मृत्यु पर यह नवाब कल्बअली खाँ के कविता-गुरु हुए। इस समय रामपुर में बहुत से प्रसिद्ध शायर एकत्र थे और ग़ालिब भी कभी कभी आया करते थे। जब कलकत्ते से हैदराबाद जाते हुए सन् १९०० ई० में निज़ाम बनारस में ठहरे थे, तब मिर्ज़ा दाग़ के द्वारा इन्हें भी स्वागत में क़सीदा पढ़ने का अवसर मिला था। उसी वर्ष यह रामपुर छोड़ कर हैदराबाद को रवाना हुए। मार्ग में कुछ दिन भूपाल में ठहरे थे। यह हैदराबाद पहुँचे पर यहाँ ऐसे बीमार हुए कि डेढ़ महीने बाद वहीं १३ अक्टूबर सन् १९०० ई० को छिहत्तर वर्ष की अवस्था में मर गए। दाग़ और रतननाथ सरशार ने इनकी अच्छी सुश्रूषा की। इनके दो पुत्र लतीफ़ अहमद क़मर और अलीउल्ला भी साथ थे।

रचनाएँ

इर्शादुस्सुल्तान और हिदायतुस्सुल्तान का ऊपर उल्लेख हो चुका है। गौहरेइन्तिख़ाब में ग़दर के पहले की कविताओं का संग्रह था और यह ग़दर में नष्ट हो गया। इसका कुछ अंश स्मरण शक्ति द्वारा लिखा जा कर दीवाने मुंतख़िब में प्रकाशित हुआ है। नूरे तजल्ला और अब्रे करम दो मसनवियाँ ग़दर के पहले लिखी थीं। पैगंबर की प्रशंसा में एक मुसद्दस, जन्म पर सुबहे अज़ल, मृत्यु पर शामे अबद और लैलतुल्क़द्र कविताएँ लिखीं। सन् १८६८ ई० में ८ वासोख़्तों का एक संग्रह मज्मूअ वासोख़्त के नाम से संकलित हुआ। इंतख़ाबे यादगार या तज़्किरः शोअराए रामपुर नवाब कल्बअली खाँ की आज्ञा से सन् १८७२ ई० में लिखा था। मिरातुल् ग़ैब दूसरा, जो पहला माना जाता है, और सनमख़ानए इश्क़ तीसरा दीवान है। ख़ातिमुन्नबी नामक दीवान नातिय मिरातुल्ग़ैब के साथ प्रकाशित हुआ। जौहरे इंतख़ाब और गौहरे इंतख़ाब दो छोटे छोटे संग्रह इन दीवानों में परिशिष्ट रूप में दिए हैं, जो मीर तथा दर्द की शैली पर लिखे गए कहे जाते हैं। चौथे दीवान में क़सीदे, रुबाइयाँ आदि हैं। सुमन पसीरत

में फारसी तथा अरबी के कुछ शब्दों के शुद्ध प्रयोग वतलाए गए हैं। अमीरुल् लुग़ात नामक बृहत् कोष लिखना आरंभ किया, जिसकी केवल तीन जिल्दें लिख सके। प्रथम दो बड़ी बड़ी जिल्दें, जिनमें केवल प्रथम अक्षर ही आया है, प्रकाशित हो चुकी हैं। इनसे इनकी विद्वत्ता, गवेषणा तथा भाषा-विज्ञान की पारदर्शिता और परिश्रम ज्ञात होता है। यह नवाव कल्ब अली खाँ के समय ही आरंभ हो चुका था। यहारे हिंद उर्दू का छोटासा कोष भी तैयार किया था। ख़ियाबानिए आफ़रीनश मुहम्मद के जन्म स्थान पर एक छोटी पुस्तक है। इनके पत्र तथा गद्य-पद्य के भिन्न-भिन्न लेख भी बहुत हैं, जिनमें इनके पत्रा का सग्रह अहसनुल्ला खॉ 'साकिब' ने संपादित कर प्रकाशित कराया है। उदाहरण—

जाहिर में हम फरेफ्तः हुस्ने बुताँ के हैं।
पर क्या कहे निगाह में जलवे कहाँ के हैं॥
मसजिद में बुलाता है हमे जाहिदे नाफहम।
होता अगर कुछ होश तो मैखाने न जाते॥
दीदारे यार का न उठेगा मजा 'अमीर'।
जब तक दुई का पर्दा उठाया न जायगा॥
उठाऊँ सख्तियाँ लाखों, कड़ी बात उठ नहीं सकती।
मैं दिल रखता हूँ शीशे का, जिगर रखता हूँ आहन का॥
कह रही है हश्र में यह आँख शर्माई हुई।
हाय कैसी इस भरी महफिल में रुसवाई हुई॥
फना कैसी बका कैसी जब उसके आशना ठहरे।
कभी इस घर में आ निकले कभी उस घर में जा ठहरे॥

इनके शिष्यों की संख्या भी बहुत है, जिनमें कुछ प्रसिद्ध कवि हुए हैं। इनमें रियाज, जलील, मुज़्तिर, कौसर, नवाब असगर, हफ़ीज, सरशार, आह, जाह, जाहिद, बसीम, हैरॉ, अख्तर,
शिष्य तथा सन्तान कमर आदि प्रसिद्ध हैं। इनके चार पुत्र थे, जिनके

नाम 'मज़' मुंशी मुहम्मद अहमद 'माहो' और 'कमर', मुमताज़ अहमद 'आर्ज़ू', मसऊद अहमद 'नसीर' और लतीफ़ अहमद 'अख्तर' हैं।

यह प्रतिभाशाली कवि और योग्य विद्वान थे। इनकी आरंभिक कविताएँ शिथिल हैं और लखनऊ साहित्य-केंद्र के नासिख की चलाई शैली की विशेषताओं से पूर्ण हैं पर इन्होंने उसे समय

रचना शैली

के अनुकूल न पाकर अपनी शैली बदल दी, जैसा इनके दीवानों के मनन करने से स्पष्ट ज्ञात हो जायगा। इन्होंने अपने प्रतिद्वंद्वी दाग़ की दिल्ली की शैली को सर्वसाधारण प्रिय होते देखकर उसी का अनुकरण किया और इससे इनकी कविता अधिक प्रिय होने लगी। यह सभी प्रकार के छंदों में कविता लिखने में सिद्धहस्त थे। इनकी कविता शिक्षा और प्रसाद तथा सौकुमार्य गुणों से पूर्ण होती थी। विचार-गांभीर्य के साथ अलंकारों की उतना बहुत्व भरमार भी नहीं थी। इन्हें छंदों की धारा ऐसी सिद्ध थी कि उनमें गान-सा प्रवाह रहता था। यह सूफ़ी मत के समर्थक तथा पीर बन गए थे, इससे उसका रंग भी इनकी कविता पर पूरा है। उर्दू कविता में विरह-पीड़ित प्रेमी की करुणपूर्ण गाथा सभी ने गाई है पर इसमें भी इन्होंने अपनी विशेषता रखी है।

अमीर बड़े ही सज्जन और विनम्र पुरुष थे। इनमें पक्षपात छू नहीं गया था और यह सभी से मिलते जुलते थे। इन्होंने कभी किसी की हजो नहीं की और न किसी के उभाड़ने से अपने इतिहास में इनका प्रतिद्वंद्वी दाग़ से किसी प्रकार का विरोध किया।

स्वभाव

बराबर दोनों में मित्रता बनी रही। धार्मिक विचारों में यह बड़े कट्टर थे और इनका आचरण भी मत के अनुसार सच्चा था। ऐसे गुणों का कविता पर भी असर पड़ा और ये अपने समकालीन लोगों में बहुत ही सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। इनकी रचनाओं के देखने ही से ज्ञात हो जाता है कि उर्दू साहित्य के

इतिहास में इनका स्थान कैसा होगा। इनकी कविताएँ बड़ी रुचि से पढ़ी जाती हैं और वर्तमान समय के कवियो में इनका स्थान बहुत ऊँचा है।

नवाब मिर्जा दाग का जन्म सन् १८३१ ई० में हुआ था और इनके पिता नवाब शम्सुद्दीन खाँ लोहारू के नवाब जिआउद्दीन के भाई थे। जब यह पाँच या छ वर्ष के थे तभी इनके पिता की मृत्यु होगई, जिसके बाद इनकी माता ने बहादुरशाह जफ़र के पुत्र मिर्जा मुहम्मद सुल्तान से विवाह कर लिया। दाग़ दिल्ली के किले में रहने लगे। यहाँ इन्होंने अच्छा शिक्षा प्राप्त की। सुलिपि लिखना, घुड़सवारी तथा युद्ध विद्या भी सीखा और मौलवी ग़ियासुद्दीन से फारसी पढ़ा, जो प्रसिद्ध कोष ग़ियासुल्लुग़ात् के रचयिता कहे जाते हैं। जब इनकी तेरह वर्ष की अवस्था थी, तभी कविता करने का शौक हुआ और यह जौक़ के शिष्य हुए। शीघ्र ही यह प्रसिद्ध हो नए और इनकी आरभिक रचना की बादशाह 'ज़फ़र' ने भी प्रशसा की। इनके बहुत से शिष्य भी होने लगे। सन् १८५६ ई० में इनके द्वितीय पिता की मृत्यु हो गई और दूसरे ही वर्ष बलवा भी हो गया, जिससे दिल्ली का राजाश्रय नष्ट हो गया। तब यह सपरिवार रामपुर चले गए, जहाँ यह दारोग़ाए अस्तबल और युवराज कल्ब अली खाँ के दरबारी नियुक्त हुए। सन् १८८६ ई० में नवाब कल्ब अली की मृत्यु तक वहीं आराम से रहे, जिसके अनंतर अभिभावक-समिति ने कवियो को फालतू बताकर निकाल दिया। इन्होंने इसी बीच नवाब के साथ मक्के की यात्रा की तथा लखनऊ, पटना और कलकत्ते भी घूम आए। रामपुर से यह दिल्ली चले आए और फिर इसके उपरांत लाहौर, अमृतसर, कृष्णगढ़ आदि स्थानों में घूमते हुए सन् १८८८ ई० में हैदराबाद पहुँचे। राजा गिरधारी प्रसाद सक्सेना 'बाक़ी' के द्वारा निज़ाम से भेंट करना चाहा पर बहुत दिन ठहर कर दिल्ली लौट आए। दो वर्ष बाद नवाब आस्मानजाह के बुलाने पर फिर

दाग

हैदराबाद गए और निज़ाम से परिचय हुआ। यह निज़ाम के कविता-गुरु नियुक्त किए गए और साढ़े चार सौ रुपए मासिक वेतन मिलने लगा, जो बढ़कर सहस्र और फिर डेढ़ सहस्र रुपये मासिक हो गया। इसके सिवा और भी भेंट-पुरस्कार मिलता गया, जिसका प्रशंसा में उल्लेख किया है। इन्हें बुलबुलेहिन्दुस्तान, नाज़िमयारजंग, दबीरुद्दौला, फ़सीहुल् मुल्क जहाँ-उस्ताद की पदवियाँ मिलीं। ये लगभग पंद्रह वर्ष हैदराबाद में रहे, जहाँ इनकी सन् १९०५ ई० में मृत्यु हुई। इन्होंने नसीर की मृत्यु के अनंतर हैदराबाद की मुरझाती काव्यलता को फिर से प्रफुल्लित कर दिया था। दाग़ बड़े शीलवान, विनम्र, विनोदप्रिय और स्पष्टवादी पुरुष थे। आत्माभिमानी होते हुए भी घमंडी न थे और अपने प्रतिद्वंद्वियों से कभी द्वेष या वैमनस्य न रख कर प्रेमपूर्ण बर्ताव ही करते रहे। इन्होंने किसी की हजो नहीं कही पर अपनी उन्नति के मार्ग को सदा प्रशस्त करने में सयत्न रहे। इनकी प्रसिद्धि भी शीघ्र और बहुत हुई तथा इनके समकालीन अमीर, जलील आदि की ख्याति से बढ़ गई थी। प्रसिद्धि के साथ धन की प्राप्ति भी खूब हुई और इनके शिष्यों की संख्या भी सैकड़ों थी।

गुलज़ारे दाग़, आफ़ताबे दाग़, महताबे दाग़ और यादगारे दाग़ नामक चार दीवान हैं, जो प्रेम से शराबोर हैं। प्रथम दो रामपुर की

रचनाएँ

रचनाएँ हैं और वहीं प्रकाशित हुए हैं। इनमें छन्दशास्त्र पर ध्यान दिया गया है, क्योंकि ये उन कवि-सभाओं में पढ़ी जाती थीं, जिनमें अमीर, जलील, तसलीम आदि आते थे। अंतिम दो में हैदराबाद की रचित कविताएँ हैं, जिनमें प्रौढ़ता विशेष होते हुए भी कवित्व की कमी ज्ञात होती है। अंतिम के साथ ज़मीमए यादगारे-दाग़ भी इनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ था। इन्होंने कलकत्ते की एक वेश्या मुन्नी बाई 'हिजाब' के प्रेम पर फ़रियादे-दाग़ मसनवी लिखी है, जिसमें काव्य सौष्ठव के साथ अश्लीलता भी काफ़ी है। प्रेमोपासक होने के कारण इनके क़सीदे

ओजपूर्ण नहीं हो सके। ये सौदा, जौक क्या, अमीर के कसीदों को भी नहीं पहुँचे। इनकी रुबाइयाँ भी इसी प्रकार की हैं। तारीखें अच्छी कही हैं। विद्रोह से दिल्ली के नष्ट होने पर जो कविता की है वह कारुण्यपूर्ण है।

इनकी शैली की सफलता की पहली कसोटी इसकी लोकप्रियता है। इनकी शैली का मर्म यही था कि उसमें विद्वत्ता दिखलाने को क्लिष्ट वाक्य-योजना, फारसी-अरबी के कठिन शब्दों के प्रयोग, वागाडंबर से अर्थ छिपाने का प्रयत्न नहीं है प्रत्युत् यथा शक्ति सारल्य तथा सुगमता लाने ही का प्रयास है। प्रसाद गुण से इनकी कविता ओत-प्रोत है और भाषा की स्वच्छता के लिए यह विशेष प्रसिद्ध हैं। इनकी कविता में भरती के शब्द नहीं हैं और न छंद के लिए कम ही हैं। अलंकार कविता के सौंदर्य को बढ़ाने के लिए प्रयुक्त हुए हैं, उनके लिए कविता नहीं की गई है। इनकी कविता बहुत ही विश्लिष्ट होती थी पर अर्थ समझने में कभी कष्ट नहीं होता था। प्रवाह ऐसा स्वच्छ है कि पढ़ते ही बनता है। विरहियों के कष्टमय उद्गार, प्रेम तथा शृंगारादि वर्णन, उत्तर प्रत्युत्तर आदि हृदयग्राही और चित्ताकर्षक हैं। इन्हीं सबसे इनकी कविता सर्वसाधारण में विशेष प्रचलित हुई। इनकी कविता कुरुचि-पूर्ण है, इनका प्रेम उच्च नहीं है प्रत्युत् क्रय-विक्रय की वस्तु है। शृङ्गारादि दिखावटी हैं, हावभाव-वर्णन अश्लील है और विरह-वेदना करुण तथा स्वाभाविक नहीं है। प्रत्येक महाकवि का कुछ संदेश रहता है, इनमें कहीं कुछ नहीं है। मानसिक विकारों का विश्लेषण और विचार गांभीर्य विशेष नहीं है। इतना होने पर भी दाग़ का स्थान उर्दू साहित्य के इतिहास में बहुत ऊँचा है। भाषा-सौष्ठव तथा लोकप्रिय रचना के कारण यह अमर कवि हुए हैं और अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कवि अमीर मीनाई के प्रतिद्वंद्वी रहे। उदाहरण—

रचनाशैली

पशर ने खाक पाया, लाल पाया या गुहर पाया।
मिज़ाज अच्छा अगर पाया तो सब कुछ उसने भर पाया॥
यह और दिल चुराके हुआ उस निगाह का।
जैसे क़सम के वक्त हो झूठे गवाह का॥
ग़म से कहीं नजात मिले चैन पाएँ हम।
दिल खून में नहाए तो गंगा नहाएँ हम॥
ए फ़लक दे हमको पूरा ग़म तो खाने के लिए।
वह भी हिस्सा कर दिया सारे जमाने के लिए॥
मर गए तो मर गए हम इश्क में नासेह को क्या।
मौत आने के लिए है जान जाने के लिए॥
याद सब कुछ है मुझे हिज्र के सदमे जालिम।
भूल जाता हूँ मगर देख के सूरत तेरी॥
न इतराइए दर लगती है क्या ! जमाने की करवट बदलते हुए॥
मुहब्बत में नाकामियों से अखीर। बहुत काम देखे निकलते हुए॥

हैदराबाद के निजाम मीर महबूब अली खाँ 'आसफ',
इक़बाल, सायल देहलवी, अहसन, बेखुद देहलवी, बेखुद बदायूनी, नूह
नारवी, अहसन मारहरवी, नसीम भरतपुरी, जिगर
शिष्य गण मुरादाबादी, फ़ीरोज आगा देहलवी आदि बहुत से
प्रसिद्ध कवि इनके शिष्य थे। कहा जाता है कि लगभग
डेढ़ सहस्र कवि इन्हें अपना उस्ताद मानते थे।

ये दोनों कवि समकालीन थे और प्रायः बहुत दिनों तक एक ही
आश्रय में रहने से प्रतिद्वंद्विता के कारण दोनों ने एक ही तरह में बहुत
कविता की है। ख्याति में ये प्रायः समान ही थे पर
अमीर और दाग़ कुछ लोग दाग़ की प्रसिद्धि अधिक मानते हैं। दोनों
की तुलना ही के शिष्यों की संख्या बहुत थी और सम्मान भी
था, पर कविता से धन तथा यश की प्राप्ति दाग़ ही
को अधिक हुई। दाग़ यदि लोकप्रिय थे तो विद्वन्मंडली में अमीर को

अधिक आदर मिलता था। एक दिल्ली और दूसरा लखनऊ की शैली का जन्म से पोषक रहा पर रामपुर में सम्मिलन होने पर प्रथम का द्वितीय पर कुछ रंग चढ़ गया। दोनों ही की शैली का अलग अलग उल्लेख हो चुका है। इस शैली-परिवर्तन में यद्यपि अमीर बहुत सफल हुए हैं पर अपने प्रतिद्वद्वी को नहीं पा सके। कवित्व के सभी गुणों की विवेचना करने पर दोनों ही बहुत ऊँचे नहीं उठते और इन दोनों में भी अमीर ही को विशेष महत्व देना चाहिए। अमीर विद्वान थे, जिससे उनकी कविता में किसी प्रकार का दोष या अशुद्धि नहीं है, पर दाग़ इससे बचे नहीं हैं। दाग़ केवल ग़ज़ल में सिद्धहस्त थे, और इसीसे क़सीदे में अमीर की समानता भी न कर सके। गद्य लेखन और समालोचना में अमीर की योग्यता बहुत बढ़ी चढ़ी थी। शब्द के गौरव, भाव-गांभीर्य तथा सौकुमार्य में भी अमीर बढ़कर हैं पर भाषासौष्ठव, व्यंग्य, सारल्य और प्रवाह में दाग़ कहीं आगे बढ़ गए हैं। उर्दू की इस शैली की कविता का विशेष प्रचार दाग़ ही के कारण हुआ। हैदराबाद में जम जाने पर ऐश्वर्य के साथ इनकी कविता शिथिल होती गई पर अमीर की अवस्था के साथ प्रौढ़तर होती चली गई।

जलाल

हकीम असग़र अली दास्तानगो के पुत्र हकीम जामिन अली 'जलाल' का जन्म सन् १८५३ ई० में लखनऊ मे हुआ था। यह फारसी तथा अरबी और हकीमी का आरंभ ही से अध्ययन करते रहे पर शीघ्र ही कविता की ओर झुकाव हो जाने के कारण इन गहन विषयों का पठन पाठन रुक गया। नासिख के प्रसिद्ध शिष्य 'इश्क' से यह इसलाह लेने लगे और कवि-सभाओं में बराबर जाने से इनकी प्रतिभा भी जागृत होने लगी। इश्क के एराक़ जाने पर यह बर्क़ के शिष्य हुए। सन् १८५७ ई० के विद्रोह के बाद इन्होंने अत्तारी की दूकान खोली, पर कविता का प्रेम बना ही रहा। नवाब रामपुर के यहाँ इनके पिता दास्तानगो अर्थात् कहानी कहनेवाले रह चुके थे, इससे यह वहाँ सौ रुपये मासिक पर नियुक्त

हो गए। ये बीस वर्ष वहाँ रहे और कई बार सुनुक-मिजाजी के कारण नौकरी छोड़ी पर गुणग्राही नवाब बराबर बुलाकर इन्हें फिर नियत करते थे। नवाब कल्बअली खाँ की मृत्यु पर यह मंगरोल के नवाब हुसेन मियाँ के बुलाने पर वहाँ गए पर कुछ दिन बाद वहाँ से लखनऊ लौट आए। इस पर भी वह इन्हें पचीस रुपये पेंशन भेजते रहे और प्रत्येक कसीदे के लिए सौ रुपये देते थे। सन् १९०९ ई० में सत-हत्तर वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु हुई।

रचनाएँ और रचना शैली

शहीदे शोखसखुन, करइम' आबे सखुन, मजमूनहाय दिलकश और नग्मे निगारीं नाम के चार दीवान क्रमशः लिखे। उर्दू मुहाविरों का एक बड़ा कोष सरमायए जबाने उर्दू के नाम से लिखा है। तारीख लिखने पर इफादए तारीख, हिंदी के शब्दों की व्युत्पत्ति पर मुसल्लिमुल् कवायद और लक्षणों पर मुफीदुल् फुसहा नामक पुस्तकें लिखीं। गुलशने फ़ैज़ नामक उर्दू का एक कोष लिखा और एक कोष 'तनकी हुल्लुगात' कोषों को शुद्ध करने के लिए लिखा था। इन्होंने अपने गुरु की तरह भाषा पर अधिक ध्यान दिया और उसी पर कई पुस्तकें भी लिखीं। इनमें अहंमन्यता की मात्रा अधिक थी और इसीसे प्रायः अच्छे कवियों के बीच में भी कविता पढ़ना हेय समझते थे। एक बार किसी शब्द पर ग़ालिब से तर्क करते समय गियासुल्लुगात् के रच-यिता गियासुद्दीन को बालकों का पढ़ानेवाला कह डाला था। इस कारण इनसे बहुधा अन्य लोगों से बहस हो जाती और तसलीम के एक शिष्य 'शौक' ने तो दो पुस्तकें ही लिखकर इनकी अशुद्धियाँ दिखलाई हैं। इनकी शैली लखनऊ के नासिख की शैली का अनुकरण है और इनकी कविता में विशेष प्रतिभा नहीं दिखलाती। साधारण कविता ही इनके भारी दीवानों में भरी है पर यह अधिक स्वाभाविक और शुद्ध है। शब्दों के प्रयोग तथा योजनाएँ निर्दोष हैं। मुहाविरे के प्रयोग भी इनके बड़े सुंदर हैं। इनकी कविता के साधारण होने का

प्रधान कारण यही है कि यह स्वयं भी बहुत लिखते थे और अपने शिष्यों की बहुत ग़जलें और क़सीदे नित्य शुद्ध करते थे। यह सब होते हुए भी इतिहास में इनका स्थान अच्छा है और इनके शिष्य भी बहुत हुए हैं। इनमें इनके पुत्र कमाल तथा आर्जू, अहसन और सर्दार उधमसिह प्रसिद्ध हैं।

तस्लीम

अहमद हुसेन अमीरुल्ला 'तस्लीम' का जन्म सन् १८२० ई० में फैजाबाद के एक गाँव मंगलसी में हुआ था। इनके पिता मौलवी अब्दुस्समद लखनऊ आकर नवाब मुहम्मद अली शाह के फौजी विभाग में नौकर हुए जहाँ अंत में तीस रुपये तक वेतन मिलने लगा था। अपने पिता के वृद्ध हो जाने पर तस्लीम भी सेना में भर्ती हो गए। अपने पिता और शहाबुद्दीन से फारसी तथा भाई अब्दुल्लतीफ और मौलवी सला-मतुल्ला से अरबी सीखा। इन दोनों भाषाओं में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। यह खुशख़त लिखनेवाले थे, इससे नवलकिशोर प्रेस में बीस रुपये मासिक पर नौकरी की। कविता में नसीम के शिष्य हुए और इसीसे दिल्ली की शैली के समर्थक हुए। जिस पल्टन मे यह नौकर थे, उसके टूटने पर यह जीविका जाती रही तब मिर्जा मेहदी अली खाँ कबूल के द्वारा वाजिद अली शाह के दरबार में तीस रुपये मासिक पर नियत हो गए। ग़दर की गड़बड़ी में यह जीविका की खोज में रामपुर गए पर कुछ दिन टक्कर खाने पर नवाब कल्ब अली खाँ के सामने एक क़सीदा पढ़ सके। विद्रोह शांत होने पर लखनऊ और फैजाबाद लौटकर परिवारवालों से मिले। उसी समय नवलकिशोर प्रेस में नौकरी कर ली और नवाब मुहम्मद तक़ी खाँ से भी दस रुपये मासिक कविता ठीक करने के मिल जाते थे। सन् १८५७ ई० में इनकी मृत्यु पर रामपुर गए और तीस रुपये महीने पर पेशकार नियत हुए। स्कूलों के डिप्टी इन्सपेक्टर होने पर पचास रुपये पाने लगे। नवाब कल्ब अली की मृत्यु पर टोंक और मंगरोल गए। पर कुछ ही दिन

बाद नवाब हामिद अली ने पुनः रामपुर बुलाकर चालीस रुपये पेंशन कर दिया, जहाँ अंत तक रहे। सन १९११ ई० में पूर्ण अवस्था पाकर यह मरे।

बलवे के समय इनका प्रथम दीवान गुम हो गया और इनके दूसरे दीवान 'नज्मेअर्जुमंद' में बलवे के पहले के कुछ कसीदे, किते और मसनवियाँ प्रकाशित हुईं। यह लखनऊ में छपा था। नज्मे दिल अफ्रोज और दफ्तरे ख्याल नाम के दो दीवान रामपुर में प्रकाशित हुए। इनका मसनवियों के नाम—नालए तस्लीम, शामे ग़रीबाँ, सुबहे सदाँ, दिलोजान, नरामए बुलबुल, शौकते शाहजहानी, गौहरे इंतखाब और तारीखे बदीह या तारीखे रामपुर हैं। इनके सिवा सफ़रनामए नवाब रामपुर लिखा है, जिसमें नवाब के विलायत यात्रा का लगभग पचीस सहस्र शैरों में वर्णन किया है। इनकी कविता श्लिष्ट और ओजपूर्ण होती थी। मसनवियाँ अच्छी लिखी हैं और कसीदों में भी ओज की कमी नहीं है। इनके ग़ज़ल भी मनोहर होते थे पर विशेष लिखने से नवीनता की कमी स्वभावतः हो रह गई। रामपुर के कवियों के चार स्तम्भों में से एक यह भी थे। इनके शिष्यों में शौक़ हसरत मोहानी, वर्क़ गुयवी, नश्तर आदि सुकवि हुए हैं। इनमें नश्तर ने हयाते जावेदानी में तस्लीम की जीवनी लिखी है। तस्लीम संतोषप्रिय थे और यद्यपि इन्हें कभी धन प्रचुरता से नहीं प्राप्त हुआ पर कभी इस कारण इन्होंने प्रतिद्वंद्वियों पर आक्षेप नहीं किया।

रचनाएँ तथा रचना शैली

उर्दू भाषा तथा साहित्य की जन्म भूमि दक्षिण में हैदराबाद के निज़ामों का राज्य स्थापित हुआ, जिसने भी उस भाषा के साहित्य के परिपोषण में निरंतर भाग लिया है। यहाँ के तथा बाहर से आए हुए कवियों को इस राज्य में बराबर आश्रय मिलता रहा और इसी उदारता को सुन सुनाकर उत्तरी भारत ही क्या समरकंद और अरब

हैदराबाद तथा इसके सस्थापक

तक से कवि तथा विद्वान गण यहाँ आते थे। ये निजामगण केवल आश्रय ही नहीं देते थे प्रत्युत् स्वयं भी विद्वान् और कवि होते थे। इस राज्य के संस्थापक मीर क़मरुद्दीन खाँ आसफजाह निजामुल्मुल्क सन् १७२३ ई० में दक्षिण के सूबेदार हुए पर साम्राज्य का अवनति काल था इसलिए यह वहाँ के स्वतत्र नवाब बन बैठे। यह फारसी में कविता करते थे और शाकिर तथा आसफ उपनाम करते थे। फारसी में इनके दो दीवान मिलते हैं। उर्दू में कविता नहीं मिलती। सन् १७५८ ई० में इनकी मृत्यु पर इनके द्वितीय पुत्र नासिरजंग गद्दी पर बैठे पर पठान सर्दारों द्वारा मारे जाने पर इनके भांजे मुज़फ्फर जग निज़ाम हुए। यह भी एक सैनिक बलवे में मारे गए। तब प्रथम निजाम के तृतीय पुत्र सलावत जंग गद्दी पर बैठे। सन् १७६१ ई० में इन्हें गद्दी से उतार कर इनके भाई निज़ाम अली निज़ाम बन गए। इन्होने अंग्रेजों से कई बार संधि की और तोड़ी पर सन् १७९८ ई० की संधि, जो इनके पुत्र अली जाह के विद्रोह पर हुई, मान्य रही। यह मराठों से कुर्डला युद्ध में परास्त हुए। सन् १८०३ ई० में इनकी मृत्यु पर इनके पुत्र सिकंदर जाह निज़ाम हुए और सन् १८२९ ई० में इनके पुत्र नासिरुद्दौला गद्दी पर बैठे। सन् १८५७ ई० में इनकी मृत्यु हुई और इनके लडके अफज़लुद्दौला नवाब हुए। सैनिकों ने बलवा करना चाहा पर सर सालार जंग ने उसका दमन कर दिया। यह निज़ाम भी सन् १८६९ ई० में मर गए और इनके पुत्र नवाब मीर महबूब अली खाँ आसफजाह गद्दी पर बैठे।

नवाब महबूबअली खाँ 'आसफ'

इनका जन्म १८ अगस्त सन् १८६६ ई० को हुआ और यह तीन वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे। राज्य-प्रवध के लिए एक अभिभावक समिति स्थापित हुई, जिसके सर सालार जंग सभापति नियुक्त हुए। इनकी शिक्षा के लिये बहुत अच्छा प्रबंध किया गया था। राजनीति की शिक्षा सर

सालार जंग ने दी, जिनकी मृत्यु पर सन् १८८३ ई० में महाराज नरेंद्रप्रसाद अभिभावक समिति के सभापति हुए। ५ फरवरी सन् १८८४ ई० को लॉर्ड रिपन ने इनको स्वयं राज सँभालने का अधिकार दिया। सन् १८८५ ई० में जी० सी० एस० आई० की और सन् १९०३ ई० में जी० सी० बी० की पदवी इन्हें मिली। सन् १८८७ ई० में सीमा की रक्षा के लिए इन्होंने साठ लाख रुपए दिए थे। इनके राज्य-काल में बहुत प्रकार की उन्नति हुई। व्यापार के लिए कई कारखाने खोले गए, सींचने के लिए जल का उत्तम प्रबंध किया गया और स्थान स्थान पर पाठशालाएँ खोली गईं। इनके समय में दूर दूर से विद्वान् बुलाए जाकर राज्य में नियुक्त किए जाते थे, जिससे उन्हें जीविका की चिंता नहीं रह जाती थी और वे स्वतंत्रतापूर्वक साहित्य-सेवा किया करते थे। निजाम महबूब अली खाँ कविता में 'आसफ' उपनाम करते थे और अमीर मीनाई के शिष्य जलील को गुरु बनाया था। इनके दो दीवान प्रकाशित हुए, जो दाग की शैली पर लिखे गए हैं। इनकी कविता की भाषा मुहाविरेदार और सुगम होती थी। ओज और प्रसाद गुण दोनों ही रहते थे तथा व्यंग्य का पुट भी रहता था।

अब यह जाना कि हमको धोखा था।
दिल हमारा न था तुम्हारा था॥
जिस बात की धुन बँध गई वह कर ही के छोड़ी।
सुनता है कहीं कब दिले दीवान किसीका॥
नहीं है अगर तू हमारा तो क्या है।
जमाने में कोई किसी का हुआ है॥
आजकल हमने जमाने की ये हालत देखी।
एक के दिल में मुरौवत न मुहब्बत देखी॥

इनके पुत्र तथा उत्तराधिकारी नवाब मीर सर उसमान अली खाँ बहादुर फतेहजंग का जन्म सन् १८८६ ई० में हुआ था और यह २९ अगस्त सन् १९११ ई० को गद्दी पर बैठे। यह भी अपने पिता के

नवाब उसमान अली खाँ 'उसमान'

समान ही साहित्य-सेवियों के उदार आश्रयदाता और स्वयं कवि भी हैं। उसमानिया विश्वविद्यालय तथा पाठ्यग्रंथों के लिए एक अनुवादक-समिति स्थापित करके उर्दू भाषा की इन्होंने जो सहायता की है, वह अभूतपूर्व है। वर्तमान समय में यह उर्दू के सबसे बढ़कर सच्चे सहायक हैं। कविता में यह अपना उपनाम 'उसमान' रखते हैं और पहले जलील ही से कविता का संशोधन कराते थे। एक दीवान प्रकाशित भी हो चुका है। इनकी कविता श्लिष्ट, सरल और हृदयग्राही होती है। अरबी और फारसी का भी अच्छा ज्ञान है। यूरोप के बड़े युद्ध में साठ लाख रुपये चंदा देकर इन्होंने अपनी राजभक्ति का भी परिचय दिया था। द्वितीय विश्व-युद्ध में उससे कई गुणा अधिक धन देकर अपनी राजभक्ति अत्यधिक दरसाई थी।

महाराज चंदूलाल शादाँ

निजाम सरकार के सर्दारों में महाराज चंदूलाल 'शादाँ' कवि तथा कवियों के आश्रयदाता थे। ये जाति के खत्री थे और सन् १७६६ ई० में इनका जन्म हुआ था। अपने चाचा राय नानक राम की अधीनता में कुछ दिन काम करते रहे। सन् १८०६ ई० में यह पेशकार नियुक्त हुए और मीर आलम की मृत्यु पर प्रधान मंत्रित्व वास्तव में इन्हीं के हाथ में था, यद्यपि मुनीरुल्मुल्क नाम के लिए दीवान थे। लगभग पैंतीस वर्ष तक यही हैदराबाद राज्य के कर्णधार रहे और सन् १८४३ ई० में तीस सहस्र रुपए मासिक पेंशन पाकर घर बैठे। १५ अप्रैल सन् १८४५ ई० को इनकी मृत्यु हुई। यह अपनी विद्वत्ता तथा उदारता के लिये प्रसिद्ध थे। उत्तरी भारत तथा फारस के कवि इनकी कवि-सभा में आते थे। नसीर देहलवी भी प्रायः आते। ज़ौक़ और नासिख़ को भी रुपये भेजकर बुलाया पर इतनी लंबी यात्रा से वे रुक गए और नहीं गए। यह स्वयं उर्दू तथा फारसी के कवि थे और प्रायः तीन सौ के लगभग कवि इनके दर्बार में रहते थे।

'इसरतकदए आफाक' नामक एक पुस्तक लिखी, जिसमें अपना वंश-परिचय तथा निज़ाम सरकार की अपनी सेवा का वर्णन किया है।

> दहार आई है अब दिल में है दमाए शराब।
> मसम के साथ मज़ा है नहीं सिवाए शराब॥
> नहीं समात है पूरा हुए था 'शादी' हम।
> गुनाह पीते हैं उम्र गुज़रे हम दवाए शराब॥

राजा गिरधारी प्रसाद प्रसिद्ध नाम महबूब नियाज़मंद राजा बंसी बहादुर सक्सेना कायस्थ थे और इनके पिता का नाम राजा नरहरि प्रसाद और पितामह का राजा स्वामी प्रसाद था।

राजा गिरधारी प्रसाद बाक़ी

संस्कृत और फारसी की अच्छी योग्यता थी तथा अरबी भी जानते थे। यह निज़ाम सरकार के राजभक्त जागीरदार और राज-सेना के मन्सबदार थे। निज़ाम के यह कृपापात्र थे और दरबार का प्रबंध इन्हीं के सुपुर्द रहता था। सन् १८८८ ई० में इनके दो जवान लड़के जाते रहे। सन् १९०० ई० में यह भी साठ वर्ष की अवस्था में चल बसे। इन्होंने पंद्रह सोलह पुस्तकें रची हैं। इनका एक दीवान 'दीवान बाक़ी' सन् १८९१ ई० में प्रकाशित हुआ था। फारसी में भागवत का पद्यमय अनुवाद किया। फैज़ोनामा, रुबाइयात, यादगारे बाक़ी, प्रेमनामा, कन्ज़ुल् तारीख़ अन्य कृतियों के नाम हैं। इनमें धार्मिक उदारता भी थी और विरक्त भाव रखते थे। कविता में शम्सुद्दीन फ़ैज़ को गुरु बनाया था। उदाहरण—

> हुस्न वह जिन्स है बाज़ारे जहाँ में 'बाक़ी'।
> लेते हैं जिसके लिए मुफ़लिसो ज़रदार ये हाथ॥
> दरिया से मौज मौज से दरिया नहीं अलग।
> हम से नहीं जुदा है खुदा भी खुदा से हम॥

तू भी सुनता है कि यह सब तुझे क्या कहते हैं।
कितने बुत कहते हैं और कितने खुदा कहते हैं ॥
छोड़ना इश्क का आसाँ है न करना आसाँ।
क्या कबाहत है कि आशिक को हैं दोनों मुश्किल ॥
माहे नौ झुकता है मुजरे के लिए।
मेहवाँ नीचे से ऊपर देखिए ॥

अहक़र

राजा श्रीप्रसाद सक्सेना 'अहक़र' राजा गिरधारी प्रसाद 'बाक़ी' के भाई लाला खूबचंद के पुत्र थे। यह भी निजाम हैदराबाद की सेना में सरिश्तेदार थे। अपने पितृव्य की मृत्यु पर यह उनकी रियासत तथा उनके दोनों पुत्रों के अभिभावक नियत हुए। यह भी उर्दू के सुकवि थे। पैंतीस वर्ष की अवस्था में इनकी मदरास में मृत्यु हो गई। उदाहरण—

हम तो तुम पर जान दें और तुम करो गैरों को प्यार।
बंदः परवर यह हमारी खूबिए तकदीर है ॥
इन्हींने लूट लिया दिल मेरा दिखाके झलक।
इधर से रोज जो आँखें चुराए जाते हैं ॥
कहीं लाए न खूने बेगुनह रंग।
लहू तो पोंछ डालो आस्ती से ॥

महाराजा कृष्ण प्रसाद 'शाद'

महाराजा कृष्ण प्रसाद बहादुर का जन्म सन् १८६४ ई० में हुआ था। इनकी शिक्षा पहले घर ही पर तथा फिर मदरसए आलियः में हुई। अरबी और फारसी के सिवा अंग्रेजी, मराठी और तेलगू भी अच्छी प्रकार जानते थे। यह महाराज चंदूलाल ही के गोत्र में से हैं और महाराज नरेंद्र प्रसाद के नाती हैं, जिन्होंने इनकी शिक्षा का पूरा प्रबंध किया था। अपने नाना की जागीर आदि के यही उत्तराधिकारी हुए। यह अपने को राजा टोडरमल की वंश परंपरा में बतलाते थे। यह फारसी, अरबी तथा उर्दू तीनों ही भाषा में लिखते थे।

गद्य तो बड़ी उत्तमता से लिखते थे। कविता में यह शागिर्दे-ग्यास आसफ़ियः कहलाते थे और शाद उपनाम था। दबदबए आसफ़्यि और महबूबे कलाम नामक दो पत्रों का सम्पादन भी करते थे। दूसरे में निज़ाम बराबर लेख भेजते थे। इनका उर्दू तथा फ़ारसी का दीवान छप चुका है। 'ख़ुमकदए रहमत' में मुहम्मद की प्रशंसा की है। इनकी कविता में सूफ़ियत की झलक अधिक है। यह भी कवियों तथा साहित्य-सेवियों की बराबर सहायता करते थे। इन्होंने लगभग चालीस ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें बज्मे ख़्याल तीन जिल्द, रुबाइयाते शाद, फ़रियादे-शाद, नग़्मे-शाद आदि मुख्य हैं। यह इतनी जल्दी कविता करते थे कि इन्हें आशु कवि कह सकते हैं। यह सन् १८९२ ई० में पेशकार के पद पर नियुक्त हुए और इन्हें राजराजगाँ महाराज बहादुर की पदवी मिली। इसके अनंतर यह युद्धीय विभाग के मंत्री नियत हुए। सन् १९०१ ई० में यमीनुस्सल्तनत की पदवी से प्रधान मंत्री नियत किए गए, जिस पद पर सन् १९१२ ई० तक रहे। सन् १९०३ ई० में के० सी० आइ० ई० और सन् १९१० ई० में जी० सी० आई० ई० की पदवी मिली। इनकी मृत्यु १३ मई सन् १९४० ई० को हुई और निज़ाम स्वयं इनके गृह पर समवेदना प्रगट करने आए थे। उदाहरण—

अश्कों की झड़ी भी है सावन का महीना भी।
दोनों का बरस पड़ना अच्छा नज़र आता है॥
कुछ क़द्र न की उसने गर तेरे वफ़ाओं की।
तू उसके वफ़ाओं पर खुश होके फ़िदा हो जा॥
तेरे ही नूर का जलवा है दैरो-काबे में।
बस एक तू है, नहीं और दूसरा कोई॥
ग़रज़ बुरे से है हमको न है भले से काम।
कोई भला हो हमें क्या कि हो बुरा कोई॥

२२ सितंबर सन् १९१८ ई० के फ़र्मान के अनुसार हैदराबाद

में 'उसमानिया' विश्वविद्यालय स्थापित हुआ, जिसमें प्रत्येक विषय की शिक्षा उर्दू ही के माध्यम से दी जाती थी। अंग्रेजी की शिक्षा आवश्यक कर दी गई थी, क्योंकि पाश्चात्य विचारों के जानने का वही प्रधान साधन है। इसके साथ एक ही कालेज है, जिसे उसमानिया यूनिवर्सिटी कालेज कहते हैं। भारत सरकार ने भी इस विश्वविद्यालय की परीक्षाओं तथा डिगरियों को अपने यहाँ के विश्वविद्यालयों द्वारा दी गई डिगरियों के बराबर मानना स्वीकृत कर लिया है। पाठ्यग्रंथों के अभाव की पूर्ति के लिए एक 'अनुवाद समिति' स्थापित की गई, जिसमें एक प्रसिद्ध विद्वान के संपादकत्व में आठ योग्य अनुवादक कार्य करते थे। पाँच वर्ष में इन लोगों ने एफ० ए० और बी० ए० की कक्षाओं के योग्य पाठ्य-ग्रंथों का संग्रह कर डाला। प्राचीन तथा वर्तमान, प्राच्य तथा प्रतीच्य इतिहास, गणित, विज्ञान, दर्शन आदि सभी विषयों पर पुस्तकें तैयार हुई तथा हो रही हैं। इस समिति ने अब तक लगभग डेढ़ सौ पुस्तकें तैयार करके उर्दू साहित्य तथा मुसलमानों की शिक्षा की अच्छी उन्नति की है। अब हैदराबाद के निजाम राज्य के विलयन के अनंतर इस विश्वविद्यालम का रूपांतरण हो गया है और यह उर्दू ही का केंद्र न रहकर प्रांत के अनुकूल सभी भाषाओं का केंद्र हो गया है।

अनुवाद समिति

अंजुमने-तरक्किए उर्दू अर्थात् उर्दू-प्रचारिणी-सभा का आरंभ हैदराबाद में हुआ था पर बाद में औरंगाबाद ही में इसका प्रधान आफिस रहा। सन् १९११ ई० में मौ० अब्दुल्हक बी० ए० इसके अवैतनिक मंत्री नियत हुए और इनकी तत्वावधानता में यह संस्था अपने नाम के अनुरूप ही अच्छा कार्य कर रही है। यह सच्चे उर्दू भक्त हैं और उसका प्रचार ही इनका आजन्म व्रत रहा। यह उस समय उसमानिया विश्वविद्यालय के उर्दू के प्रधान प्रोफेसर थे। अतः इन्होंने दोनों संस्थाओं में संबंध स्थापित करा दिया। उर्दू लिपि में इन्होंने संशोधन

अंजुमने तरक्किए उर्दू

किया पर विरोधियों के कारण यह कार्य सफल नहीं हुआ। इस समय वृद्धावस्था में भी यह उर्दू के एक वृहत् कोष की तैयारी में लगे हैं, जिसमें व्युत्पत्ति, सप्रमाण अर्थ तथा मुहावरे आदि भी दिए जायेंगे। इसके लिए इस साल तक एक हजार रुपए मासिक की सहायता का भी आपको वचन मिल चुका है। इन्होंने कॉलेज में हिन्दी का भी स्थान दिया है। अब तक इस अंजुमन की ग्रंथमाला में लगभग स्सार अस्सी ग्रंथ निकल चुके हैं। उर्दू के प्राचीन कवियों की रचनाएँ सुसंपादित होकर प्रकाशित की गई हैं और की जा रही हैं। उर्दू की प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों के संग्रह करने में यह संस्था प्रयत्नशील है। वृहत् अंग्रेजी-उर्दू कोष तैयार होकर अब प्रकाशित हो रहा है। वैज्ञानिक तथा साहित्यिक कोषों के अभाव की ओर भी इसकी दृष्टि है और निजाम साहब के आश्रय तथा अपने सभासदों की सहायता से यह बराबर उन्नति करती जा रही है। निजाम सरकार से पाँच सहस्र तथा भोपाल सरकार से पाँच शत मुद्रा वार्षिक सहायता मिलती है। इस के दो त्रैमासिक पत्र 'उर्दू' तथा 'साइन्स' नामक निकलते हैं, जिनके संपादक मौलवी साहब ही हैं। ये अपने ढंग के कारण विशेष महत्व की हैं। ये दोनों उर्दू टाइप में छपते हैं, जो मौलवी साहब के प्रयत्नों का फल है। 'हमारा जबान' एक पत्र भी निकलता था।

यह अंजुमन मुसलमानों के पृथक् निर्वाचन की माँग के साथ-साथ स्थापित हुई और सदा मुस्लिम लीग का पक्षपात तथा कांग्रेस का विरोध करती रही। उर्दू के हिंदू भक्तों के सहयोग से इस संस्था का मिला-जुला रूप ही सर्वसाधारण के सामने था पर इसकी भावनाएँ सदा एकांगी ही रहीं। यह अंजुमन 'हिंदुस्तानी' अर्थात् सरल उर्दू-हिंदी मिश्रित भाषा के विरुद्ध रहा। इस अंजुमन का दफ्तर जब दिल्ली चला आया तब यह अत्यधिक राजनीतिक हो गया। जब देश का बँटवारा हुआ तब यह अंजुमन भी एक से दो हो गई। एक

पाकिस्तान की कराची में तथा दूसरी हिंद की अलीगढ़ में जम गई है और अखंड सारे भारत में उर्दू का झंडा फहराए हुए है। हमारी ज़बान' अलीगढ़ से तथा 'उर्दू अदब' लखनऊ से निकलने वाले दो पत्र इसी संस्था के हैं। भारत सरकार इस संस्था को, कहा जाता है कि चालीस सहस्र रुपए वार्षिक देती है।

सन् १९१९-२० में जब कांग्रेस ने असहयोग आंदोलन आरंभ किया तब सरकारी स्कूलों का बहिष्कार भी उसी में सम्मिलित था।

जामिया मिल्लिया इस्लामिया

खिलाफत के कारण मुसलमान भी कांग्रेस में सम्मिलित हो गए थे अतः अलीगढ़ विश्वविद्यालय को छोड़नेवाले विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए मौलाना मुहम्मद अली 'जौहर' ने 'जामिया मिल्लिया इस्लामिया' अलीगढ़ में स्थापित की और स्वयं उसमें अंग्रेजी के प्रोफेसर बन गए। इस संस्था को शिक्षा का माध्यम उर्दू रखा गया। सन् १९२५ में यह संस्था दिल्ली चली गई और यहाँ इसने बड़ी उन्नति की। इस संस्था से जामिया तथा पयामेतालीम दो पत्र निकले। डाक्टर आबिदहुसेन सैयद ने इस संस्था के अंतर्गत 'उर्दू एकैडेमी' स्थापित की, जिसने विज्ञान, इतिहास आदि के अनेक ग्रंथ प्रकाशित किए। इस संस्था ने भी उर्दू-साहित्य की ठोस सेवा की है। यहाँ बड़े समारोह के साथ मुशाअरे भी होते आते हैं। गद्य-ग्रंथों में महात्मा गांधी तथा पं० जवाहिरलाल नेहरू की आत्मकथाओं के उर्दू अनुवाद छपे और अनेक कवियों के संग्रह भी प्रकाशित हुए। इसके अंतर्गत एक प्रकाशन-संस्था 'मकतबए जामिया' है, जहाँ से सब प्रकाशन कार्य होता है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

उर्दू साहित्य का वर्तमान काल

अब तक दिल्ली तथा अवध के बादशाहों की छत्रच्छाया में जो कविता फल फूल रही थी वह इन दोनों के नष्ट हो जाने पर तथा पड़े बलवे के कारण इधर उधर आश्रय की खोज विषम प्रवाह में बहुत टक्कर खाती रही पर उसे वैसा आश्रय कहीं न मिला। अंग्रेजी राज्य के जम जाने से जनसाधारण उनके संपर्क से भावमय वातावरण से जीवन की वास्तविकता की ओर विशेष आकृष्ट हुए। अंग्रेजी शिक्षा बढ़ने लगी और क्रमशः विशाल साहित्य—गद्य पद्य—का उर्दू साहित्य पर प्रभाव पड़ने लगा। जो लोग अंग्रेजी नहीं जानते थे उनपर अनुवादों के पठन पाठन से असर पड़ रहा था। पर इस प्रभाव का बाद फल यह हुआ कि जो कुछ प्राचीन है वह हेय है और सभी नवीनता उत्तम है। इस काल के प्रमुख अग्रणी हाली, आज़ाद तथा सर सैयद अहमद अंग्रेज़ी के बहुत कम ज्ञाता थे पर इन पर परिवर्तनशील समय का पूरा प्रभाव पड़ चुका था और वे उसी के अनुकूल मार्ग पर साहित्य को ले चले। प्राचीन काल की कविता के संकुचित क्षेत्र को—आशिक़-माशूक़ के विरह, प्रेम, रोने गाने आदि को—अब विस्तृत कर अन्य अनेक विषयों को उसमें स्थान दिया गया। ग़ज़लों में विशेष कहने की गुंजाइश न देखकर प्रबंध काव्य के लिए मसनवी और मुसद्दस चुने गए तथा उनमें कवि को अपने विषय का पूर्णरूपेण विवेचन करने का अवसर मिला। अतिशयोक्ति के लिये अनर्गल, असंभाव्य बातों के बदले स्वाभाविक वर्णन की विशेषता दी जाने लगी। जिस

प्रकृति की ओर अब तक कविगण लाल आँखों से कटाक्षपात मात्र करते थे अब वे उसे स्वच्छ नेत्रों से निरीक्षण कर उसका वर्णन भी करने लगे। अब स्वदेश की नदी, पर्वत, ऋतु आदि पर भी कृपा होने लगी। यह सब होते हुए भी धार्मिक जोश इन सबको दबाए हुए है।

पाश्चात्य संसर्ग के कारण एक दल ऐसा बन जाता है, जो प्राचीनता के सभी चिह्नों का शत्रु हो जाता है और एक दल ऐसा होता है जो प्राचीनता से चिमट कर बैठ रहता है। परन्तु वास्तविक कर्मशील पुरुष वे ही हैं जो दोनों के गुण ग्रहण करते हुए आगे बढ़ते हैं और अपने देश तथा देशवासियों को लाभ पहुँचाते हैं। वे प्राचीन साहित्य को रिक्थक्रम में मिली हुई अपनी अमूल्य निधि समझ कर उसकी रक्षा करते हैं और नवीन साहित्य निर्माण कर उस कोष को बढ़ाते हैं। ऐसे ही साहित्यकारों में आजाद, हाली, सरूर, शरर, सरशार, बर्क़, अकबर, इकबाल, अजीज, हसरत आदि हो गए हैं।

अल्ताफ हुसेन 'हाली' का जन्म सन् १८३७ ई० में पानीपत में हुआ था। इनके पूर्वज गुलाम वंश के समय हिरात से भारत आए और पानीपत में बस गए थे। इनके पिता एजिद-

हाली

बख्श इन्हें नौ वर्ष का छोड़कर मर गए, जिससे इनकी शिक्षा सुश्रृङ्खलित रूप से नहीं हुई। बड़े होने पर इन्होंने स्वयं दिल्ली आकर नवाजिश अली से शायरी, फिलसफा, व्याकरण आदि सीखा। अंग्रेजी की ओर यह मायल नहीं हुए। हिसार में इन्हें एक सर्कारी नौकरी मिली पर उसके दूसरे ही वर्ष बड़े गदर के कारण इन्हें घर लौट आना पड़ा। इसके चार वर्ष बाद यह जहाँगीराबाद के नवाब मुस्तफा खाँ 'शेफ्ता' के मित्रों में परिगणित हो गए और उनके सत्संग से बहुत लाभ उठाया। कविता करने का प्रेम यहीं अधिक बढ़ा और यह अपनी कविता गालिब के पास भेजने लगे। यहाँ यह आठ वर्ष रह कर लाहौर गए और वहाँ सर्कारी बुकडिपो में अंग्रेजी के अनुवादों की भाषा ठीक करने पर नियत हो गए।

इनसे अंग्रेजी साहित्य से इनका परिचय होने लगा, जिससे इनकी विचार परंपरा पर बहुत प्रभाव पड़ा। यहाँ चार वर्ष रह कर यह ऐंग्लो-वेरनिक्यूलर स्कूल में मास्टर हो कर दिल्ली लौट आए। यह बीच में कुछ दिन लाहौर के पीपम-फाजल में भी रहे थे। दिल्ली में यह सर सैयद अहमद के मित्र-मंडल में आगए और यहीं अपना मुसद्दस लिखा। सन् १८८७ ई० में हैदराबाद के सर आसमान जाह अलीगढ़ आए थे और सर सैयद के इनका परिचय देने पर निज़ाम सरकार से ७५ रु० मासिक वृत्ति इनको मिलने लगी कि यह उर्दू-साहित्य का कार्य स्वतंत्रतापूर्वक करते रहें। अलीगढ़ कालेज के डेपुटेशन के साथ यह हैदराबाद गए तो यह मासिक वृत्ति १००) रु० हो गई। सन् १९०४ ई० में इन्हें शम्सुल् उल्मा की पदवी मिली और इसके दस वर्ष बाद ७७ वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु हो गई। यह पूर्ण रूप से साहित्य सेवी सज्जन थे। यह विनम्र तथा मिलनसार थे और बाहरी आडंबर से एकदम शून्य थे। इनमें धर्मांधता थी पर कम थी और इनकी रचनाओं में इसका आभास बराबर मिलता है।

इनकी काव्य-रचनाओं में मुसद्दस हाली विशेष प्रसिद्ध है, जो सर सैयद अहमद के कहने पर लिखी गई थी। वास्तव में इसमें कविता बिल्कुल नए मार्ग पर चली है। पुरानी शैली पर कविता करनेवाले साधारण कवियों पर अच्छी चोट की गई है। इसमें सजीवता है और नई

रचनाएँ

विचारधारा की जनता के अनुकूल होने के कारण इसकी लोकप्रियता अब तक कम नहीं हुई है। 'छ पंक्तियाले इस बहर में ओज इतना है कि पाठक तथा श्रोता दोनों के हृदयों पर असर पड़ता है।' देशभक्ति इसमें भरी हुई है और प्राचीन गौरव की याद दिलाते हुए वर्तमान दुरवस्था पर आँसू गिराए गए हैं। वर्षा ऋतु, हुब्बेवतन, निशातें उम्मेद, मनाज़रए रहमो इंसाफ आदि मसनवियाँ भी अपनी सादगी तथा प्रसादपूर्ण वर्णन से अत्यंत लोकप्रिय हो गईं और पाठ्य-ग्रंथों में

रक्खी गई। इनकी भाषा में क्लिष्ट तथा खास विलायती शब्द चुन चुन कर नहीं रखे गए हैं, जिससे ये दुरूह नहीं होने पाई हैं। वर्षा तथा उसके कारण निर्मल हुई प्रकृति का सुंदर वर्णन पठनीय है। कृपा तथा न्याय की गोष्ठी भावपूर्ण है। शिकवए हिंदी तथा क़सीदए-गयासिया में भी हिंदुस्तान के प्राचीन गौरव तथा वर्तमान दुरवस्था की तुलना की गई है। इन्होंने ग़ालिब, सर सैयद तथा हकीम महमूद खाँ की मृत्यु पर मर्सिए लिखे हैं जिनमें करुण रस का अच्छा परिपाक हुआ है। मुनाजाते-बेवा और चुप-की-दाद में स्त्रियों के प्रति समवेदना तथा सहानुभूति प्रकट की गई है। दीवाने हाली के आरंभ में काव्य-मर्म समझाते हुए एक अच्छी भूमिका दी गई है, जिसके अनंतर किते, ग़ज़ल, रुबाई आदि का संग्रह है। ग़ज़ल ही का आधिक्य है। इनमें प्राचीन तथा नवीन भाव-धारा-मिश्रित कविताएँ हैं। इश्क़िया ग़ज़लों के साथ देश की दुर्दशा पर भी इन्होंने ग़ज़लें लिखी हैं। अपनी प्रकृति के अनुसार ग़ज़लों में भी इन्होंने सरल भाषा का प्रयोग किया है। मजमूअए नज्मे हाली में उर्दू की और मजमूअए नज्म फारसी में फारसी की कविताओं का संग्रह है।

रचना शैली तथा इतिहास में स्थान

वर्तमान काल के प्रमुख कवियों में से एक होते हुए भी इनका स्थान किसी से कम नहीं है। भाषा तथा भाव दोनों के परिष्करण में इनका हाथ रहा और अपनी रचनाओं से इन्होंने उर्दू क्षेत्र को विशद कर नए नए मार्ग दिखलाए। यह लोक-हितकर कविता की ओर विशेष झुके, जिससे परवर्ती कवियों के लिए यह आदर्श हो उठे। भाषा इन्होंने सरल रखी और विद्वत्ता का ढोंग दिखलाने का कहीं प्रयास नहीं किया। उर्दू-साहित्येतिहास में हाली का स्थान विशेष महत्व का है और गद्य लेखक तथा आलोचक की दृष्टि से यह अमर हो गए हैं। उर्दू साहित्य का हित ही इनके जीवन का व्रत रहा। उदाहरण—

फ़रिश्ते से बेहतर है इन्सान बनना। मगर इसमें पड़ती है मेहनत ज़ियादा।

हुए उस दुनिया के धंदों में शागिर। नहीं बस अब ये अक्ल, मुहलत ज़ियादा॥
बुरा शेर कहने को गर कुछ सज़ा है। अबस झूठ बकना अगर नारवा है॥
गुनहगार वाँ छूट जायेंगे सारे। जहन्नुम को भर देंगे शायर हमारे॥
कहते हैं जिसको अमत वह इक नमक है तेरी।
सब शास्त्रों की शायरी रंगीं बयानियाँ हैं॥

नवीन परंपरा के हाली के सहयोगी मुहम्मद हुसेन आज़ाद उर्दू साहित्य के एक अमर कवि तथा गद्यलेखक हो गए हैं। जौक के एक मित्र के पुत्र होने के कारण इन्हें भी कविता पर

आज़ाद

प्रेम हो गया। यह कवि-सभाओं में जाते तथा वहाँ कविता के गुण-दोष विवेचना को सुनते। गदर बलवे के कारण इन्हें भी भागना पड़ा और यह लाहौर पहुँचे। यहाँ कर्नल हालरॉयड के कहने पर अंजुमने पंजाब स्थापित किया, जिसका उद्देश्य उर्दू कविता को परिष्कृत करना था। इसके कई अधिवेशनों में आज़ाद ने कविता के गुण-दोष पर व्याख्यान दिए थे। जौक की मृत्यु पर आज़ाद अपनी कविता उस्ताद को दिखलाते थे। इनकी उस समय की कविता बलवे में नष्ट हो गई। इसके अनंतर यह कुछ दिन तक झींद रियासत में रहे और यहाँ लिखा हुआ इनकी कविता नज़्मे आज़ाद' के नाम से सन् १८९९ ई० में इनके पुत्र इब्राहीम ने प्रकाशित कराई। इसमें ग़ज़ल, क़सीदे, मसिए आदि हैं। ये सब पुराने ढर्रे पर हैं पर ओज तथा प्रसाद गुण से पूर्ण हैं। नवीन परंपरा के अनुसार पहले इन्होंने प्राकृतिक-सौंदर्य पर कई मसनवियाँ लिखीं। मसनवी शबेक़द्र में रात्रि आगमन का विशद दृश्य खींच दिया है। यद्यपि कट्टर पंथियों ने इसके विरुद्ध आवाज़ उठाई पर आज़ाद अपने पथ पर दृढ़ रहे। सुबहे उम्मीद में प्रकृति के सुंदर दृश्य के साथ मानव कमठता का अच्छा वर्णन किया है। मसनवी अब्रेकरम में वर्षा ऋतु का विवरण दिया है। मसनवी हुब्बे-वतन तथा मसनवी ख़्वाबे अमन में देश-प्रेम पर अच्छी उक्तियाँ कही हैं। इनके सिवा मसदसे सहर्ज़ीय,

गंजे क़नाअत, जमिस्तान, विदाए इंसाफ, दादेइंसाफ शराफतेहक़ीक़ी, मारफते इलाही आदि बहुत सी छोटी मसनवियाँ लिखीं।

आजाद की प्रसिद्धि पद्य से अधिक उनकी गद्य-रचनाओं पर स्थित है। इनका भाषा तथा भाव पर समान अधिकार था। सरल प्रवाह, मुहाविरों के प्रयोग, वर्णनाशक्ति तथा कल्पना की उड़ान सभी एक से एक बढ़कर हैं पर इनका वास्तविक क्षेत्र गद्य ही था और उसी में इन्हें पूरी स्वतंत्रता के साथ अपने विचार, भाव तथा कल्पना के वातावरण में विचरण करने का अवसर मिला है। इस पर भी कविता क्षेत्र की नवीन परंपरा के यह अग्रणियों में हैं और उर्दू साहित्येतिहास में इनका निज का स्थान है। इनकी गद्य कृतियों पर आगे विशेष रूप से विवेचन किया गया है। उदाहरण--

रचना-शैली

एक तिलस्मका आलम है दिखाता जाता। सूरतें बर्फसे क्या क्या हैं बनाता जाता॥
हैं शजर सर पै खड़े खाक उड़ाते जाते। गुल व गुलजार हैं वीरों नजर आते सारे॥
मुझको तो मुल्क से है न माल से गरज। रखता नहीं जमानः के जंजाल से गरज॥
चलना वह बादलों का जमीं चूम चूमकर। और उठना आस्माँ की तरफ झूम झूमकर॥

इस दिले पुर दाग सा गुलशन में एक लालः तो हो।
पर यह गुल जैसा है कोई देखनेवाला तो हो॥
पूछता हालत है क्या मेरे दिले नाशाद की।
आह की हिम्मत नहीं ताकत नहीं फरियाद की॥
देखना कैद तअल्लुक़ मे न आना 'आजाद'।
दाम आते हैं नजर सज्अो जुन्नार मुझे॥

सरूर

मुंशी दुर्गा सहाय 'सरूर' का जहानाबाद में सन् १८७३ ई० में जन्म हुआ था। यह जन्मसिद्ध कवि थे और इनका जीवन अत्यंत सादगी से बीता था। यह सुरा देवी के भी अनन्य भक्त थे और सैंतीस वर्ष की अवस्था में यह उसी पर निछावर होगए। इनकी सन् १९१० ई० में मृत्यु हो

गए। यह भी नवीन परंपरा के प्रधान स्तंभ हुए और स्वाभाविक प्रतिभा के कारण इतनी अल्पावस्था ही में अपना नाम उर्दू साहित्य में अमर कर गए। प्राचीन तथा नवीन दोनों का इन्होंने अच्छा सामंजस्य किया है। कविता ही इनके जीवन का एकमात्र व्रत था। यह उन्नत भी थे और इस कारण दारिद्र्य देवी की भी इन पर दया रहती थी। इनमें स्वभावतः गर्व तथा सहिष्णुता का अभाव था और यही कारण है कि इनकी कविता किसी विशिष्ट वर्ग या मत के लिए न होकर समग्र देश के लिए होती थी। इनमें हास्यरस की मात्रा अधिक थी और सामयिक करुणापूर्ण विषयों पर यह जो कुछ लिख गए हैं वह हृदयग्राही हुआ है। सरूर की कविताओं के संग्रह प्रकाशित हुए हैं। जमाना पत्र में इनकी जितनी कविता निकली थी वह सब 'खुमखानाए-सरूर' में संगृहीत हुई हैं और इंडियन प्रेस ने 'जामसरूर' में इनकी अन्य कविताएँ संकलित कर प्रकाशित की हैं। इन्होंने अपनी बहुत सी कविता फेंक डाली, जिसका पता सरूर की मृत्यु पर उनके पत्र व्यवहार के प्रकाशित होने से लगा है।

प्यारे वतन, उल्फते हुब्बे वतन, मादरेहिंद, मादे वतन तथा दूसरे वतन सभी इनके देशप्रेम के परिचायक हैं। इनमें इनका

रचनाएँ, शैली तथा स्थान

हृदयस्थ प्रेम छलका पड़ता है और उच्च विचार तथा भाव भरे हुए हैं। गुलो बुल्बुल का फिसाना तथा हसरत पयाना प्रेम की कविताएँ हैं पर इनमें देशप्रेम का छाप लगी हुई है। गंगा, यमुना प्रयाग का संगम, सती, पद्मिनी की चिता, सीता जी की गिरियाजारी, नल-दमयंती आदि कविताएँ भी देश ही का फसाना हैं। इन सबमें हिंदी भाषा की शब्दावली का अधिक प्रयोग अत्यंत नैसर्गिक तथा सुरुचिपूर्ण हुआ है। यह करुण रस के कवि हुए हैं तथा यादेरफ़्तगाँ, हसरते शबाब, हसरते दीदार तथा मातमे आजू-ए-नाव साथ मुर्गे असीर, मुर्गाने कफस, बुल्बुल का फिसाना, दीवारे-कुहन तथा ख्वाहिशे-गुर्बत सभी

वियाँ लिखी हैं। इन सब में करुण रस ही प्रधान है। इनके सिवा अंग्रेज़ी कविताओं के भी इन्हों ने बहुत से अनुवाद किए हैं, जो मौलिक से ज्ञात होते है। कितनों के भाव मात्र लेकर अपनी शैली पर कह गए हैं। अदाएशर्म, जने खुशखू आदि में इन्होंने उपदेशमय होने का प्रयास किया है। यह सुकवि थे और इनसे साहित्य को बहुत कुछ आशा थी। इतनी थोड़ी अवस्था में इतना लिख जाना इनका प्रतिभा तथा अध्यवसाय का द्योतक है। इनकी कविता में नैसर्गिकता, उच्च भावों का व्यक्तीकरण, गांभीर्य्य, भाषा का अलंकरण तथा ओज, प्रसाद और सौकुमार्य गुणों का समावेश बहुत ही अच्छा हुआ है। इन्हीं कारणों से यह अपने समय के प्रमुख कवियों में गिने जाते थे। पर सितम्बर सन् १९११ ई० के जमाना में एक टिप्पणी है कि पूना-उर्दू-कान्फरेंस के सभापति ने एक शब्द भी बर्क़ (मुंशी ज्वाला प्रसाद) तथा सरूर के असामयिक मृत्यु पर नहीं कहा।

सैयद अकबर हुसेन रिज्वी 'अकबर' का जन्म १६ नवम्बर सन् १८४६ ई० को इलाहाबाद जिले के बारा स्थान में हुआ था। इनके पिता तफज्जुल हुसेन आढ्य नहीं थे इसलिए इनकी शिक्षा आरंभ में उचित रूप से नहीं हुई। सन् १८६६ ई० में यह नाएब तहसीलदार और सन १८७० ई० में हाइकोर्ट के मिस्लख्वाँ नियत हुए। सन् १८७२ ई० में प्लीडर परीक्षा पास कर आठ वर्ष वकालत की, जिसके बाद मुंसिफ हुए। उन्नति करते सन् १८९४ ई० में सदराला तथा सेशन-जज हो गए। चार वर्ष बाद खान बहादुर की पदवी मिली और सन् १९०२ ई० में इन्होंने पेंशन ले ली। ये प्रयाग विश्वविद्यालय के फेलो भी थे। उन्नीस वर्ष पेंशन का उपभोग करते हुए साहित्य चर्चा में निरत रहकर अक्तूबर सन् १९२१ ई० में यह मर गए। यह आतिश के शिष्य गुलाम हुसेन वहीद को अपनी कविता दिखलाते थे। यह कट्टर सुन्नी मुसलमान थे पर अन्य धर्मों से शत्रुता नहीं रखते थे। इनका स्वास्थ ठीक नहीं रहता

अकबर

था और अपनी स्त्री तथा प्रिय पुत्र हाशिम की मृत्यु से शोकान्वित रहते थे। स्वभावतः विनोदपूर्ण थे और गोष्ठियों में ऐसे चुटकुले छोड़ते कि सभी प्रसन्न हो जाते थे। इनकी कविता में इसी कारण हास्य रस छलका पड़ता है। यह अंग्रेजों की नक़ल करने के विरोधी थे और इसकी अच्छी खिल्ली उड़ाई है। इनमें देशप्रेम तथा समाज-सुधार का लगन था। फ़ारसी, अरबी तथा गणित की घर ही पर अच्छी शिक्षा प्राप्त कर यह अंग्रेजी की ओर झुके थे और इनमें कविता के तीनों साधन ईश्वरदत्त प्रतिभा, मननशीलता तथा अभ्यास उपस्थित थे। यही कारण है कि यह अपने समय के श्रेष्ठतम कवियों में परिगणित हुए।

आरंभ में यह पुरानी प्रथानुसार ग़ज़लें कहते तथा कविसमाजों में सुनाते थे, जहाँ ऐसी ही कविता पर प्रशंसा मिलती थी। अवस्था के बढ़ने के साथ इनकी ग़ज़लों में परिपक्वता आने लगी, स्वाभाविकता बढ़ने लगा और निजी व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ने लगा। इनकी ग़ज़लों में भावुकता,

रचनाएँ

हृदयग्राहिता तथा गांभीर्य की अधिकता होने लगा। सन् १८०९ ई० में लखनऊ से अवधपंच निकलने लगा। इसमें यह हास्यात्मक गद्य पद्य लेख लिखने लगे और इन्होंने एक अपनी शैली निकाली। प्रौढ़ता इनमें आ ही गई थी, जिससे निजी शैली में इन्हें पूर्ण सफलता मिली। विनोदपूर्ण कविता में ईश्वर निष्ठा, देश-समाज-सेवा तथा अन्य लोक-हितकर कार्यों की ओर इंगित करते हुए पुराने इश्क़, हुस्न, अतिशयोक्ति आदि की हँसी उड़ाई है। यद्यपि इस समय भी ग़ज़लें विशेष कही हैं पर इनमें भी परिहास की प्रचुरता है। परंपरागत सांसारिक अश्लील प्रेम से यह ऊपर उठकर सच्चे प्रेम तथा मौलिक विचारों की ओर विशेष आकर्षित हो गए। बीसवीं शताब्दी के आरंभ तक की इनकी कविताओं के दो संग्रह कुल्लियात अव्वल और दोयम निकल चुके हैं।

इस समय के बाद कविता में शृंगारिकता का प्रायः अभाव है

और उस पर सूफियाना रंग खूब चढ़ गया है। राजनीतिक कविता हिंदू-मुस्लिम एकता, समाज-सुधार तथा देशभक्ति का बोलबाला और अकबर ने समय के अनुसार गांधीनामा लिखकर उनपर श्रद्धा और भक्ति दिखलाई है। ऐसी कविता में भी इनके स्वभावगत विनोद की मात्रा कम नहीं है। इनमें अवस्था के साथ विरक्ति तथा ईश्वर के प्रति आकर्षण बढ़ता गया। इन सब कविताओं के दो संग्रह और भी प्रकाशित हो चुके हैं।

अकबर का भाषा पर पूर्ण अधिकार था और इसी कारण सभी प्रकार की कविता में उसका सरल प्रवाह मुग्धकर हो उठा है। इन्होंने मुहाविरों के अच्छे प्रयोग किए हैं और हिंदी तथा

शैली तथा स्थान

अंग्रेजी के शब्दों का भी प्रचुरता से उपयोग किया है। इन भाषाओं के छंदों का भी प्रयोग करने में यह नहीं चूके। ऐसे भी बहुत से शब्द, जो मौखिक मात्र हैं तथा साहित्यिक कभी न थे, इनकी कविता में मिलते हैं और उनका प्रयोग ऐसा सुव्यवस्थित हुआ है कि वे शिष्ट हो गए हैं तथा उनमें ग्राम्यदोष नहीं आया है। इन सब कारणों से इनकी भाषा हिंदी के बहुत कुछ पास आ पहुँची है। रसों में शृङ्गार तथा करुणा का इनकी कविता में अच्छा परिपाक हुआ है पर यह हास्यरस ही के आचार्य कहे जायँगे। इनका यही रस सिक्त शैली थी और इन्होंने भाषा, भाव, काव्यकला, सभी को इसी रस के अनुकूल बना रखा था। यद्यपि अवस्था बढ़ने पर इसका आधिक्य कम हो चला अर्थात् केवल विनोद या परिहास ही के लिए कविता न करते थे पर उसका पुट अंत तक की कविता में रहा। हास्यरस के कारण अश्लीलता को इन्होंने कभी पास तक फटकने न दिया। इन्होंने शेख, सैयद, बिरहमन, मिस, बड़े-छोटे, नव्य-प्राचीन सभी पर फबतियाँ कसी हैं पर कभी किसी को विद्रूप करने के लिए ऐसा नहीं किया है। आरंभ में प्रायः ऐसी बहुत कविता हुई, जो केवल मजाक के लिए लिखी गई थी पर बाद को उन सब में कुछ न कुछ

उपदेश, संदेश या उक्ति रहने लगी। अकबर राजनीतिज्ञ न थे और न यह राजनीति के फंदे में फँसकर अपनी या आपसवालों की स्थिति बिगाड़ना चाहते थे, अतः कविता में उस विषय की बातों को विनोद मात्र के लिए गुंफित कर देते थे। तब भी इनमें कुछ न कुछ अर्थ रहता ही था। धार्मिक कट्टरता इनमें न थी और यह धर्म को श्रद्धा की प्रतिच्छाया मात्र समझते थे। यह ईश्वर की अद्वैतता के माननेवाले थे और उसी को प्रसन्न करना अपना ध्येय समझते थे, क्योंकि उसके प्रसन्न होने से उसके सभी बंदे प्रसन्न हो जायँगे। व्यंग्य भी यह खूब कसते थे और पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण का इन्होंने कड़ी आलोचना इसी प्रकार की कविता में की है। ऐसी चुनौतियों का प्रभाव भी विशेष पड़ता है। स्त्रियों की साधारण शिक्षा तथा पर्दा-प्रथा के यह पक्षपाती थे और इसके विरोधियों तथा पर्दा छोड़ने या उच्च शिक्षा की हानियाँ दिखलाते हुए खूब मीठी चुटकियाँ ली हैं। प्राचीन अच्छी प्रथाओं के उठा देने के प्रयत्न देखकर उनपर इन्होंने दुःख भी प्रकट किया है। पूर्वोक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि अकबर अपने समय के प्रतिनिधि कवि थे तथा उनका उर्दू साहित्येतिहास में एक विशिष्ट स्थान है। इनके पद ऐसे लोकप्रिय हैं कि लोगों के मुख से बहुधा सुनने में आते हैं। उदाहरण —

> इधर मस्जिद है कि लमनेट मा छू नहीं सकते।
> उधर यह धुन है कि साक़ी सुराहिए मै ला॥
> मैं उन्हान थी अब उनके पास क्योंकर दिल लगे।
> जानवर इक रह गया इनसान रुख़सत हो गया॥
> बनोगे खुसरुए इक़लीमे दिल शीरीं ज़बाँ होकर।
> जहाँगीरी करेगी यह अदा नूरेजहाँ होकर॥
> मुफ़्ती से सब यह कहते हैं कि नीचे रख नज़र अपनी।
> कोई उनसे नहीं कहता न निकलो यों अयाँ होकर॥
> पहले फ़ुज़ूल थीं यह ,सुना—हाल देर में।

अफसोस उम्र कट गई बातों के फेर में ॥
निधारें शेख काबे को हम इंगलिस्तान देखेंगे।
वह देखें घर खुदा का हम खुदा की शान देखेंगे ॥
और भी दौरे फलक हैं अभी आने वाले।
नाज इतना न करें हमको मिटाने वाले ॥

पं० ब्रजनारायण चकबस्त का जन्म सन् १८८२ ई० में फैजाबाद में हुआ था। इनके पिता पं० उदितनारायणजी इन्हें अल्पावस्था ही में छोड़कर चल बसे। इनकी माता तथा बड़े भाई महाराजनारायण ने इनकी शिक्षा का जो सुप्रबंध किया था उसी के यह फलस्वरूप थे। सन् १९०७ ई० में वकालत पास किया। वकालत भी इनकी चल निकली। यह पं० विशननारायण दर 'अब्र' को अपना गुरु मानते थे। यह पक्के समाज-सुधारक थे और सेवा-कार्य में भी सदा सन्नद्ध रहा करते थे। इनका स्वभाव ऐसा था कि घर तथा बाहर सभी लोगों के यह प्रिय रहे। पहले यह नास्तिक थे ऐसा कहा जा सकता है, पर बाद को इन में ईश्वर पर पूर्ण विश्वास हो गया था। शांति इनके मुख पर ही विराजमान थी और इन्हें क्रोध भी नहीं आता था। १२ फरवरी सन् १९२६ ई० को एक मुकद्दमे के कारण रायबरेली से लौटते समय इन्हें फालिज ने मस्तिष्क पर ऐसा मारा कि चार घंटे ही में इनका अंत हो गया।

चकबस्त

इनकी कविता का एक संग्रह सुबहे-वतन के नाम से प्रकाशित हुआ है। हिंदी लिपि में भी यह प्रकाशित हो गया है। इनकी दाग़ की आलोचना भी अत्यंत मार्मिक हुई है। इन्होंने कमला नामक एक ड्रामा लिखा है और काशीदर्पण में इनके कई आलोचनात्मक लेख निकल चुके हैं। इनकी कविता में स्वदेश-प्रेम की मात्रा पूरी है और राज-नीतिक कविताओं में भी उसी का रंग भरा हुआ है। यह कांग्रेस के नर्म दल के पक्षपाती तथा उग्र दल के विरोधी थे। इन्होंने प्रेम-सौंदर्य पर बहुत कम कविता की है, अतः शृंगार रस का प्रायः अभाव है पर

स्वदेशवासियों के लिए कर्तव्य का संदेश भरपूर है। इन्होंने अधिक नहीं लिखा है पर जो कुछ लिखा है वह इनकी प्रतिभा तथा विद्वत्ता की पूर्ण परिचायक है। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार है पर वह कुछ क्लिष्ट हो गई है। उदाहरण—

अब वह पास की मुहब्बत, वह वफ़ाएँ हैं कहाँ।
दिल के दागों में चमकी भी नज़र है कहाँ ॥
बलाएँ जो हैं यह तक़दीर और सुमार के पर।
जिस हकी को हम इस पर से आबाद करते हैं ॥
अकबर से शान जहाँ की रक्खा हम चमन का।
सीना लहू से चमन रहता न हम चमन का ॥
सब गए वीर अपने इस ख़ाक में सिहे हैं।
टूटे हुए खँडहर हैं या उनकी हड्डियाँ हैं ॥
अगर दर्दे मुहब्बत से न इन्साँ आशना होता।
न मरने का सितम होता न जीने का मज़ा होता ॥
यह सौदा ज़िन्दगी का है कि ग़म इन्सान सहता है।
नहीं तो है बहुत आसान इस जीने से मर जाना ॥
तुम्हें जो करना है कर लो अभी वतन के लिए।
लहू में फिर यह रवानी रहे रहे या न रहे ॥

सर मुहम्मद इकबाल का जन्म सन् १८७६ ई० में स्यालकोट में हुआ था। शिक्षा के साथ साथ कविता करने का इन्हें शौक हो गया। मकतबकी पढ़ाई समाप्त कर यह स्कूल में भर्ती हुए। लाहौर कालेज से एम ए की परीक्षा पास कर यह कुछ दिनों तक ओरिएंटल कालेज लाहौर में शिक्षण कार्य करते रहे। सन् १९०५ ई० में यह उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंगलैंड गए। कैंब्रिज विश्वविद्यालय में कुछ दिन शिक्षा प्राप्त कर और जर्मनी से पी एच डी तथा इंगलैंड से बैरिस्टरी की डिगरियाँ लेकर १९०८ ई० में यह हिंदुस्तान लौट आए और यहीं लाहौर में बैरिस्टरी

इकबाल

करने लगे। अरबी-फारसी के सिवा यह संस्कृत भी जानते थे। यह दर्शनशास्त्र के भी विद्वान थे और 'फिसलफः ईरान' निबंध पर ही इन्हें डाक्टरी मिली थी। सन् १९२२ ई० में इन्हें नाइट की पदवी मिली तथा यह 'सर' हो गए। २१ अप्रैल सन् १९३८ ई० को इनका देहान्त हो गया।

शिक्षा के साथ साथ ही इन्हें कविता करने की भी रुचि हो गई थी। लाहौर की एक कविसभा मे पहले पहल पढ़ी हुई एक गजल की विशेष प्रशंसा हुई जिससे इनका उत्साह बढ़ा। सन् १८९९ ई० में अंजुमने इस्लाम के वार्षिक अधिवेशन पर नालए यतीम कविता पढ़ी जिससे इनकी प्रसिद्धि बढ़ी। इस अंजुमन के वार्षिक अधिवेशनों पर यह बराबर कविताएँ सुनाया करते थे, जिनमें हमारा देश, फरियादे उम्मत, तस्वीरे दर्द, नया शिवाला शीर्षक कविताएँ अच्छी हुई। जब सन् १९०१ ई० में अब्दुल् कादिर बी. ए. ने 'मखजन' नामक पत्र निकालना आरंभ किया तब इसमें हिमालया आदि इनकी सुंदर कविताएँ प्रकाशित हुई थी। परंतु जब विलायत से यह पैनइस्लामिज्म अर्थात् संसार के समग्र मुसल्मानो के संगठन की नीति लेकर स्वदेश लौटे तब यह संकुचित विचारो का मजहबी कविता की ओर झुके। पहले यह 'हिंदी है हम वतन है हिंदोस्तॉ हमारा' कहने वाले थे पर बाद में मजहब ने इन्हें सिखलाया कि 'मुस्लिम हैं हम वतन है सारा जहाँ हमारा'। अर्थात् स्वदेश प्रेम छोड़कर 'मिल्लत में गुम होजा'। तात्पर्य यह कि अब यह उदार कवि न रहकर कट्टर मुसलमान कवि हो गए और इन्होने पहले पहल भारत में पाकिस्तान बनाने का आंदोलन आरंभ किया। अवस्था के साथ हृदय की विशालता बढ़नी चाहिए थी पर हुआ इसका उलटा। यह सब होते भी इकबाल ऊँचे दर्जे के कवि थे, भाषा पर इनका पूरा अधिकार था और इनकी कविता में सरल प्रवाह भी है। इन्होंने उच्च दार्शनिक विचारो को भावुकतापूर्ण ढंग से अभिव्यक्त किया है। इन्होंने छोटी बड़ी

बहुत सी कविताएँ लिखी हैं पर गजलें कम हैं। उर्दू साहित्य में इनका स्थान बहुत ऊँचा है इसमें संशय नहीं।

इनकी उर्दू कविता के दो संग्रह बाँगे दिरा तथा बाले जिबरईल प्रकाशित हो चुके हैं। फल्सफा ईरान का ऊपर उल्लेख हो चुका है। इल्मुल् इक्तसाद उर्दू भी छप चुकी है। फारसी में मसनवी इसरारे खुदी, रमूजे बेखुदी तथा पयामे मशरिक रचनाएँ हैं। फारसी ही में एक आवेदनामा भी इनकी रचना सुनी जाती है। उदाहरण—

इन ताज़ः खुदाओं में बड़ा सबसे वतन है।
जो पैरहन इसका है वह मजहब का कफ़न है॥
बुताने रंगो ख़ूँ को तोड़कर मिल्लत में गुम हो जा।
न तूरानी रहे बाक़ी न ईरानी न अफ़ग़ानी॥
तेगों के साए में हम पलकर जवाँ हुए हैं।
खंजर हिलाल का है क़ूमी निशाँ हमारा॥
गौतम का जो वतन है जापान का हरम है।
ईसा के आशिक़ों का छोटा यरूशलम है॥
मदफ़ून जिस ज़मीं में इसलाम का हशम है।
हर फूल जिस चमन का फ़िरदौस है इरम है॥ मेरा वतन वही है २
सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा।
हम बुलबुलें हैं इसकी यह गुलसिताँ हमारा॥
ऐ हिमाला, ऐ फ़सीले किश्वरे हिंदोस्ताँ।
चूमता है तेरी पेशानी को झुककर-आसमाँ॥
जुगनू की रोशनी है काशानए चमन में।
या शमअ जल रही है फूलोंकी अंजुमन में॥
आता है याद मुझको गुज़रा हुआ ज़माना।
वह बाग़ की बहारें वह सबका चहचहाना॥
वतन की फ़िक्र कर नादाँ मुसीबत आनेवाली है।
तेरी बर्बादियों के मशविरे हैं आसमानों में॥

मुंशी नौबतराय सक्सेना 'नजर' का लखनऊ के एक सम्मानित कायस्थ-परिवार में सन् १८६६ ई० में जन्म हुआ और इन्हें उर्दू-फारसी तथा अंग्रेजी की शिक्षा मिली। यह प्रतिभाशाली थे और कविता की ओर जन्मतः रुचि थी। इन्होंने आग़ा मज़हर को अपना काव्य-गुरु बनाया। सन् १८९७ ई० में इन्होंने अपनी साहित्यिक पत्रिका 'खंदगे नजर' निकाली पर यह थोड़े दिनों बाद बंद हो गई। इसके अनंतर सन् १५०४ ई० में यह कानपुर के ज़माना के एक संपादक हुए और सन् १९१० ई० में प्रयाग की नई पत्रिका 'अदीब' का संपादन करने लगे किंतु डेढ़-दो वर्ष बाद ही इसके बंद हो जाने पर पुनः जमाना के संपादन-विभाग में चले गए। साप्ताहिक 'आज़ाद' की भी यह देख-रेख रखते थे। इसके उपरांत लखनऊ के 'तफरीह' के संपादक हुए और बाद में 'अवध अखबार' भी इनके संपादन में आ गया। इतना परिश्रम करने तथा पारिवारिक विपत्तियों के कारण इनका स्वास्थ्य खराब हो गया और यह १० अप्रैल सन् १९२३ ई० को परलोक सिधार गए। नज़र सुकवि, अच्छे गद्यलेखक, आलोचक तथा उच्च कोटि के पत्रकार थे। इनकी कविता में सरलता, उमंग, करुणा तथा उच्च विचार रहते थे और इन्होंने ग़ज़ल खूब कहे हैं। राज़े इश्क, शामे जवानी दो भाग, अज़ीज़े मिस्र, नए झगड़े आदि इनकी रचनाएँ हैं। उदाहरण—

नजर

आहें भरीं बहुत कुछ दम तोड़ना है बाकी।
इस आह में भी देखूँ है या असर नहीं है॥
दुनिया से जा रहे हो क्या लेके ऐ 'नज़र' तुम।
जादे सफर नहीं है, रख्ते सफर नहीं है॥
फुगाने बुलबुले जाँ दिल के पार होती है।
'नज़र' के बाग़ से रुखसत बहार होती है॥

पं० ब्रजमोहन दत्तात्रेय 'कैफी' कश्मीरी ब्राह्मण हैं और दिल्ली के निवासी हैं। आपने उर्दू की इतने लंबे काल तक सेवा की है कि अब

आप अल्लामा हो गए हैं। सन् १८८५ ई० में इन्होंने
कैफ़ी पहली राष्ट्रीय कविता कही थी अतः आपकी अवस्था
इस समय पचासी वर्ष से कम न होगी। इनसे अधिक
वृद्ध सैयद वहीदुद्दीन 'बेखुद' देहलवी थे, जिनका अंतकाल ३ अक्टूबर
सन् १९५५ ई० को सौ वर्ष की अवस्था में हुआ। इन्होंने अनुकांत
कविताएँ भी की हैं। मौलाना हाली के मुक़द्दमः के जवाब में भारतदर्पण
लिखा। 'वारिदात' नाम से इनकी कविताओं का एक बड़ा संग्रह
निकल चुका है। 'मन्शूरात' साहित्यिक निबंधों का संग्रह है। 'कैफ़िया'
में उर्दू के व्याकरण तथा मुहावरों पर प्रकाश डाला गया है। 'अंजुमन
तरक्किए उर्दू' हिंद शाखा के यह मंत्री हुए पर अब उपप्रधान हैं। यह
सुकवि तथा सुलेखक हैं और आलोचनाएं भी लिखा हैं। इन्होंने दो
नाटक राजदुलारी तथा मुरारा भी लिखे हैं। हिंदी शब्दों का भी
प्रयोग बहुत किया है। उदाहरण—

> तन ढँकें, पेट भरें, कुनबे को क्योंकर पालें।
> अहल आजिज़ है तो बगुदे किफ़ायत का शेआर॥
> नौबत अब यह है महीने में है फ़ाक़ो इक्कीस।
> पान बीड़ी से जो छूटा तो मियाँ से भी सिंगार॥
> है हुकूमत भी ज़ियादस्त रऐयत कंगाल।
> कौन इम्दाद करे किसकी? सभी हैं नाचार॥

शेख़ आशिक हुसेन 'सीमाब' का जन्म सन् १८८० ई० में आगरा
में हुआ। अठारह वर्ष की अवस्था ही में पिता की मृत्यु हो जाने से
एफ० ए० की परीक्षा भी पूरी न कर इन्होंने पढ़ना छोड़
सीमाब दिया। इनके उस्ताद हकीमुद्दीन अत्तार तथा मिर्ज़ा
दाग़ थे। पहले इन्होंने पत्र-पत्रिकाओं में कविता
लिखना आरंभ किया। इन्होंने अजमेर से 'फ़ानूसे ख्याल' पत्रिका
निकाली पर वहाँ से लौटकर आगरा के 'मुरस्सा' पत्र का संपादन भार
सँभाला। इसके अनंतर टूँडला से निकलने वाले 'आगरा अख़बार'

का कई वर्ष संपादन किया। सन् १९२३ ई० में इन्होंने आगरे 'पैमानः' निकाला और मौलाना रूम की मसनवी का उर्दू में ५ । वाद किया। इसके उपरांत यह दिल्ली गए और वहीं से 'रियासत' संपादन करते हुए पैमानः भी पुनः चलाया। सन् १९२९ ई० में आगरा लौट आए और दूसरे वष 'ताज' पत्र निकाला। इसके त 'शाअर' पत्रिका भी आरंभ की, जो जारी है और अन्य दो बंद हो गए। इनकी कविताओं के अनेक सग्रह कारे इम्रोज, अंजम, तूराक मशरिक, साज़ो आहंग आदि नामों से प्रकाशित हो चु हैं। इन्होंने बच्चों, युवकों, स्त्रियों आदि के लिए भी बहुत सी च प्रस्तुत की हैं। 'मजमूए अतासीर' इनकी कहानियों का संग्रह है। भग एक दर्जन के इन्होंने ड्रामा भी लिखे हैं, जिनमें कुछ खेले भी हैं। ग़ालिब, हाली, काव्यकला आदि पर कई गद्य ग्रथ भी लिखे हैं। पाकिस्तान बनने पर यह वहीं चले गए और परचम नामक निकाला किंतु थोड़े ही दिनों बाद वहीं इनकी मृत्यु हो गई।

आरंभ में यह उर्दू की पुरानी शैली पर चले पर समय ने इन्हें प्रगतिशील बना दिया। भाषा में सरलता, रोजमर्रा तथा मुहावरों का विशेष प्रयोग एवं प्रौढ़ता आई और यह कृत्रिमता से स्वाभाविकता तथा सत्यता की ओर बढ़े। इनकी भाषा में प्रसाद तथा सरल प्रवाह है। इन पर सामयिक राजनीति का प्रवाह पड़ा और ऐसी भावनाओं पर भी बहुत सी कविताएँ लिखीं। सांप्रदायिकता से यह सदा बचते रहे। इनकी गद्य-लेखन शैली भी अच्छी है। उदाहरण—

गरज की दुनिया है सारी दुनिया, यहाँ वफ़ा की चलन नहीं है।
मुझे कहीं और ले चल ऐ दिल, कि यह मेरी अंजुमन नहीं है।

तुझको दर पर्दः समझ कर हो रहा हूँ बेकरार।
क्या तमाशा हो जो कोई दूसरा पर्दे में हो॥
सच है कि खुदा तक है मुहब्बत की रसाई।
औ तुमको यक़ीं हो तो मुहब्बत ही खुदा है॥

मसलहत यह है खुदी की शफ़्सतें मारो रहें।
जब खुदी मिट जायगी यंद खुदा हो जायगा ॥
उड़ रहे हैं गर्द बरबादी में कुछ औराक़े दिल।
इनमें यह सफ़ा न हो जिस पर तेरी तस्वीर हो ॥

मिर्ज़ा मुहम्मद हादी का उपनाम अज़ीज़ था। इनके कोई पूर्वज शीराज़ से कश्मीर में आ बसे थे और उसके अनंतर अवध की शाही के समय वहाँ से लखनऊ चले आए। यहीं सन् १८८१ ई० में इनका जन्म हुआ और फारसी तथा अरबी की इन्होंने अच्छी शिक्षा प्राप्त की। अंग्रेज़ी की बहुत साधारण शिक्षा मिली थी। इन्होंने किसी को अपना काव्यगुरु नहीं बनाया पर कभी कभी आग़ा हाजिक तथा मौलाना सफ़ी से इस्लाह लेते रहे। यह मिर्ज़ा मुहम्मद अब्बास अली खाँ 'जिगर' के यहाँ सोलह-सत्रह वर्षों तक उनकी कविताओं का शोधन-कार्य करते रहे और इसी काल में इनका कवित्व प्रसिद्ध हो गया। जिगर की मृत्यु पर यह अमीनाबाद हाइ स्कूल में कई वर्ष हेड मौलवी रहे और इसके उपरांत राजा महमूदाबाद के राजकीय पुस्तकालय के अध्यक्ष रहे। इनकी मृत्यु २१ जुलाई सन् १९३५ ई० को हो गई। इनकी रचनाओं में एक गुलकदः दीवान है जिसमें सन् १९१८ ई० तक की इनकी आरंभिक गजलों का संग्रह है। इनका मुहाविरों का एक कोष अर्जाज़ुल्लुग़ात् के नाम से सन् १९३२ ई० के लगभग प्रकाशित हुआ है। बाद की कविताओं के संग्रह भी छपे हैं।

अज़ीज़

अज़ीज़ प्रगतिशील कवि थे और इन्होंने प्राचीन ढंग की शृंगारिकता का प्रायः त्याग कर एक नई शैली चलाई। यह धार्मिक कट्टरता से दूर रहे और अपनी रचनाओं में कहीं किसी अन्य धर्म पर आक्षेप नहीं किया। इन्होंने केवल ग़ज़ल, कसीदे ही नहीं लिखे हैं प्रत्युत अन्य भाषाओं के समान आधुनिक युग की शैली पर कविताएँ लिखी हैं। प्राकृतिक दृश्य, आध्यात्मिक विचार, नए-नए आविष्कार आदि पर बरसात, काशी का दृश्य, सुबह, माहताब, हवाई जहाज़ आदि शीर्षकों से बहुत सी कविताएँ

का कई वर्ष संपादन किया। सन् १९२३ ई० में इन्होंने आगरे से 'पैमानः' निकाला और मौलाना रूम की मसनवी का उर्दू में पद्यानुवाद किया। इसके उपरांत यह दिल्ली गए और वहीं से 'रियासत' का संपादन करते हुए पैमानः भी पुनः चलाया। सन् १९२९ ई० में यह आगरा लौट आए और दूसरे वर्ष 'ताज' पत्र निकाला। इसके अनंतर 'शाअर' पत्रिका भी आरंभ की, जो जारी है और अन्य दो पत्र बंद हो गए। इनकी कविताओं के अनेक संग्रह कारे इम्रोज, कलीमे अजम, तूराक मशरिक, साज़ा आहंग आदि नामों से प्रकाशित हो चुके हैं। इन्होंने बच्चों, युवकों, स्त्रियों आदि के लिए भी बहुत-सी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। 'मजमूए अतासीर' इनकी कहानियों का संग्रह है। लगभग एक दर्जन के इन्होंने ड्रामा भी लिखे हैं, जिनमें कुछ खेले भी गए हैं। ग़ालिब, हाली, काव्यकला आदि पर कई गद्य ग्रंथ भी लिखे हैं। पाकिस्तान बनने पर यह वहीं चले गए और परचम नामक पत्र निकाला किंतु थोड़े ही दिनों बाद वहीं इनकी मृत्यु हो गई।

आरंभ में यह उर्दू की पुरानी शैली पर चले पर समय ने इन्हें प्रगतिशील बना दिया। भाषा में सरलता, रोजमर्रा तथा मुहावरों का विशेष प्रयोग एवं प्रौढ़ता आई और यह कृत्रिमता से स्वाभाविकता तथा सत्यता की ओर बढ़े। इनकी भाषा में प्रसाद तथा सरल प्रवाह है। इन पर सामयिक राजनीति का प्रवाह पड़ा और ऐसी भावनाओं पर भी बहुत सी कविताएँ लिखीं। सांप्रदायिकता से यह सदा बचते रहे। इनकी गद्य-लेखन शैली भी अच्छी है। उदाहरण—

गरज की दुनिया है सारी दुनिया, यहाँ वफा की चलन नहीं है।
मुझे कहीं और ले चल ऐ दिल, कि यह मेरी अंजुमन नहीं है।

तुझको दर पर्दः समझ कर हो रहा हूँ बेकरार।
क्या तमाशा हो जो कोई दूसरा पर्दे में हो॥
सच है कि खुदा तक है मुहब्बत की रसाई।
औ तुमको यक़ीं हो तो मुहब्बत ही खुदा है॥

मसलहत यह है खुदी की नाफ़मतें सारी रहें।
जब खुदी मिट जायगी बंदः खुदा हो जायगा॥
उड़ रहे हैं गर्दे बर्बादी में कुछ शोरीदः दिल।
इनमें वह सफ्ह: न हो जिस पर तेरी तस्वीर हो॥

मिर्ज़ा मुहम्मद हादी का उपनाम अज़ीज़ था। इनके कोई पूर्वज शीराज़ से कश्मीर में आ बसे थे और उसके अनंतर अवध की शाही के समय वहाँ से लखनऊ चले आए। यहीं सन् १८८१

अज़ीज़

ई० में इनका जन्म हुआ और फारसी तथा अरबी की इन्होंने अच्छी शिक्षा प्राप्त की। अंग्रेजी की बहुत साधारण शिक्षा मिली थी। इन्होंने किसी को अपना काव्यगुरु नहीं बनाया पर कभी कभी आगा हाजिक तथा मौलाना सफी से इस्लाह लेते रहे। यह मिर्ज़ा मुहम्मद अब्बास अली ख़ाँ 'जिगर' के यहाँ सोलह-सत्रह वर्षों तक उनकी कविताओं का शोधन-कार्य करते रहे और इसी काम में इन का कवित्व प्रसिद्ध हो गया। जिगर की मृत्यु पर यह अमीनाबाद हाई स्कूल में कई वर्ष हेड मौलवी रहे और इसके उपरांत राजा महमूदाबाद के राजकीय पुस्तकालय के अध्यक्ष रहे। इनकी मृत्यु ३१ जुलाई सन् १९३२ ई० को हो गई। इनकी रचनाओं में एक गुलकदः दीवान है जिसमें सन् १९१८ ई० तक की इनकी आरंभिक गजलों का संग्रह है। इनका मुहाविरों का एक कोप अर्जाजुल्लुग़ात् के नाम से सन् १९३२ ई० के लगभग प्रकाशित हुआ है। बाद की कविताओं के संग्रह भी छपे हैं।

अज़ीज़ प्रगतिशील कवि थे और इन्होंने प्राचीन ढंग की शृंगारिकता का प्राय: त्याग कर एक नई शैली चलाई। यह धार्मिक कट्टरता से दूर रहे और अपनी रचनाओं में कहीं किसी अन्य धर्म पर आक्षेप नहीं किया। इन्होंने केवल ग़ज़ल, कसीदे ही नहीं लिखे हैं प्रत्युत अन्य भाषाओं के समान आधुनिक युग की शैली पर कविताएँ लिखी हैं। प्राकृतिक दृश्य, आध्यात्मिक विचार, नए-नए आविष्कार आदि पर बरसात, काशी का दृश्य, सुबह, माहताब, हवाई जहाज आदि शीर्षकों से बहुत सी कविताएँ

प्रस्तुत की हैं। उदाहरण—

मरना कि जिंदः रहना परवाह न इसकी करना।
ऐ दिल, रहे-वफ़ा में अपनी-सी करके रहना॥
तअल्लुक हो न हो दिल में भरा है दर्द कुछ ऐसा।
जहाँ सब रो रहे हों खुद भी दो आँसू बहा देना॥
अपने मर्कज की तरफ मायले पर्वाज था हुस्न।
भूलता ही नहीं आलम तेरी अँगड़ाई का॥
रब्ते देरीनः से बाक़ी है तअल्लुक अब भी।
लाख काबे से बनाए कोई बुतखानः जुदा॥
यह किसने बुर्जे जमर्रुद से मुँह निकाला है।
हर एक तरफ शबे तारीक में उजाला है॥
लिबास नूर का पहने हुए है प्यारी रात।
सहर के रंग में डूबी हुई है सारी रात॥
'अज़ीज़' आजाद तायर शाखे गुल पर चहचहाते हैं।
हयात अपनी मगर वाबिस्तए हल्क़ः बगोशी है॥

जोश

मौलाना शब्बीर हुसेन 'जोश' का जन्म लखनऊ के मलीहाबाद कस्बे में सन् १८९४ ई० में हुआ था। यह फकीर मुहम्मद गोया के पौत्र तथा मुहम्मद खाँ अहमद के पुत्र हैं। अरबी तथा फारसी के विद्वान हैं। स्कूल की अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर अलीगढ़ पढ़ने के लिए गए पर घरेलू झंझटों के कारण इसे छोड़ दिया। सन् १९२४ ई० में हैदराबाद राज्य में अनुवाद विभाग में नौकर हुए और कई वर्ष वहाँ रहे। सन् १९३५ ई० में दिल्ली आए और 'कलीम' मासिक पत्र स्वयं निकाला। चार वर्ष के अनंतर यह इस पत्र को लेकर मलीहाबाद चले आए और यहीं से यह पत्र अब निकल रहा है। यह मिर्जा मुहम्मद हादी 'अजीज़' के शिष्य हैं और इस समय उर्दू के श्रेष्ठतम कवियों में माने जाते हैं। इनकी आरंभिक कविताओं का संग्रह 'रूहे अदब' नाम से हैदराबाद ही में रहते समय

निकला। आरंभ में इनकी इस्लामी प्रवृत्ति थी और इन्होंने मुहम्मद साहब की प्रशंसा में एक छंपी कविता प्रकाशित कराई थी। इसके अनंतर रुचि-परिवर्तन होने से यह सांप्रदायिकता से दूर हट गए। नक्शो निगार, फ़िक्रे निशान, शोल्मो शबनम, जुनूनो हिकमत आदि अन्य रचनाएँ हैं। इन्होंने गद्य तथा पद्य दोनों लिखा है। क्रान्ति के कवि होते हुए यह विषय-वासनादि से युक्त शृंगारिक कविता भी करते हैं। यह प्रेम-सौंदर्य तथा मदिरा के उपासक भी हैं और स्वदेशी कला, शिक्षा आदि के भी समर्थक हैं। वर्णनात्मक कविताएँ भी बहुत लिखी हैं जैसे जामुनवाली, भूखा हिंदुस्तान, जंगल की शाहज़ादी आदि। जोश प्राचीनता के विरोधी हैं और ईश्वर पर आस्था नहीं रखते, ऐसा उनकी कविताओं से ज्ञात होता है। इनकी भाषा में अलंकरण भी है और मुहावरों का प्रयोग भी। अति क्लिष्ट शब्दों का भी यह कभी कभी उपयोग कर डालते हैं। उदाहरण—

मस्त भौंरा गूँजता फिरता है कोहो दश्त में।
रूह फिरती है किसी वहशी की घबराई हुई॥
हुन बरसता था कभी दिन-रात तेरी ख़ाक पर।
सच बता ऐ हिंद तुझको खा गई किसकी नज़र॥
ख़ुद को गुम कर्दः राह करके छोड़ा।
दीदा को भी तबाह करके छोड़ा॥
अल्लाह ने जन्नत में किए लाख जतन।
आदम ने मगर गुनाह करके छोड़ा॥
बलबलों से बर्फ़ के मानिंद लहराया हुआ।
मौत के साए में रहकर मौत पर छाया हुआ॥

न छेड़ शायर रबाबे रंगीं य बज़्म अभी नुक्तः दाँ नहीं है।
तरी नवासंजियों के शायाँ फ़िज़ाए हिंदोस्ताँ नहीं है॥

इनके सिवा अन्य अनेक प्रसिद्ध कविगण हुए हैं, जिनमें कुछ गत हो चुके हैं और कुछ जीवित भी हैं। दाग़ के प्रसिद्ध शिष्य सैयद वही-

दुद्दीन 'बेखुद' की ३ अक्तूबर सन् १९५५ ई० को छान्नवे वर्ष की मे मृत्यु हुई। यह सुकवि तथा काव्य-मर्मज्ञ थे। इन्होंने चार लिखे हैं और गालिब के दीवान की टीका भी लिखी है। मौलाना नक़ी 'सफी' लखनवी का जन्म सन् १८६२ ई० में हुआ था। इनकी कविताओ का संग्रह प्रकाशित हो चुका है। इनकी मृत्यु नब्बे वर्ष की अवस्था में पाकिस्तान मे जाकर हुई। फ़जलुल् हसन 'हसरत' मुहानी का जन्म मुहान उन्नाव में सन् १८७५ ई० मे हुआ था। सन् १९०३ ई० में अलीगढ़ से बी ए. पास कर उर्दू की सेवा में लगे और बाद में राजनीतिक कार्यों में लग गए। यह सुकवि थे और इनकी कविताओं के कई संग्रह निकल चुके हैं। इनकी इधर ही मृत्यु हो गई। 'रियाज़' खैराबादी का जन्म सन १८५२ ई० मे हुआ था। इनकी कविता में विनोद, व्यंग्य आदि खूब हैं। इनका कविता संग्रह 'रियाज़ रिज़वाँ' प्रकाशित हो चुका है। अन्य रचना 'हरससरा कामिल' अंग्रेजी से अनूदित है। इनके सिवा असर, मजाज़, बिस्मिल, माजिद, असग़र, फ़िराक आदि अनेक कवि हो गए हैं और मौजूद हैं।

बारहवाँ परिच्छेद

उर्दू गद्य-साहित्य का विकास

गद्यारंभ

प्रायः सभी भाषाओं में गद्य पद्य के पीछे ही आरंभ होता है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से जो भाषाएँ मानी जाती हैं और जिनका सब कुछ निज का है तथा प्रत्येक धातु के लिए जो पर मुखापेक्षी नहीं हैं, जब उनमें भी यही हाल है तब उर्दू जिसका जन्म ही साहित्यारंभ से होता है उसके लिए ऐसा होना कौन आश्चर्य है। जिन दो भाषा भाषियों के संपर्क से यह व्यावहारिक माध्यम उत्पन्न हुआ था, उनकी मातृ-भाषाएँ भिन्न थीं, साहित्य दो थे और विचाराग्नि भी विभिन्न थे। यह माध्यम केवल दोनों के मिलने पर व्यवहार में काम आता था। ऐसी अवस्था में उसमें कुछ भी साहित्य न होता यदि यह संपर्क शीघ्र ही टूट जाता। पर यह समय के साथ साथ दृढ़तर होता गया और क्रमशः यह माध्यम एक रूप धारण करने लगा। बहुत दिनों तक दोनों अपनी-अपनी भाषा में निज के उद्गार प्रकट करते रहे पर धीरे धीरे इन्हीं में से जिसको इस माध्यम में अपनी मातृभाषा से अधिक सारल्य प्राप्त हुआ, वे इसमें भी कुछ कुछ लिखने लगे। साहित्यारंभ प्रेम, भक्ति या समाज मूलक होता है और किसी देश की सभ्यता के आरंभ में इन्हीं से विशेष उत्साह तथा उत्तेजना मिलती है, जिसका उद्गार पहले पहल कविता रूप में निकल पड़ता है। उर्दू का आरंभ दो सभ्य जातियों के संपर्क से हुआ अतः जिस जाति ने इसे विशेष रूप से अपनाया उसी के पुराने साहित्य का रंग इस पर पूर्णरूप से आना स्वभावसिद्ध था। इस जाति का धर्म भी उस समय नया था और उसके प्रचार की उत्तेजना भी इसमें अधिक थी, जिससे अपने

धर्म के फ़क़ीरों के उपदेश, जीवनी आदि उस भाषा में लिखी जाने लगीं, जो माध्यम का काम कर रही थी। इस विचार से ऐसा ज्ञात होता है कि उर्दू के प्राचीन इतिहास के पूरी तौर पर लिख जाने पर स्यात् ऐसा न मिले कि गद्य पद्य से पहले लिखा गया हो। इसके लिए उत्तरी भारत में खोज करना व्यर्थ है, क्योंकि यहाँ हिन्दुओं में संस्कृत तथा हिंदी का और मुसल्मानों के बीच फारसी का ऐसा स्थिर वातावरण था कि उसमें एक नए माध्यम के पर फटफटाने का अवकाश ही नहीं था। यहाँ तो मुगल साम्राज्य के अंत तक गद्य में फारसी ही का चलन था। साहित्य विषयादि गहन विषय छोड़िए, पत्र लेखन, भूमिका, संग्रह, सरकारी कार्यवाही आदि सभी फारसी में लिखी जाती थी। उर्दू के कविगण भी फारसी के विद्वान् थे और वे केवल कविता ही में उर्दू का प्रयोग करते थे। यदि वे भूमिका लिखने बैठते थे तो फारसी ही में लिखते थे। उन्हे अपनी फारसी रचना ही पर विशेष अभिमान रहता था। अब देखना चाहिए कि दक्षिण में कब इसका आरंभ हुआ।

दक्षिण में गद्य साहित्य

दक्षिण में उर्दू साहित्य की गद्य-पद्य रचनाओं का अन्वेषण बराबर हो रहा है और उन खोजों के फल-स्वरूप कई ग्रंथ इधर निकल चुके हैं, जिनमें से नसीरुद्दीन हाशिमी का 'दकिन में उर्दू', शम्सुल्लाह कादिरी का 'उर्दुए कदीम', श्रीराम शर्मा का 'दक्खिनी का पद्य और गद्य', राम बाबू सक्सेना का 'दक्खिनी हिंदी' आदि हैं। तब भी अब तक के अन्वेषण में कोई विशेष महत्व के गद्य ग्रंथ नहीं प्राप्त हुए हैं पर खोज जारी है और जब तक प्राचीन उर्दू गद्य का सविस्तर इतिहास तैयार नहीं होता तब तक इस विषय पर विशेष नहीं लिखा जा सकता। प्राप्त प्राचीन गद्य साहित्य सूफी साधुओं तथा फकीरों की कहावतों, उपदेशों आदि का संग्रह है। ये छोटे छोटे रिसाले (पुस्तिका) हैं जो अधिकतर फारसी-अरबी रचनाओं के अनुवाद हैं। शेख़ ऐनुद्दीन गंजुल् इसलाम (मृत्यु सन् १३३२ ई०) की रचनाएँ धार्मिक हैं। ख्वाजा बंदे

नियाज हजरत सैयद गेसूदराज ने निशातुल् इश्क का अनुवाद 'मेरा-जुल् आशिकीं' के नाम से किया है। बीजापुर के शाह मीरनजी शम्सुलउश्शाक़ प्रसिद्ध सूफी फकीर थे जिन्होंने सूफी मत की कई छोटी छोटी पुस्तिकाएँ लिखी हैं। इन्हीं के पुत्र शाह बुर्हानुद्दीन जानम (मृत्यु सन् १५८१ ई०) ने कई पुस्तकें लिखा हैं जिनमें दो का नाम अलवरग और गुलवास है। सन् १६३५ ई० में मौलाना वजही ने 'सबरस' लिखा। सन् १६८० ई० में मीरान याकूब ने 'शमाय लुल् इनक़ियाद इलायस्सुल् हवक़ियाद' लिखा, जिसकी भाषा सरल दक्खिनी है। इसी सत्रहवीं शताब्दी में रायचूर के सैयद शाह मुहम्मद कादिरी और सैयद शाह मीर ने धर्मपर कई पुस्तकें लिखीं। इस प्रकार अभी तक यही निश्चयत कहा जा सकता है कि उर्दू गद्य का आरंभ ईसवी चौदहवीं शताब्दी में हुआ है।

फारसी से अनूदित कुछ धर्म विषयक अप्राप्य पुस्तकों को छोड़ कर उत्तरी भारत में सबसे पहली गद्य पुस्तक फ़जली की 'देह मजलिस' है। यह सन् १७३२ ई० में फ़ारसी के ग्रंथ

उत्तरी भारत का आरंभिक गद्य ग्रंथ

के आधार पर लिखी गई थी। ग्रंथकार ने भूमिका में लिखा है कि यह मुल्ला हुसेन वाएज़ की 'रौज़-तुश्शोहदा' का अनुवाद है और इसे सुगम तथा महाविरेदार भाषा में लिखने का प्रयत्न किया गया है। स्वप्न में किस प्रकार 'शाहे शाहीनों' ने इसे उत्साह दिलाया था इसका भी उल्लेख किया गया है। यह शोआ था और इसने इस पुस्तक में विनय के शेर तथा मर्सिया लिखा है पर वे विशेष महत्व के नहीं हैं। इसका महत्व उसके आरंभिक काल की रचना होने पर स्थित है। भाषा में फ़ारसी भरी है और लंबे लंबे वाक्यों तथा शब्दों के फेर में अर्थ स्पष्ट नहीं रह गया है। सौदा ने अपने दीवान के आरम में एक छोटी सी प्रस्तावना उर्दू में लिखी है पर उसमें भी उनके समय के गुण उपस्थित हैं। इंशा और क़तील के दरियाए लताफ़त में बोलचाल की भाषा के

नमूने दिए गए हैं। पुस्तक फारसी में लिखी गई है। मीर मुहम्मद अता हुसेन खाँ 'तहसीन' ने सन् १७९८ ई० में खुसरो के चहारदर्वेश का अनुवाद 'नौ तर्ज़े मुरस्सअ' के नाम से किया था। यह इटावा-निवासी थे और इनके पिता मुहम्मद बाक़िर खाँ 'शौक़' अवध के नवाब सफदर जंग के दरबार में रहते थे। तहसीन जेनरल स्मिथ के मुंशी होकर कलकत्ते गए और उनके लौट जाने पर पटने आकर वकील हुए। पिता की मृत्यु होने पर यह नवाब शुजाउद्दौला की सेवा में फैजाबाद लौट आए। यहीं इन्होंने यह पुस्तक लिखना आरंभ किया, जो नवाब आसफुद्दौला के समय में समाप्त हुई थी। यह बहुत अच्छी लिपि लिख सकते थे, जिससे इन्हे मुरस्सअरक़म की पदवी मिली थी। फ़ारसी में ज़वाबिते अंग्रेजी और तवारीखे कासिमी लिखी है। नौ तर्ज़े मुरस्सअ की शैली क्लिष्ट है और इसीसे मीर अम्मन ने उसका दूसरा अनुवाद बागोबहार के नाम से किया है।

अंग्रेजों को उर्दू की आवश्यकता

व्यापार की दृष्टि से आए हुए अंग्रेज वणिकों ने लगभग दो सौ वर्षों के अनंतर जब भारत के कुछ अश पर राज्य स्थापित कर लिया और समग्र भारत पर अपने राज्य फैलाने के मनोरथ को सफल होते देखा तब उन्हें राज्य-प्रबध के लिये प्रजा की भाषा को जानना अत्यंत आवश्यक जान पड़ा। दुभाषियों का समय बीत चुका था, क्योंकि अब केवल सौदा लेने देने की बातचीत का समय नहीं रह गया था। अन्य धर्मों की माननेवाली तथा अन्य भाषाओं की बोलनेवाली करोड़ों प्रजा पर पूर्णरूपेण शासन करने के लिए उनके धर्म, भाषा, साहित्य, सभ्यता आदि सभी का ज्ञान उपार्जन करना उनके लिए आवश्यक हो गया। अंग्रेज शासक अपने दोहरे उत्तरदायित्व को समझ रहे थे, इसलिए उनको उन प्रांतों की भाषाओं को सीखना पडता था जहाँ वे नियुक्त किए जाते थे। इसके लिए कॉलेज खोला गया और पाठ्य ग्रंथ तैयार कराए गए। भारत की कई प्रसिद्ध भाषाओं के कोष, व्याकरण

आदि लिखवाए गए और इस प्रकार उनके शिक्षा का पूरा प्रबंध किया गया। इन सब बोल चाल की भाषाओं में उर्दू पर पहले विशेष ज़ोर दिया गया था क्योंकि यह पहले तो मुगल शासनकाल की राजभाषा फ़ारसी की रूपधारिणी थी और दूसरे अंग्रेज़ों को उत्तरी भारत के अधिकार का जिनसे 'वास्ता' पड़ता था वे विशेषकर इसी भाषा के बोलने वाले थे। सन् १८०० ई० में लार्ड वेलेज़्ली के शासन-काल में देशी भाषाओं की शिक्षा देने के लिए कलकत्ते में एक कॉलेज खोला गया, जिसके प्रथम प्रिंसिपल डा० गिलक्राइस्ट थे।

'उर्दू गद्य के पिता' डाक्टर जॉन बॉर्थविक गिलक्राइस्ट का जन्म सन् १७५९ ई० में एडिंबरा में हुआ था और इन्होंने जार्ज हेरिअट हॉस्पिटल में उसी नगर में शिक्षा प्राप्त की थी। सन्
डाक्टर गिलक्राइस्ट १७९४ ई० में ईस्ट इंडिया कंपनी में सर्जन होकर यहाँ कलकत्ते आए। भारतीय भाषाएँ सीखकर यूरोपियन अफ़सर भारत की प्रजा से अधिक हिलमिल सकते हैं, इस विचार के यह पक्के समर्थक थे, और इन्होंने स्वयं भ्रमण कर उत्तरी भारत के बोलचाल की भाषा का सफलतापूर्वक मनन किया तथा संस्कृत, फ़ारसी आदि भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया था। सन् १८०० ई० में फ़ोर्ट विलि-यम कॉलेज के खुलने पर यह उसके प्रथम प्रिंसिपल नियुक्त हुए। लार्ड वेलेज़्ली ने हिंदी और उर्दू में पाठ्यग्रंथों की रचना का कुल प्रबंध इनको सौंपा, जिसे करने में इन्होंने पूरी सफलता पाई। इसी कॉलेज में कंपनी के अफ़सरों को देशी भाषाओं की शिक्षा भी दी जाने लगी। यह अपने स्वास्थ्य के कारण अधिक दिन यहाँ नहीं रह सके और सन् १८०४ ई० में पेंशन लेकर विलायत लौट गए। इन्हें एडिंबरा विश्व-विद्यालय से एल-एल० डी० की पदवी मिली और सन् १८०६ ई० में कुछ दिन हेलबरी में प्राच्य-प्रोफ़ेसर रहे। सन् १८१६ ई० से १८१८ ई० तक यह लंदन में भारतीय भाषाएँ अपने घर पर पढ़ाते रहे। ओरि-यंटल इंस्टिट्यूशन के खुलने पर सन् १८१८ ई० से १८२६ ई० तक वहाँ

हिंदुस्तानी के अध्यापक रहे। जब उस सस्था को ईस्ट इंडिया कंपनी ने बन्द कर दिया तब कुछ दिन और गृह पर हिंदुस्तानी पढ़ाते रहे। ८२ वर्ष की अवस्था में सन् १८४१ ई० की ९ जून का पेरिस में इनकी मृत्यु हुई। इनके नाम पर 'गिलक्राइस्ट-एजुकेशन-ट्रस्ट' नामक एक फड कलकत्ते में खोला गया। यह ऐसे योग्य और सहृदय सज्जन थे कि इनके सभी सहकारी इनसे संतुष्ट रहे। कप्तान अब्राहम लौकट, प्रो० जे० डब्ल्यू० टेलर और डाक्टर हटर की सहायता से हिंदी तथा उर्दू के गद्य का स्वरूप निश्चित करने मे इन्होंने बहुत अच्छा कार्य किया। इनके देशी सहकारियो मे लल्लूलाल, सदलमिश्र, अम्मन, अफ़सोस, हुसेनी, लुत्फ़, हैदरी, जवाँ, निहालचद, एकरामअली, विला, मुनीर, सैयद बाशिर अली 'अफसास' और मदारीलाल गुजराती थे। इनकी रचनाएँ बहुत हैं पर उनमे हिन्दुस्तानो भाषाविज्ञान, हिंदुस्तानी का व्याकरण तथा अंग्रेजी-हिंदुस्तानी-कोष प्रधान हैं।

मीर अमान प्रसिद्ध नाम मीर अम्मन दिल्ली-निवासी थे, जहाँ इनके पूर्वजगण हुमायूँ बादशाह के समय से उस राज्य के नौकर रहे और मसब तथा जागीर का उपभोग करते रहे।

मीर अम्मन

मुग़ल साम्राज्य की अवनति पर अहमद शाह दुर्रानी की लूट मार से और भरतपुर-नरेश सूरजमल के इनकी जगीर छीन लेने पर यह दिल्ली से पटने चले गए। वहाँ भी जीविका का कुछ उपाय न हुआ तब कई वर्ष बाद परिवार को वहीं छोड़कर अकेले कलकत्ते गए, जहाँ कुछ दिन पर नवाब दिलावर जंग के छोटे भाई मीर मुहम्मद काजिम खाँ के शिक्षक नियुक्त हुए। दो वर्ष बाद सन् १८०१ ई० में डाक्टर गिलक्राइष्ट साहब से इनका परिचय हुआ और यह मुंशी नियत हुए। अमीर खुसरो कृत चहार-दर्वेश का इन्होंने सन् १८०१ ई० में अनुवाद कर उसका तारीखी नाम बागोबहार रखा। इसे अमीर खुसरो ने निजामुद्दीन औलिया की रुग्णावस्था में उनके मनोरंजनार्थ लिखा था। 'तहसीन' कृत इसके एक

अनुवाद का उल्लेख हो चुका है। अम्मन ने इसे सुगम गद्य में लिखा है जिसकी शैली मुहाविरेदार और सरल है। कहानी रोचक है और खुसरो के समय के मुसलमानी समाज का अच्छा चित्रण है। भूमिका में 'अम्मन' ने अपने और उर्दू की उत्पत्ति के विषय में लिखा है। सन् १८०२ ई० में गंजीनए खूबी लिखा, जो हुसेन वाएज़ काशिफ़ी के अख़लाके-मुहसिनी का अनुकरण है। ये सुकवि भी थे और कर्मुद्दीन के अनुसार एक दीवान भी लिखा था, जो अप्राप्य है। कविता में किसी को गुरु नहीं बनाया और स्वयं अभ्यास कर सुकवि बने। डा० फ़ैलन लिखते हैं कि मीर अम्मन स्वयं कहते थे कि 'कविता मेरी जीविका नहीं है, मेरी पद्य टकसाली उर्दू है क्योंकि मैं दिल्ली शाह-जहानाबाद का रोड़ा हूँ।' कविता में लुत्फ़ भी उपनाम रखते थे पर 'अम्मन' ही प्रसिद्ध है।

मीर शेरअली जाफ़री 'अफ़सोस' के पिता मीर मुज़फ़्फ़र खाँ का वंश इमाम जाफ़र सादिक से मिलता है। इनके पूर्वजगण अरब से भारत आए और उनमें से एक नस्रुद्दीन नारनौल

अफ़सोस

में बस गए। मुहम्मदशाह के समय मुज़फ़्फ़र खाँ और उनके भाई गुलाम अली खाँ दिल्ली चले आए और नवाब अम्दतुल्मुल्क अमीर खाँ के यहाँ विश्वसनीय पद पर नियुक्त हुए। यहीं सन् १७३५ ई० के लगभग मीर शेर अली का जन्म हुआ। नवाब अमीर खाँ 'अंजाम' की मृत्यु पर सैयद गुलाम अली कुछ दिन इलाहाबाद के सूबेदार रहे। इनकी मृत्यु के बाद बाप मुज़फ़्फ़र खाँ नवाब शुजाउद्दौला के यहाँ तीन सौ रुपये मासिक पर नौकर हुए। इस समय मीर शेरअली ग्यारह वर्ष का था और लखनऊ में साहित्यिक केन्द्र में रहने से इसमें बचपन ही से कविता की ओर रुचि हो गई। मीर हैदरअली हैरान को गुरु बनाया तथा मीर हसन, मीर तक़ी और मीर सोज़ को भी कुछ लोगों के कथनानुसार कविता दिखाते थे। कई वर्ष बाद बंगाल के नवाब मीर जाफ़र के

यहाँ इनके पिता दारोगा नियत हुए। यह मीर जाफर की मृत्यु पर दक्षिण गए जहाँ इनकी मृत्यु हो गई। मीर शेर अली लखनऊ में लगभग ग्यारह वर्ष तक नवाब सालार जंग और उनके पुत्र नवाजिश अली के पास रहे। इसके अनंतर मिर्जा जवाँबख्त की मुसाहिबी में नियुक्त हुए पर उसी वर्ष उनके दिल्ली लौट जाने पर यह नवाब के नायब सर्फराजुद्दौला हसन रजा खाँ के साथ रहे। इनके लिखने पर मीर शेरअली फोर्ट विलिअम कॉलेज में मुंशी हुए और दो सौ रुपये मासिक वृत्ति मिली थी तथा पाँच सौ रुपया मार्ग व्यय के लिये मिला। वहाँ सन् १७९९ ई० में शेख सादी के गुलिस्ताँ का बागेउर्दू के नाम से अनुवाद किया, जो सन् १८०२ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके अनंतर यह अन्य लेखकों की रचनाओं को शुद्ध करने के लिए नियुक्त किए गए। इन्होंने चार किताबें शुद्ध कीं, जिनमें तीन मीर बहादुर अली की नस्रे-बेनजीर, निहालचंद का मजहबेइश्क और मुहम्मद इस्माइल की बहारे-दानिश हैं। इसके अनंतर सौदा के कुलियात का संपादन किया। सन् १८०५ ई० में मिस्टर हैरिंगटन के (१७६४-१८२८) आज्ञानुसार 'आराइशे महफिल' नामक ऐतिहासिक ग्रंथ लिखना आरंभ किया जो मुख्यतः सुजानराय कृत 'खुलासतुत्तवारीख़' के आधार पर है। इसमें अपने समय तक का हाल दिया है। इसका पूर्वार्द्ध तो प्रकाशित हुआ पर उत्तरार्द्ध सोसाइटी के पुस्तकालय में सुरक्षित रखा है। इन्होंने एक दीवान भी लिखा है जो उत्तम है। यह सन् १८०९ ई० में मरे।

फोर्ट विलिअम कॉलेज के मीर मुंशी मीर बहादुर अली हुसेनी के विषय में विशेष कुछ नहीं ज्ञात हुआ। इन्होंने अपने बारे में कुछ भी नहीं लिखा है। इन्होंने कविता भी विशेष नहीं की है, जिससे किसी तजकिरः में इनका उल्लेख नहीं मिलता। इन्होंने सन् १८०२ ई० में इखलाक़े-हिंदी नामक एक पुस्तक लिखी, जो हितोपदेश के फारसी

मीर बहादुर अली हुसेनी

अनुवाद तुहफ़ेतुल् खुल्क़ का अनुवाद है। इसके अनंतर मीर हसन की मसनवी सेहरुल् बयान का गद्य रूपान्तर किया, जो सन् १८०२ ई० में नस्रे बेनज़ीर के नाम से प्रकाशित हुआ था। गिलक्राइस्ट उर्दू रिसाला ग़ालिबन डाक्टर साहब के व्याकरण का संक्षिप्त संस्करण है। मौलाना अहमद शहाबुद्दीन साबिक़ कृत तारीखे मुल्के आसाम का उर्दू में अनुवाद किया, जिसमें नुवाब खाँ खानखानाँ मीर जुमला की सन् १६६२ ई० की चढ़ाई का वर्णन है। यह छोटा सा ग्रन्थ है। इन्होंने कुरान और क़िस्सए गुलशन लिखने सहायता दी थी।

हैदर बख्श हैदरी के पिता सैयद अबुलहसन दिल्ली के निवासी थे। इनके पूर्वज नजफ से आए हुए थे। हैदरी का जन्म दिल्ली ही में हुआ था पर ये पिता के साथ यौवन ही में बनारस हैदर बख्श हैदरी आकर बस गए थे। गुलज़ारे इब्राहीमी के प्रणेता नवाब अली इब्राहीम खाँ 'ख़लील' के यहाँ, जो बनारस कचहरी में नियुक्त थे, रहकर शिक्षा प्राप्त की। गुलाम हुसेन गाज़ीपुरी से धार्मिक शिक्षा मिली। सन् १८०० ई० में इन्होंने क़िस्सए मेहो माह लिखकर, जो फ़ारसी के एक ग्रंथ का अनुवाद है, डा० गिलक्राइस्ट को दिखलाया, जिससे इनकी भी उस कालेज में नियुक्ति हो गई। सन् १८०१ ई० में तोता कहानी लिखी। संस्कृत की शुक सप्तति से संकलित कर ज़ियाउद्दीन नख्शबी ने सन् १३३० ई० के लगभग 'तूतीनामा' लिखा, जिसका संक्षिप्त तथा सुगम संस्करण मुहम्मद क़ादिर ने अठारहवीं शताब्दी के अंत में लिखा। इसी का यह उर्दू अनुवाद है। आराइशे महफ़िल या क़िस्सए हातिम ताई सन् १८०२ ई० में प्रकाशित हुई। मिर्ज़ा मुहम्मद मह्दी की फ़ारसी रचना तारीखे नादिरी का उर्दू अनुवाद सन् १८०९-१८१० ई० में समाप्त हुआ। हुसैनी अल्वायज़ काशिफ़ी के रौज़तुश्शोहदा का अनुवाद गुलशने शहीदाँ का गद्य पद्य-मय संक्षिप्त संस्करण 'गुलेमग़फ़रत' है। इसे दह मजलिस भी कहते हैं और यह सन् १८१२ ई० में प्रकाशित हुआ।

इनायतुल्ला कृत वहारे दानिश के अनुवाद गुलजारे दानिश में
चरित्र वर्णित है। निज़ामी के हफ्तपैकर के ढंग पर उसी नाम
एक मसनवी सन् १८०५—१८०६ ई० में लिखी। इनका एक
और मर्सियों तथा लतीफों का एक एक संग्रह है। एक पुस्तक
लैली व मजनूँ थी, जिसे कॉलेज की नियुक्ति के पहले लिखा
लायल इनकी मृत्यु सन् १८२८ ई० में और स्प्रेंजर १८२३ ई०
लिखते हैं।

काज़िम अली 'जवॉ' दिल्ली के रहनेवाले थे पर लखनऊ आ
थे। यह सन् १८८४ ई० में वहीं थे, जैसा कि गुलजारे इन
ज्ञात होता है, क्योंकि इन्होंने वहाँ से अपनी
काजिम अली जवॉ नवाब इब्राहीम अली खॉ को भेजी थी। सन्
ई० में यह भी कर्नल स्कौट द्वारा कलकत्ते भेजे
जहाँ इनकी भी नियुक्ति हो गई। बेनी नारायण के तजकिर:
जहाँ' में, जो सन् १८१२ ई० की रचना है, इन्हें जीवित लिखा है।
१८१५ ई० की कविसभाओं के समय यह थे, इससे इसके बाद ही इ
मृत्यु हुई होगी। इनके दो पुत्र अयॉ और मुमताज भी प्रसिद्ध थे। २
सन् १८०२ ई० में शकुंतला नाटक के नेवाज कृत भाषा अनुवाद का
में रूपांतर किया और लल्लूलाल जी की सहायता से सिंहासन
लिखी। इन्होंने उर्दू में कुरान का अनुवाद किया और
आधार पर दक्षिण के बहमनी वंश का एक इतिहास लिखा।
अफ्रोज और सौदा की कृति से संकलन कर एक संग्रह
किया। एक बारहमासा भी लिखा है, जिसमें हिंदुओं की रीति
का भी दस्तूरे हिंद के नाम से वर्णन है।

मज़हर अली खॉ का दूसरा नाम मिर्ज़ा लुत्फ अली था
उपनाम 'विला' था। इनके पिता सुलेमान अली खॉ 'विदाद'
विला का जन्म दिल्ली ही में हुआ था। ये मुसहफी और मिर्ज़ा
तपिश के शिष्य थे। गुलशने-बेख़ार में निज़ामुद्दीन 'ममनून' के

लिखे गए हैं। यह भी कॉलेज में नियुक्त हुए और यहाँ इन्होंने कई पुस्तकें लिखीं। पहले सादी के पंदनामे का पद्यानुवाद किया, जो सन् १८०३ ई० में छपा। माधोनल कामकन्दला का क़िस्सा इन्होंने लल्लूलाल जी की सहायता से लिखा जो सन् १८०१ ई० में समाप्त हुआ। बैताल-पच्चीसी का रूपांतर भी इन्होंने किया था। नासिर अली बिलग्रामी वासिती की फारसी रचना हफ्त गुलशन का उर्दू में अनुवाद किया, जिसमें सात परिच्छेदों में उपदेशमय कहानियाँ हैं। फ़ारसी तारीखे-शेरशाही का भी उर्दू में अनुवाद किया। इनका दीवान भी साढ़े तीन सौ पृष्ठों का है, जिसकी एक प्रति इन्होंने सन् १८१० ई० में कॉलेज को भेंट की थी। सन् १८१२ ई० तक यह जीवित थे और कलकत्ते में रहते थे, जैसा बेणीनारायण ने लिखा है।

मज़हर अली ख़ाँ 'विला'

मुंशी निहालचंद के पूर्वज लाहौर के रहने वाले थे पर इनका जन्म दिल्ली ही में हुआ था, इसी से यह लाहौरी और देहलवी दोनों कहलाए। सन् १८०१ ई० में यह कलकत्ते गए और कैप्टेन डेविड रासटमन की सहायता से, जिनसे पहले का जान पहिचान थी, डा० गिलक्राइस्ट के पास पहुँचे। उनकी आज्ञा से फ़ारसी के क़िस्सए ताजुलमुलूक व बकावली का उर्दू अनुवाद कर उसका 'मज़हबे इश्क़' नाम रखा। शेख़ इज़्ज़तुल्ला बंगाली ने इस कहानी को फारसी पद्य में सन् १७१० ई० के लगभग लिखा था। मज़हबे इश्क गद्य में है और बीच बीच में शेर भी दिए हैं। यह मीर शेरअली अफ़सोस द्वारा दुहराए जाने पर सन् १८०३ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस कहानी को लेकर कई कवियों ने लेखनी चलाई है, जिसमें दयाशंकर नसीम का गुलज़ारे नसीम सबसे अधिक प्रसिद्ध है। सन् १७९७ ई० में 'रैहाँ' ने 'खियाबाँ' के नाम से इसे अनूदित किया था। मुहक़्क़म मजलिस के नाम से सन् १७३८ ई० में इसका एक अनुवाद हो चुका था और दखिनी भाषा में

निहालचंद

एक अनुवाद इसके पहले भी सन् १६२६ ई० में हुआ था। इन्होंने एक मसनवी भी लिखी है, जिसे ईदने-मंजूम कहते हैं।

फोर्ट विलियम कॉलेज में हफीजुद्दीन अहमद अध्यायपक थे। सन् १८०३ ई० में इन्होंने अबुल्फ़ज़ल के अयारे-दानिश का 'खिरद-अफ्रोज़' के नाम से अनुवाद किया। इस ग्रंथ का मूल सस्कृत का पंचतंत्र है, जिसके फ़ारसी में कई अनुवाद हुए हैं। फारस के सुप्रसिद्ध बादशाह नौशेरवॉ ने बर्जूयः

हफ़ीज़ुद्दीन अहमद

बज़रक़ नामक विद्वान को भारत में भेजा, जिसने 'राय तलहिद' के समय में 'सोमनाथ के राजा दाबिश्लीम हिंद के लिए रौशनराय बेदपा कृत कलील: दमन:' का पहलवी भाषा में अनुवाद किया। नौशेरवाँ की मृत्यु सन् ५७२ ई० में हुई थी। इसके अनंतर अब्बासी वंश के बादशाह अबू जाफर ने अरबी भाषा में मिकंदी के पुत्र अबुल् हसन अब्दुल्ला से इसका अनुवाद कराया। इसके अनन्तर शाह नसीर सासानी की आज्ञा से फारसी में अनूदित हुआ। रोद के एक कवि ने चतुर्थ अनुवाद गद्य में किया और पॉचवॉ अनुवाद ग़जनवी वंश के मसऊद के पुत्र बहराम की आज्ञा से अबुल् मआनी नसरुल्ला ने किया था। इसका पुनः छठी बार निजामुद्दीन सुहेली की आज्ञा से हुसेन इब्न अली अल्वाएज काशिफी ने 'अनवारे सुहेली' के नाम से अनुवाद किया। इसी का संक्षिप्त रूप अबुल् फजल का 'अयारे-दानिश' है। उर्दू में इसके कई और अनुवाद हुए हैं। एक अपूर्ण अनुवाद मिर्जा मेहदी का है, जो कैप्टेन नौक्स के मुंशी थे। दूसरा इन्हीं की आज्ञा से हेगा खॉ ने किया था पर दोनों अनुवादों मे प्रथम ही अच्छा माना गया। सन् १८२४ ई० में अनवारे सुहेली का एक अनुवाद मदरास से प्रकाशित हुआ, जिसे मुहम्मद इब्राहीम ने किया था। सन् १८३६ ई० में फकीर मुहम्मद खॉ गोया ने इसका अनुवाद 'बोस्ताने हिकमत' के नाम से किया। नवाब मुहम्मद खॉ वासिती ने सन् १८५० ई० में इसका संक्षिप्त अनुवाद किया। भरतपुर वाले पं० बिहारी

ल्लाल जानी 'राजी' ने सन् १८७२ ई० में 'अरजंगे-राजी' के नाम से इसका पद्यानुवाद किया।

इकराम अली खाँ ने सन् १८१० ई० में कप्तान जॉन विलिअम टेलर की आज्ञा से अरबी के एक ग्रंथ 'रिसाल: इख्वानुस्सफा' के तीसरे परिच्छेद का सुगम तथा मुहाविरेदार उर्दू में इकरामअली खां अनुवाद किया। यह अरबी पुस्तक दस मनुष्यों की कृति है, जिसमें पचपन निबंध हैं। जिस परिच्छेद का अनुवाद हुआ है, उसमें मनुष्य और पालतू पशुओं का झगड़ा है और इसका जिन्नों के राजा के सामने न्याय कराया है। प्रत्येक पशु ने पृथक् पृथक् अपनी उपयोगिता तथा स्वामी का बुरा बर्ताव बतलाया है। डा० डाटेरीसी ने पूरे ग्रंथ का अनुवाद सन् १८५९-१८७९ ई० में किया। सन् १८१४ ई० में इकराम अली खाँ कप्तान एब्राहम लौकेट के प्रस्ताव पर रेकार्डकीपर नियत किए गए थे।

बेणी नारायण ने कॉलेज के सेक्रटरी टामस् रोयक की आज्ञा से उर्दू कवियों का एक संग्रह तैयार किया, जिसका नाम दीवाने जहाँ रखा। यह सन् १८१२ ई० में तैयार हुआ। सन् १८११ बेणीनारायण 'जहाँ' ई० में चार गुल्शन नामसे कैशान और फर्खुंद की कहानी का अनुवाद किया, जिसके लिए कप्तान टेलर ने इन्हें पुरस्कृत किया था। शाह रफीउद्दीन कृत तम्बीहुल् गाफिलीन का सन् १८१९ ई० में इन्होंने अनुवाद किया। यह पीछे मुसलमान हो गया और सैयद अहमद का मत ग्रहण किया।

नादिरशाह के साथ सन् १७३९ ई० में नाजिम बेग खाँ 'हिजरी' का पुत्र मिर्जा अली 'लुत्फ' अपने पिता के सहित भारत आकर बस गया। फारसी कविता में पिता से सहायता लेता था अन्य लेखक गण पर उर्दू में किसी को गुरु नहीं बनाया। डाक्टर गिल-क्राइस्ट के बुलाने पर यह यहाँ गया और सन् १८०१ ई० में नवाब इब्राहीम अली खाँ के तजकिरः गुलजारेइब्राहीम की

सहायता से 'गुलशने-हिंद' नामक प्रसिद्ध संग्रह तैयार किया। इसकी एक प्रति हैदराबाद की मूसी नदी की बाढ़ में मौलवी अब्दुल् हक को मिली जिसे इन्होंने प्रकाशित किया है। अमानतुल्ला 'शैदा' ने सन् १८०५ ई० में फारसी के इख़लाक़े-जलाली का जामए-इख़लाक़ के नाम से अनुवाद किया। सन् १८०४ ई० में हिदायतुल् इस्लाम नाम की पुस्तक अरबी और उर्दू भाषा में लिखी। इसका डा० गिलक्राइस्ट ने अंग्रेजी में अनुवाद किया है। इन्होंने उर्दू का एक व्याकरण भी लिखा है। ख़लील अली खाँ 'अश्क' ने सन् १८०१ ई० में डा० गिलक्राइस्ट के आज्ञानुसार अमीर हमजाः के क़िस्सा का चार जिल्दों में अनुवाद किया था। सन् १८०९ ई० में अकबरनामे का अनुवाद वाकिआते-अकबरी के नाम से किया। मिर्ज़ा जान 'तपिश' ने उर्दू महाविरों पर एक पुस्तक लिखी और सन् १८११ ई० में बहारे-दानिश के कुछ अंश का पद्य में अनुवाद किया। इनका कुलियात भी कॉलेज से प्रकाशित हुआ था। जाफर अली खाँ लखनवी, अब्दुल् करीम खाँ 'करीम' देहलवी, मिर्ज़ा मुहम्मद फितरत आदि कई अन्य सज्जन भी वहाँ इसी अनुवाद कार्य पर नियुक्त थे।

अठारहवीं शताब्दी के अंत में दिल्ली में शाह वलीउल्ला नाम के एक प्रसिद्ध विद्वान रहते थे। इन्होंने और इनके पुत्र शाह अब्दुल् अज़ीज ने फारसी में कुरान पर टीका की थी। इनके

कुरान का प्रथम अनुवाद

द्वितीय पुत्र शाह रफीउद्दीन ने कुरान का प्रथम अनुवाद उर्दू में किया। तृतीय पुत्र शाह अब्दुल् कादिर ने, जो अपने वंश में सबसे अधिक विख्यात हुए, सन् १८०१ ई० में दूसरा अनुवाद मौजउल् कुरान के नाम से किया। वहाबी मत के यह प्रधान ग्रंथकार थे। इसकी भाषा सुगम और मुहाविरेदार है। यह अनुवाद इतना उत्तम है कि कितने अन्य अनुवादों के होते हुए भी अब तक इसी का प्रचार है। मौलवी नज़ीर अहमद ने कुरान के अपने अनुवाद में इनकी तथा इनके घराने की बहुत प्रशंसा

की है। शाह अब्दुल् अजीज़ के दूर के भतीजे और इनके पुत्र के दामाद मौलवी इस्माइल हाजी एक विद्वान पुरुष थे, जो सैयद अहमद के मतावलंबी थे। दिल्ली के जामेअमसजिद में यह उपदेश दिया करते थे। अपने पीर की आज्ञा से यह जिहाद (धार्मिक युद्ध) के लिए कोहिस्तान गये। बालाकोट के दुर्ग के पास यह लड़ाई में मारे गए। इन्होंने कई पुस्तकें उर्दू में लिखी हैं, जिनमें तक्रवीअतुल् ईमान बहुत प्रसिद्ध है। तिरगतुल् आईन तक पर एक ग्रंथ है।

जॉन जोशुआ केटालेअर ने डच भाषा में पहला हिंदुस्तानी व्याकरण सन् १७१५ ई० में लिखा। यह बहादुर शाह (सन् १७०७-१७१२) और जहांदार शाह (१७१२ ई०) के दरबार काप व्याकरण में डच एलची होकर आया था। यह व्याकरण सन् १७४३ ई० में डेविड मिल द्वारा प्रकाशित हुआ। इसमें ईसाई मत के संबंध में तथा उपदेश आदि भी लिखे गए हैं। पादरी शुल्ज़ने सन् १७४४ ई० में लैटिन भाषा में ग्रामेटिका हिंदोस्तानिका लिखा, जिसमें नागरी अक्षरों का भी उल्लेख है। मिल के भारतीय अक्षरों और शब्दावली का वर्णन सन् १७४८ ई० में निकला। थार्प जे० एफ० फ्रिट्ज ने अपने ओरीएंटलिस्टर में भारतीय अक्षरों का उल्लेख किया है। पादरी केसिआनो बेलिगट्टी ने सन् १७७१ ई० में 'एल्फाबेटम ब्राह्मनिकम' प्रकाशित किया, जिसमें देशी भाषाओं के शब्द देशी लिपियों ही में प्रथम बार दिए गए हैं। सन् १७७२ ई० में जार्ज हैडले ने एक व्याकरण हिंदुस्तानी में लिखा और सन् १७९६ ई० में दूसरा भी लिखा। इसके अनंतर डा० गिलक्राइस्ट ने कई किताबें लिखीं, जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है। मौलवी अमानतुल्ला के 'सरफ उर्दू' का भी जिक्र आ गया है। कप्तान टेलर तथा डा० हंटर (१७५५-१८१२) ने सन् १८०८ ई० में हिंदुस्तानी अंग्रेजी कोष और फारसी उर्दू कहावतों का संग्रह प्रकाशित किया। सन् १८१० ई० में जॉन शेक्सपीअर ने हिन्दोस्तानी ग्रामर और सन् १८१६ ई० में एक कोष तैयार

किया था। डा० येट्स संस्कृत, हिंदी, बंगाली और हिंदोस्तानी के ज्ञाता थे। इन्होंने अन्य पुस्तकों के सिवा एक हिंदुस्तानी कोष भी तैयार किया था। गर्सिन द तासी (१७९४–१८७८) फ्रेंच था और भारतीय भाषाओं का विख्यात ज्ञाता था। हिंदी, हिदोस्तानी, फारसी तथा अरबी की कई पुस्तकें अनूदित कीं और उनपर पुस्तकें लिखीं। डंकन फोर्बस् (१७९८–१८६८) ने हिदोस्तानी, बंगाली आदि में व्याकरण, कोष आदि कई पुस्तकें लिखीं। फैलों (१८१७–१८८०) बंगाल में इंस्पेक्टर ऑव स्कूल्स था और इसने हिंदोस्तानी-इंगलिश कोष तैयार किया, जिसमें साहित्य से उदाहरण भी दिए गए हैं। जान टौमसन प्लाट्स (१८३०–१९०४) ने उर्दू-अंग्रेजी कोष, फारसी व्याकरण आदि कई ग्रंथ लिखे। ये सब ग्रंथ बहुधा स्कूल तथा कॉलेज के कार्य में आते थे।

इंशा और क़तील के दरियाये लताफत का उल्लेख ऊपर हो चुका है। यह सन् १८०२ ई० में लिखी गई थी। मुहम्मद इब्राहीम मकबा ने तुहफए एलफिंस्टन नाम से एक व्याकरण सन् १८२६ ई० में लिखा। अहमद अली देहलवी ने एक संक्षिप्त व्याकरण 'चश्मये-फैज' के नाम से सन् १८४५ ई० में तैयार किया और देहली कालेज के मौलवी इमाम बख्श सहबाई ने सन् १८४९ ई० में एक व्याकरण लिखा। निसार अली, फैजुल्ला खाँ और मुहम्मद अहसन ने बड़ा व्याकरण चार भाग में लिखा। सन् १८४५ ई० में प्रो० आजाद का जामेउल् क़वायद व्याकरण छपा। सन् १८८० ई० में जामिन अली का कोष छपा, जिसमें उर्दू-हिंदी के शब्द फ़ारसी में समझाए गए हैं। अमीर अहमद ने अमीरुल्लोगात् कोष प्रकाशित किया। सैयद अहमद का प्रसिद्ध बड़ा कोष फर्हंगे-आसफिया बड़े परिश्रम से चार भाग में निजाम हैदराबाद के आश्रय में लिखा गया था। अंजुमने तरक्क़िये उर्दू ने नये ढंग पर हाल ही में एक व्याकरण प्रकाशित किया है और बड़ा कोष तैयार करा रही है।

भारतवर्ष में आए हुए युरोपियन पादरियों ने स्वधर्म के प्रचारार्थ यहाँ की भाषाओं में अपने धर्म-ग्रंथ का अनुवाद कर प्रकाशित किया था। बेंजामिन शुल्ज़ डेनमार्क का निवासी था। सन् १७२८ ई० में यह भारत आया और सन् १७४३ ई० में लौट गया। इसी बीच इसने बाइबिल के कुछ अंश का कई भाषाओं में अनुवाद किया। भारतीय भाषाओं पर भी एक पुस्तक जे. एफ. फ्रिट्ज़ की सहायता से जर्मन भाषा में लिखी।

ईसाइयों का उर्दू द्वारा धर्म प्रचार

कॉलेज के मिर्ज़ा मुहम्मद फितरत आदि मुंशियों ने बाइबिल का अनुवाद किया, जिसे डाक्टर हंटर ने संशोधित कर सन १८०५ ई० में प्रकाशित किया। श्रीरामपूर के रेवरेंड हेनरी मार्टिन (१७८१–१८१२) ने बाइबिल के न्यूटेस्टामेंट का मूल भाषा से फारसी तथा हिन्दोस्तानी में अनुवाद किया। सन् (१८१६–१९) ई० में बाइबिल का संपूर्ण अनुवाद पाँच भागों में श्रीरामपूर के पादरियों ने प्रकाशित किया।

लखनऊ की आरंभिक कुछ गद्य रचनाओं का उल्लेख हो चुका है और उनके बाद उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में कलकत्ते में उर्दू गद्य के प्रसार के लिए जो कुछ प्रयत्न हो चुका था उसकी भी विवेचना की जा चुकी। इस बीच भी लखनऊ में कुछ गद्य रचनाएं हुईं, जिनमें गुलसनोबर, गुल्शने नौ बहार, नौरतन आदि प्रसिद्ध हैं। फक़ीर मुहम्मद खाँ 'गोया' का बोस्ताने हिकमत भी लखनऊ में सन् १८३४ ई० में प्रकाशित हुआ था। यह नासिख़ के शिष्य थे और इन्होंने एक दीवान भी लिखा है। बोस्ताने हिक्मत तीन सौ पृष्ठों से अधिक है और इसकी भाषा क्लिष्ट है। इसमें स्थान स्थान पर बहुत से शैर भी दिए गए हैं। गोया की सन् १८५० ई० में मृत्यु हुई।

लखनऊ के सबसे अधिक प्रसिद्ध उर्दू गद्य लेखक मिर्ज़ा रजब अली सरूर थे। इनका जन्म सन् १२०१ हि० में लखनऊ में हुआ

सरूर

और इक्यासी वर्ष की अवस्था में सन् १८६७ ई० में यह बनारस में मरे। यह बहुत अच्छी लिपि लिखते थे। यह आग़ा 'नवाज़िश' हुसेन के शिष्य थे। ग़ालिब ने गद्य-लेखकों में इन्हें अग्रणी माना है। यह अवध के नवाब की आज्ञा से कानपुर जाकर रहते थे और वहीं प्रसिद्ध उपन्यास 'फ़सानए अजायब' लिखा, जिसमें जानआलम तथा मेहरनिगार की प्रेम कथा है। तिलस्म और जादू इसमें भरा हुआ है। भाषा तुकबंदी से परिपूर्ण है। वाजिद अली शाह के गद्दी पर बैठने पर यह दरबार में नियुक्त हुए। यहीं शाहनामा के संक्षिप्त संस्करण शमशेरे-सानी का उर्दू अनुवाद सरूरे सुलतानी के नाम से किया। इसके अनंतर 'शररे इश्क़' और 'शिगूफ़ए मुहब्बत' दो कहानियाँ लिखीं। वाजिद-अली शाह के गद्दी से उतारे जाने और बड़े बलवे के शांत होने पर यह सन् १८५९ ई० में काशिराज महाराज ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह के यहाँ चले आए और प्रायः अंत तक यहीं रहे। यहाँ गुलज़ारे सरूर, शबिस्ताने सरूर आदि गद्य तथा पद्य रचनाएँ कीं। यह अलवर तथा पटियाला के नरेशों द्वारा भी सम्मानित हुए थे। इन्होंने यात्रा भी बहुत की और इंशाए सरूर नामक इनके पत्र-संग्रह में इनका वर्णन दिया है। इन पत्रों से सरूर के जीवन वृत्तांत तथा समकालीन घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है। आँखों की दवा के लिए यह कलकत्ते जाकर मटियाबुर्ज में वाजिद अली शाह से मिले थे, जहाँ से लौटने पर चार वर्ष बाद सन् १८६७ ई० में मर गए।

रचनाएँ तथा शैली व स्थान

इनका मुख्य ग्रंथ फ़िसानए अजायब है, जो फ़ारसी की विशिष्ट प्रथा के अनुकूल तिलस्मी कहानी है। इसमें सभी कुछ कपोल कल्पना है और तुकबंदी लिए हुए शायराना शैली पर लिखी गई है। यह तर्ज़ मुसज्जा में लिखी गई है और इसमें वर्णनात्मक अंश अधिक है। इसकी भाषा आलंकारिक तथा दुरूह हो गई है। चरित्र-चित्रण साधारण

है और कथोपकथन को इस शैली में स्थान ही क्या मिल सकता है। इसकी नकल पर सन् १२८१ हि० (सन् १८६४ ई०) में सैयद मुहम्मद फ़ख्रुद्दीन हुसेन 'सखुन' देहलवी ने सरोशे-सखुन लिखकर इनकी निन्दा की है, जिसके जवाब में मुहम्मद जाफ़र अली 'शेवन' लखनवी ने सन् १८७२ ई० में तिलस्मे-हैरत लिखा है। इनकी अन्य रचनाएँ भी मुख्यतः इसी मुसज्जा शैली पर लिखी गई हैं। ग़ालिब की आलोचना इन्होंने पुरानी चाल पर की है और सम्राट बहादुर शाह के, जो उस समय युवराज थे विवाहोपलक्ष में 'नस्र नस्र नसार' लिखा था। उर्दू साहित्येतिहास में इनका स्थान अमर है और अपने क्षेत्र में, चाहे वह संकुचित ही हो, यह अद्वितीय हैं।

महाकवि ग़ालिब ने फ़ारसी तथा उर्दू दोनों में गद्य में भी बहुत लिखा है। उर्दू में इनके दो पत्र संग्रह 'उद्‌दुए मुअल्ला' तथा 'ऊदे हिंदी' हैं, जो बहुत प्रसिद्ध हैं। इनकी भाषा सरल है तथा पत्र लेखक ग़ालिब तत्कालीन तुकबंदी से स्वतंत्र है। पुरानी प्रथा के लंबे इलक़ाब, आदाब को इन्होंने साफ़ जवाब दे दिया था। इस सादगी पर भी भाषा में सौष्ठव बना हुआ है और उसमें विनोद की भी ऐसी मात्रा रहती थी कि ये संग्रह पढ़ते ही बनते हैं। अपने अनुभव भी देने के कारण इनके जीवनवृत्त पर भी प्रकाश पड़ता है। यह स्वभाव से विनोदप्रिय थे, इसलिए जहाँ करुणापूर्ण बात भी लिखी है, उसके भी अंतर्गत विनोद की झलक आ जाती है। इन पत्रों में यह हृदय की बात इतना स्पष्टता तथा सरलता से कहते थे कि उसका असर अवश्य पड़ता था। इन कारणों से इनकी एक खास शैली बन गई, जिसका बाद को पत्र-लेखन पर बहुत असर पड़ा। इनके पत्रों में तत्कालीन घटनाओं का भी वर्णन मिलता है, जिससे इतिहास-लेखन में सहायता पहुँच सकती है।

इन दो के सिवा ग़ालिब ने कुछ भूमिकाएँ तथा आलोचनाएँ भी लिखी हैं और बुर्हानक़ाता लुग़त की आलोचना पर प्रत्युत्तर में क़ातए

बुर्हान, तेग़ेतेज और नामए ग़ालिब लिखा है। लतायफ़े ग़ालिब में कुछ कहानियाँ हैं। भूमिका आदि लिखने में यह तुकबंदी से अपने को नहीं बचा सके क्योंकि ऐसा न करने से उन लोगों को कष्ट होता, जिनकी रचनाओं पर ये अनुवचन लिखने बैठे थे। पर इनमें इसी कारण ग़ालिब की स्वाभाविक सरलता, विनोद, अनुभूति आदि का अभाव सा हो जाता था।

वहाबी मत फारस से प्रचलित होकर हिंदुस्तान आ पहुँचा था और क्रमशः इसका प्रभाव बढ़ रहा था। शाह अब्दुल् अज़ीज़ और अब्दुल् कादिर दो भाई इस मत में दीक्षित हुए और द्वितीय ने कुरान का उर्दू अनुवाद किया तथा प्रथम ने तफ़सीरे अज़ीज़िया नामक टीका लिखी। सैयद अहमद, जो इस मत का भारत में मुख्य प्रचारक हुआ, इन्हीं दोनों का शिष्य था। इसका जन्म सन् १८७२ ई० में दिल्ली में हुआ। यह कुछ दिन अमीर खाँ की सेना में एक सवार रहा। वहाबी मत ग्रहण करने पर यह सन् १८८० ई० में कलकत्ते गया और वहाँ से मक्का होते हुए क़ुस्तुनतुनिया गया तथा छ वर्ष उधर घूमने के बाद सन् १८२६ ई० में पंजाब में प्रकट हुआ। इसने सिक्खों के विरुद्ध धर्म-युद्ध घोषित किया और अपने मतावलंबियों के साथ पेशावर गया, जो चालीस सहस्र के लगभग थे। पेशावर पर इसका कुछ समय के लिए अधिकार हो गया पर अफगानों के साथ न देने पर यह भागा और सिखों द्वारा मारा गया। इस मत के प्रचार के लिए अनेक छोटी बड़ी पुस्तकें उर्दू में लिखी गईं, जिनकी भाषा सरल तथा जनसाधारण के लिए सुपाठ्य थी।

वहाबी मत का प्रभाव

आरंभ में कलकत्ते में फारसी-उर्दू के लिए जो छापाखाना खुला वह ईसवी अठारहवीं शताब्दीके प्रायः अंतमें खुला था। इसमें फारसी तथा उर्दू दोनों भाषाओं की पुस्तकें छपीं पर उन पर इतना अधिक व्यय हुआ कि वह प्रकाशन कार्य रोक देना पड़ा। अन्य सभी भारतीय

उर्दू प्रचार के अन्य साधन

भाषाओं के लिए टाइप सहज में बन गए पर फारसी लिपि के लिए बड़ी कठिनाई से बन सके। इसके बाद उन्नीसवीं शताब्दी के प्रायः मध्य में दिल्ली तथा लखनऊ में प्रेस खुले और क्रमशः पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य बढ़ने लगा। उर्दू के प्रचार में इससे बहुत सहायता मिली। इन प्रेसों के खुल जाने पर समाचार तथा मासिक पत्र भी निकलने लगे। सन् १८३२ ई० में भारत सर्कार ने फारसी के स्थान पर सुगमता की दृष्टि से देशी भाषाएँ चलाई पर उन प्रांतों के दुर्भाग्य से जहाँ के कुछ लोगों में उर्दू बोली जाती थी, उर्दू सर्कारी भाषा बना दी गई। इससे उर्दू का प्रचार बढ़ा पर जिस सुगमता की दृष्टि से यह परिवर्तन किया गया था वह नहीं हुआ। लिपि वही रही, फारसी, अरबी की शब्दावली ज्यों की त्यों रही केवल कुछ क्रिया आदि के शब्द हिंदी हो गए। अंग्रेजी भाषा तथा अंग्रेजों के संसर्ग का उर्दू पर काफी असर पड़ा और सर सैयद अहमद आदि विद्वानों ने इस प्रभाव से विशेष लाभ उठाया।

सर सैयद अहमद

इस सुप्रसिद्ध विद्वान, समाज सुधारक, नेता, व्याख्याता, संपादक, नीतिज्ञ तथा दार्शनिक का जन्म १७ अक्तूबर सन् १८१७ ई० को दिल्ली में हुआ था। इनके पूर्वज अरब से फारस में और वहाँ से शाहजहाँ के समय में भारत में आकर बस गए थे। इनके दादा मीर हादी और इनके पिता मीर मुहम्मद तकी खाँ मुगल दरबार में सरदार थे और इनकी माता अजीजुन्निसा सुशिक्षिता विदुषी थीं, जिन्होंने बचपन में इन्हें स्वयं शिक्षा दी थी। इसके अनंतर भी बारह वर्ष की अवस्था तक ये बराबर अपना पाठ रात्रि को इन्हें सुनाया करते थे। सन् १८३६ ई० में पिता की मृत्यु के दूसरे वर्ष पढ़ना लिखना छोड़कर इन्होंने ब्रिटिश गवर्नमेंट की नौकरी कर ली। पहले सदर अमीन के दफ्तर में सरिश्तेदार हुए। सन् १८३९ ई० में आगरे की कमिश्नरी में नायब मुंशी हुए और दो वर्ष बाद फतेहपुर सीकरी में मुंसिफ नियुक्त हुए।

सन् १८४६ ई० में दिल्ली लौटकर सदर अमीन हुए, जहाँ इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक आसार-उस्सनादीद लिखी, जिसमें पुरानी दिल्लियों की ऐतिहासिक इमारतों, खँडहरों आदि के वर्णन खोज और परिश्रम के साथ दिया है। गर्सिन द तासीने फरांससी भाषा में इसका उल्था प्रकाशित किया, जिससे इंगलैंड में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा हुई और लंडन के रॉयल एशाटिक सोसाइटी ने इन्हें अपना औनरेरी सभासद बनाया। सन् १८५० ई० में राहतक के और सन् १८५५ ई० में बिजनौर के सब-जज हुए। यह बिजनौर ही में थे जब बड़ा बलवा हुआ था। इसी बीच इन्होंने बिजनौर का इतिहास लिखा। विद्रोह में अंग्रेजों की सहायता करने से पुरस्कार में खिलअत, मोती की माला, तलवार आदि के साथ २००) रु० की मासिक वृत्ति आजन्म के लिए तथा इनके ज्येष्ठ पुत्र को भी जन्म भर के लिए मिली थी। सन् १८५८ ई० में शांति स्थापित होने पर यह पुनः बिजनौर अपने पद पर लौट आए और इसी वर्ष इन्होंने एक पुस्तक 'विद्रोह के कारण' (असबाबे-बग़ावते हिंद) नाम की लिखी जिसमें विद्रोह होने के कारण तथा वृत्तांत दिए हैं। सन् १८७२ ई० में इसका अनुवाद सर औकलैंड कालविन तथा ग्रेहम साहब ने किया। दूसरी पुस्तक 'भारत के राजभक्त मुसलमान' के नाम से लिखी जिसमें अपनी जाति के इस कलंक को, कि मुसलमानों ही ने विद्रोह में अधिक उपद्रव किया था, मिटाने का प्रयत्न करते हुए उनकी राजभक्ति का परिचय दिया है। सन् १८५८ ई० में यह मुरादाबाद बदल दिए गए जहाँ इन्होंने सन् १८६१ ई० में एक स्कूल स्थापित किया। सन् १८६२ ई० में यह गाजीपुर भेजे गए। यहाँ भी इन्होंने एक स्कूल स्थापित किया और शिक्षा के उपयुक्त पुस्तकों के अभाव की पूर्ति के लिए इन्होंने सन् १८६४ ई० में यहाँ एक समिति स्थापित की, जिसका उद्देश्य था कि अंग्रेजी से उर्दू में पुस्तकें अनूदित की जायँ। यही समिति उसी वर्ष इनके साथ अलीगढ़ गई, जहाँ इनकी नियुक्ति हुई थी और अलीगढ़

वैज्ञानिक समिति के नाम से प्रसिद्ध हुई। यहीं से इन्होंने एक पत्र निकाला, जिसके यह स्वयं बहुत दिनों तक संपादक रहे। सन् १७६६ ई० में बड़े लाट लॉर्ड लारेंस ने शिक्षा प्रचार के इनके प्रयत्न से प्रसन्न होकर इन्हें सुवर्ण पदक तथा मेकॉले की ग्रथावली उपहार में दी थी। इसके दूसरे वर्ष यह बनारस आए। शिक्षा प्रचार की धुन लगा ही थी। इसी समय ऑक्सफोर्ड और केम्ब्रिज की शिक्षा-पद्धति से परिचित होने के लिए बावन वर्ष की अवस्था म यह अपने दोनों पुत्रों के साथ सन् १८६९ ई० में इंगलैंड गए। वहाँ इनका अच्छा आदर हुआ और इन्होंने सर विलिअम म्योर रचित मुहम्मद के जीवन चरित की साग्र आलोचना लिखी। यहा इन्हें सी० एस० आई० पदवी प्राप्त हुई और सन् १८७० ई० में यह भारत लौटकर पुन बनारस में सब-जज हुए। इनका लिखा 'मुहम्मद का जीवन चरित' इसी मय छप रहा था, जिसका कुछ अंश अंग्रेजी में अनुवाद करा कर प्रकाशित किया। इसमें दिखलाया गया है कि शाक द्वारा प्रचार किए जानेवाले धर्मों में मुसलमान धर्म ने क्रिस्तान धम से अपेक्षाकृत कम बल का प्रयोग किया है। इसी वर्ष इन्होंने मुसलमान 'सोशल रिफॉमर' (तहज़ीबुल् इखलाक) नामक पत्र निकाला, जिसमें धार्मिक सुधार विषयक अनेक लेख बराबर प्रकाशित होते रहे। मुहसिनुल् मुल्क विक्रारुल् मुल्क मौलवी चिराग़ अली आदि भी लेख लिखते थे। परतु अनवरुल् आफ़ाक़ तथा नूरुल् अनवर पत्र इसका विरोध करने के लिए निकाले गए। अवध पंच में इनका व्यंग चित्र प्रकाशित किया गया था। विरोधी पक्ष इन्हें नेचरयः, शैतानों का सेनापति आदि कहता था। इन्हें मार डालने की धमकी दी गई पर यह अपने पथ से न डिगे। सन् १८७५ ई० की २४ मई को अलीगढ़ कालेज स्थापित हुआ और उसके अनंतर इनका ध्यान इसी ओर रहने लगा। इसके दूसरे वर्ष यह पेंशन लेकर अलीगढ़ आ रहे। बड़े लाट के लेजिस्लेटिव् कौंसिल के सन् १८७८ ई० तक सभासद रहे।

सन् १८८८ ई० में इन्हें के० सी० एस० आई० की उपाधि मिली। सन् १८९८ ई० के २७ मार्च को इनकी मृत्यु हुई। इनके दो पुत्र थे—ज्येष्ठ सैयद हामिद पुलिस सुपरिंटेंडेंट हुए थे पर इन्हीं के सामने उनकी मृत्यु हो गई और दूसरे सैयद महमूद प्रसिद्ध बैरिस्टर और इलाहाबाद के जज हुए।

इनकी रचनाओं में आसार-उस्सनादीद, बिजनौर का इतिहास, असबाबे बगावते हिंद, मुसल्मानों की राजभक्ति आदि का उल्लेख हो चुका है। इन्होंने बहुत सी छोटी-छोटी पुस्तकाएँ लिखी हैं, जैसे जलाउल् कलूब (१८४२ ई०), तुहफ़ए हसन (१८४४), तहसील फी जैरुल् सायल (१८४४, फवायदुल् अफ़कार (१८४६), क़ौलमतीन (१८४९), कलामतुल् हक (१८४९), राहेसुन्नत (१८५०); सिलसिलतुल् मुल्क (१८५२) और कीमयए सआदत (१८५३)। सन् १८५५ ई० में इन्होंने आईन अकबरी का तथा उसके बाद बार्नी के तारीखे फीरोज-शाही का संपादन किया था। सन् १८६० ई० में बाइबिल पर तबै-अनुल्कलाम नाम की टिप्पणी लिखी जिस पर बहुत आंदोलन मचा था। सन् १८६६ ई० में रिसालए अखमे तुआम अहले किताब लिखा जिस पर कट्टर मुसलमानों ने उस समय बहुत विरोध किया था। इनका सबसे बड़ा ग्रंथ तफसीरुल कुरान है, जिसकी सात जिल्दें लिखी गई थीं। इतने पर भी यह अपूर्ण है। यौवनावस्था में इनका ग़ालिब, सहबाई, आज़ुर्दः, शेफ्तः, मोमिन आदि प्रसिद्ध कवियों का साथ रहा था और यह कविसभाओं में प्रायः जाते थे। इससे उस समय यह भी कुछ कविता करने लगे थे, जिसमें अपना उपनाम 'आही' रखते थे। इनकी लेखनशैली बड़ी सुगम, सरल तथा प्रभावोत्पादक थी। इनके लेख गद्य काव्य भी न थे और न पूर्ण पांडित्य ही के परि-चायक थे पर सीधी सादी और हृदयग्राही भाषा में लिखे गए थे, जिससे पाठकों पर उसका अवश्य ही असर होता था। पुराने समय की तुक

इनकी रचनाएँ तथा शैली

भरी आलंकारिक भाषा को छोड़कर इन्होंने अपने भाव साधारण बोलचाल की भाषा में प्रकट किए हैं। भाषा पर इनका अधिकार पूरा था, जिससे यह हर प्रकार के विचार सरल भाषा में प्रकट कर सके हैं। क्लिष्ट से क्लिष्ट अंश को अपने प्रसाद गुण पूर्ण भाषा में अच्छी तरह समझा देते थे और जिस विषय को लेते थे उसके दोनों पक्ष की पूरी आलोचना करते थे। जिस प्रकार ग़ालिब की शैली का प्रभाव इन पर पड़ा था उसी प्रकार इनकी शैली का प्रभाव तत्कालीन लेखकों पर पूरी तरह पड़ा है। पत्र-लेखनकला तो ईश्वरप्रदत्त थी तथा निर्भीकता-पूर्ण तीव्र और स्वतंत्र आलोचना करने की शैली के यह पोषक थे। हाली ने इनकी विशद जीवनी लिखा है, जिसमें इनकी अच्छी प्रशंसा की है।

उर्दू साहित्य के इतिहास में सर सैयद अहमद खाँ का स्थान अद्वितीय है। इनके आकर्षक व्यक्तित्व ने अपने समकालीन योग्य विद्वानों तथा कवियों को अपनी ओर आकर्षित कर उर्दू साहित्य पर इस कार्य में लगा दिया था, जो उनके भावावलियों इनका प्रभाव के तथा भाषा के उत्थान का कारण था। इनमें नवाब मुहसिनुल् मुल्क, चिराग़ अली, नज़ीर अहमद, ज़काउल्ला, शिबली और हाली प्रधान थे। इनमें प्रथम तीन साहित्य तथा विवादास्पद विषयों पर लिखते थे, तीसरे और चौथे इतिहासज्ञ थे, पाँचवें गल्प आदि छोटी-छोटी उपदेशमय कहानी शिक्षा के लिए लिखते थे और छठे कवि थे। इस प्रकार सर सैयद अपनी मातृभाषा ही को उन्नति का मूल मंत्र मानकर उसी के उत्थान में आजन्म प्रयत्नशील रहे।

मीर मेहदी अली का जन्म सन् १८३५ ई० में इटावे में हुआ था और यह दस रुपये महीने पर कंपनी में मुंशी हुए। मुहसिनुल्मुल्क क्रमशः उन्नति करते हुए अहलमद, सरिश्तेदार और सन् १८६१ ई० में तहसीलदार हुए। दो वर्ष के

अनंतर डिप्टी कलेक्टरी की परीक्षा में प्रथम हुए। सन् १८६३ ई० में मिर्ज़ापुर में डिप्टी कलक्टर हुए। सन् १८७४ ई० में सर सालार जंग ने इनकी योग्यता सुनकर इन्हें हैदराबाद बुला लिया और तहसील के विभाग का प्रधान अध्यक्ष नियत कर दिया। दो वर्ष बाद उसी विभाग के यह मंत्री हुए। सन् १८८४ ई० में यह राजकोष तथा नैतिक विभाग में मंत्री हुए और मुनीर नवाब जंग मुहसिनुल्मुल्क पदवी मिली। हैदराबाद में फारसी के स्थान पर उर्दू को दरबार की भाषा बनाने में इन्हीं का श्रेय अधिक है। यह इंगलैंड गए और वहाँ से लौटने पर आठ-सौ रुपये मासिक पेंशन लेकर यह अलीगढ़ चले आए। यहाँ इन्होंने तहज़ीबुल् इख़लाक़ को पुनः चलाया और अलीगढ़ समिति के गज़ेट को उन्नति दी। अलीगढ़ कॉलेज के यह जेनरल सेक्रेटरी रहे और कॉलेज पर धनाभाव के कारण आई हुई घोर विपत्ति के समय बड़ी सहायता की। सन् १९०७ ई० में इनकी मृत्यु हुई।

आरंभ में यह सर सैयद के विरोधी थे और सन् १८६३ ई० के लेख में उन्हें नास्तिक तक कहा था पर क्रमशः उनके लेखों का असर इन पर पड़ता गया और यह उनके समर्थक हो गए।

लेख और लेखन शैली

सन १८७० ई० में तहज़ीबुल् इख़लाक़ के आरंभ होने पर यह उसमे बराबर लेख देने लगे और अपनी विद्वत्ता के कारण सर सैयद के लेखों के समर्थन में पुराने ग्रंथों के हवाले देकर उनकी पुष्टि करते थे। इनके लेख प्रायः ऐतिहासिक और धार्मिक होते थे इनका ध्येय स्वजातियों के नैतिक, सामाजिक, धार्मिक और विद्याविषयक उत्थान की ओर ही रहता था। हाली, शिबली आदि ने इनकी उचित प्रशंसा की है। इनकी लेखन-शैली आरंभ में फारसी की प्रथा पर आडंबरपूर्ण थी पर अवस्था के साथ-साथ उसमें सारल्य, सौकुमार्य तथा प्रसाद गुण बढ़ता गया। अलंकारादि का समावेश भाव तथा विचार का उन्नायक ही होता था और अर्थ को आच्छादित नहीं करता था। इनके लेखों के संग्रह छपे

हैं। इनका एक स्वतंत्र ग्रंथ 'आयात बयानात' इस्लाम धर्म पर है। इन्हीं के कहने पर जफर अली ने 'धर्म और विज्ञान के युद्ध का इतिहास' नामक अंग्रेजी ग्रंथ का उर्दू में अनुवाद किया।

मुश्ताक हुसेन नवाब विकारुलमुल्क अमरोहावाले शेख फजल हुसेन के पुत्र थे। यह आरंभ में किसी स्कूल में शिक्षक थे और इसके अनंतर सरकारी नौकरी में आए। यह सरिश्तेदार तथा मुंसरिम हो गए। यह इसी समय सर सैयद अहमद के सहयोगी हो गए और उनकी संस्तुति पर हैदराबाद में नायब नाजिम नियुक्त हो गए। कुछ दिन बीच में यह इस कार्य से अलग किए गए थे पर इन्होंने अपना काम इतनी सफाई से किया था कि इन्हें निजाम ने प्रसन्न होकर विकारुद्दौला विकारुल्मुल्क की पदवी दी। यहाँ के कार्य से सन् १८९१ ई० में अवकाश ग्रहण कर यह अलीगढ़ चले आए और अंत तक कालिज की सेवा में लगे रहे। यह मार्एटिफक सोसाइटी के सदस्य तथा तहजीबुल इखलाक पत्र के मैनेजर भी थे। इन्होंने इस पत्र में बहुत से लेख लिखे थे और 'सरगुजश्त नेपोलियन' में फ्रांस के राज्यविप्लव तथा नपोलियन का इतिहास दिया है। यह प्रायः अठहत्तर वर्ष की अवस्था में सन् १९१७ ई० में मरे।

मौलवी चिरागअली नवाब आजमयार जंग का जन्म सन् १८४४ ई० में हुआ था और यह मुहम्मद बख्श के पुत्र थे। साधारण शिक्षा समाप्त कर यह बस्ती के सरकारी खजाने में मुंसरिम होते हुए तहसीलदार हो गए। सर सैयद अहमद खाँ की कृपा से इन्हें भी हैदराबाद में नौकरी मिल गई और नवाब मुहसिनुलमुल्क के मालविभाग के नायब सेक्रेटरी हो गए। यहीं इनकी सन् १८९० ई० में मृत्यु हो गई। यह बड़े अध्ययनशील थे और स्वधर्म-संबंधी तर्क वितर्क में विशेष भाग लेते थे। ये तहजीबुल इखलाक में धर्म संबंधी लेख भी बराबर लिखते थे जो प्रभावशाली

होते थे। तहकीकुल् जिहाद, रसूल बर हक, इसलाम की दुनियाबी बरकतें आदि कई पुस्तकें लिखीं। इनके पत्रों का एक संग्रह भी छपा है।

आजाद

शम्शुलूउल्मा प्रोफेसर मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' के पिता मौलवी बाक़र अली 'ज़ौक' के मित्र और उत्तरीभारत के पत्रकारों के अग्रणियों में थे। आज़ाद का जन्म दिल्ली में हुआ और जौक़ के निरीक्षण में इन्हें आरंभिक शिक्षा मिली। यही इनके काव्य-गुरु थे। जौक ने इन्हें समकालीन सुकवियों, धनवानों तथा कविसभाओं से परिचित करा दिया, जिससे इनकी कवित्व-शक्ति को बहुत कुछ सहायता मिली। सन् १८५७ ई० के विद्रोह में इनकी तथा इनके गुरु की कृतियों का संग्रह नष्ट हो गया और इनके पिता मारे गए। यह घर छोड़कर परिवार सहित देशत्यागी भी हुए और घूमते फ़िरते लखनऊ पहुँचे पर अत में लाहौर पहुँच कर इनका भाग्य खुला। इनके मित्र रज्जब अली ने छोटे लाट के मीर मुशी पंडित मनफूल से इनका परिचय करा दिया, जिन्होंने शिक्षा विभाग में इन्हे पंद्रह रुपये की नौकरी दिला दी। लाहौर युनिवर्सिटी के डाइरेक्टर मेजर फुलर फारसी तथा अरबी के ज्ञाता थे और आजाद की योग्यता से परिचित होकर उन्हे उर्दू तथा फारसो की रीडरें लिखने की आज्ञा दी। कर्नल हॉलरायड ने 'क़सिसे हिंद' का दूसरा भाग इनसे लिखवाया, जिसके प्रथम और तृतीय भाग प्यारेलाल 'आशोब' के लिखे हुए थे। अंजुमने पंजाब के यही प्रधान संस्थापक थे और इन्ही के प्रयत्न से उसमें कवि-सभा छोटे लाट के आश्रय में आरंभ हुई। यह कई वर्ष तक उसके मंत्री रहे। शिक्षा में तथा अफसरों में उर्दूप्रचार का इन्होंने विशेष प्रयत्न किया। सन् १८६५ ई० में यह सरकारी काम से कलकत्ते गए और कुछ दिन के लिए पंडित मनफूल के साथ काबुल और बुखारा गए। दूसरी बार सन् १८८३ ई० में यह फिर फारस गए थे। फारसी के यह विद्वान थे और दो बार फारस जाने से इन्हे प्रचलित फारसी सीखने का अच्छा सुयोग मिला। कर्नल हालरायड ने

सरकारी पत्र 'अतालीके पंजाब' का इन्हें सहायक संपादक नियुक्त किया, जिसके प्रधान संपादक राय साहेब प्यारेलाल 'आशोब' थे। जब यह पत्र बंद किया गया और 'पंजाब मैगेज़ीन' निकलने लगी तब भी यह उसी पद पर रहे। इसके अनंतर यह लाहौर कालेज में अरबी और फ़ारसी के प्रोफेसर नियुक्त हुए। सन् १८८० ई० में इन्हें शम्सुल् उल्मा की उपाधि मिली, जिसके दो वर्ष अनंतर यह मानसिक परिश्रम के आधिक्य से पागल हो गए और इसी अवस्था में लगभग इक्कीस वर्ष बिताकर २२ जून, सन् १९१० ई० को मर गए।

उर्दू की प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय और फ़ारसी की प्रथम तथा द्वितीय रीडरें और बालोपयोगी 'क़वायदे उर्दू' लिखा। इनकी भाषा बड़ी ही सुगम है। 'क़सिसे हिंद' ऐतिहासिक कहानियों का संग्रह है, जिसकी भाषा बच्चों तथा विद्वानों दोनों ही के लिये पठनीय है। इनकी श्रेष्ठ रचना

रचनाएँ

'आबेहयात' है, जिसमें वली से लेकर अनीस और दबीर तक के प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवियों की जीवनियाँ हैं और उनकी कविताएँ भी संकलित की गई हैं। इसके पहले के तज़किरों और गुलदस्तों में केवल कवियों के नाम आदि का उल्लेख मात्र और कुछ कविता का संकलन रहता था। आबेहयात में पहले पहल विस्तृत जीवनी तथा मार्मिक आलोचना भी गई है और इसकी लेखन शैली भी इतनी सजीव और अच्छी है कि यह उर्दू साहित्य का स्थायी संपत्ति हो गई है। इसकी लेखनशैली न आडंबरपूर्ण होने से क्लिष्ट हो गई है और न बिलकुल सादी साधारण ही है। इतिहास की प्रायः सभी पुस्तकों के कुछ अंशों पर अन्वेषण या खोज हरताल फेरता रहता है पर इससे पूर्ववर्ती इतिहास-लेखक का महत्ता कम नहीं होती। आज़ाद की लिखी कुछ बातें अशुद्ध हो सकती हैं पर इनके लिए उनको दोष देना अनुचित है। समकालीन कवियों में पक्षपात या विरोध का भाव किसी खास संबंध के कारण आ ही जाता है जैसा ज़ौक़ और ग़ालिब

के विषय में कहा जाता है पर यह स्वाभाविक है। वास्तव में उर्दू में आलोचना का आरंभ इन्हीं के साथ हुआ है। सन् १८८० ई० में इन्होंने 'नैरंगेख्याल' दो भागों में लिखा, जो उर्दू साहित्य में नए ढंग की पुस्तक है। यह संस्कृत के कथासरित्सागर के ढंग पर छोटा ग्रंथ है, जो डा० लीटर के उत्साह दिलाने से लिखा गया था। यह ग्रीक कथानकों के आधार पर आज़ाद की आज़ादाना शैली पर लिखा गया है। 'सखुनदानेफारस' में फारसी साहित्य का कुछ इतिहास तथा फारसी और संस्कृत भाषाओं के शब्द-साम्य की विवेचना है। फारस यात्रा के फलस्वरूप वहाँ के व्यवहारादि का भी उल्लेख है। 'कंदे फारसी' भी इसी प्रकार का छोटा सा ग्रंथ है, जिससे प्रचलित फारसी भाषा सीखने में सहायता मिलती है 'नसीहत का करनफूल' स्त्रीशिक्षा विषयक पुस्तिका है, जिसके लाभ-हानि की पति-पत्नी की बातचीत द्वारा विवेचना की गई है। आजाद ने 'ज़ौक' के दीवान का जो संपादन किया है, वह बड़े ही परिश्रम और योग्यता का कार्य है। किस प्रकार यह संग्रह बलवे में गुम हो गया और कैसे यह पुनः संगृहीत हुआ था, इसकी करुणकथा इन्होंने स्वयं आबेहयात में लिखी है। इसकी भूमिका बड़ी मार्मिकता से लिखी गई है और स्थान स्थान पर टिप्पणियाँ भी हैं कि अमुक शैर या ग़जल अमुक स्थान या स्थिति में कहा गया था। इससे ग्रंथ की उपादेयता बढ़ गई है। 'दरबारे अकबरी' एक बड़ा ग्रंथ है, जिसमें सम्राट् अकबर का संक्षिप्त जीवन-चरित्र तथा उनके बड़े बड़े दरबारियों और मंसबदारों की जीवनियाँ दी गई हैं। यह ग्रंथ इतिहास की दृष्टि से उतने महत्व का नहीं है, जितना भाषा की दृष्टि से। पागलपन की अवस्था में जब इनका मस्तिष्क कुछ समय के लिए परिष्कृत हो गया था तब भी यह कुछ लिखा करते थे, जिसके फलस्वरूप 'सपाक नमाक' और 'जानवरिस्तान' दो पुस्तकें हैं। प्रथम में धार्मिक निबंध हैं और दूसरे में जानवरों तथा उनके शब्दों पर विचार हैं। इनकी अन्य दो पुस्तकें 'निगारिस्ताने फारस'

और 'अस्दूयात' हैं, जो इनकी मृत्यु के अनंतर प्रकाशित हुई। रोदकी से लेकर जामी तक के फारसी के लगभग तीस कवियों की संक्षिप्त जीवनी और कविता का कुछ संकलन निगारिस्तान में हुआ है।

लेखन शैली और इतिहास में स्थान

आज़ाद की प्रसिद्धि का सबसे बड़ा आधार उनके गद्य लेखन की शैली है, जो उनकी निज की है। उससे उत्तम न अभी तक कोई लिख सका है और न भविष्य ही में ऐसा होने की आशा है। भारतीय भाषा उर्दू में विदेशीय भाषा का पुट देना इन्हें अरुचिकर था इसी से इनके गद्य में क्लिष्टता नहीं आने पाई। घुमा फिरा कर तथा आलंकारिक भाषा लिखने पर भी प्रसाद गुण की कमी न आने देना इन्हीं का अंश है। ये अपनी भाषा साँचे में ढालने नहीं बैठते थे प्रत्युत यह आप से आप इसी प्रकार इनकी लेखनी से निकलती चली आती थी। यह विनोदप्रिय तथा मिलनसार थे और इनमें कट्टरपन की मात्रा भी अधिक नहीं थी। गल्प-विनोद करते हुए ये झट कोपित हो जाते थे पर शीघ्र ही प्रसन्न भी हो जाते थे। इतने पर भी इनके समकालीन विद्वानों ने इनकी खूब प्रशंसा की है। हाली ने कविता को नया ढंग देने का इन्हें उन्नायक माना है। शिबली ने तो 'उर्दू का खुदा' ही इन्हें कह डाला है। नज़ीर अहमद और ज़काउल्ला खाँ ने भी प्रशंसा की है। उर्दू साहित्य के वर्तमान काल के सर्वप्रसिद्ध विद्वानों में इनकी गणना है। पत्र संपादक, पंजाब में शिक्षा के प्रवर्तक, मार्मिक समालोचक, सुकवि तथा सुलेखक होते हुए भी यह सफल प्रोफेसर और भाषाविद् हो सके थे। वास्तव में उर्दू साहित्येतिहास में इनका स्थान अनूठा और उच्च है।

सन् १८९८ ई० में हाली ने 'तिरियाके मसमूम' (अर्थात् जिसे विष दिया गया है उसके लिए दवा) नामक पुस्तक पानीपत के एक मुसलमान द्वारा इस्लाम धर्म पर किए गए आक्षेपों के उत्तर में लिखा था, जो ईसाई हो गया था। शृंगारशास्त्र की एक अरबी पुस्तक का

हाली की गद्य रचनाएँ

'इल्मे तबकातुल् अर्ज़' के नाम से उर्दू में अनुवाद किया जो फ़ारसी पुस्तक का अनुवाद मात्र था। 'मजालिसुन्निसा' नामक पुस्तक दो भागों में सन् १८७४ ई० में बालिकाओं के लिए लिखा, जिसकी उपयोगिता पर प्रसन्न होकर लार्ड नार्थब्रूक ने चार सौ रुपये पुरस्कार दिए थे। ये तीनों इनकी आरंभिक रचनाएँ हैं और सरल सुगम भाषा में लिखी गई हैं। 'हयाते-सादी' अर्थात् शेख शादी शीराजी की जीवनी प्रथम पुस्तक है, जिसके लेखनशैली की प्रौढ़ता तथा चरित्र, यात्रा और कृतियों की आलोचना की योग्यता ने इन्हें तत्कालीन गद्यलेखकों की प्रथम पक्ति में ला बिठाया। यह सन् १८८६ ई० की रचना है। अपने दीवान के आरभ में इन्होंने लगभग दो सो पृष्ठों की भूमिका लिखी है, जिसमें कविता और कवित्व की विस्तृत विवेचना की गई है। इसमें जहाँ ग्रीक, रोमन, अंग्रेजी तथा अरबी की कविता पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न है, वहाँ संस्कृत और हिंदी का नाम भी नहीं है। उर्दू में इतनी विस्तृत तथा आलोचनात्मक भूमिका लिखने का इन्हीं का प्रथम प्रयास है, जो अब एक प्रथा सी हो रही है। सन् १८९६ ई० में इनका 'यादगारे ग़ालिब' तैयार हुआ, जिसमें ग़ालिब का जीवनचरित्र और उनकी कृतियों की आलोचना है। गालिब के विषय की प्रायः सभी ज्ञातव्य बातों का, उनके परिहास, विनोद आदि का, समावेश हो गया है। ग़ालिब की उर्दू तथा फ़ारसी के गद्यपद्य सभी की आलोचनात्मक विवेचना है। जिस प्रकार ज़ौक़ के विषय में आजाद का बिलकुल निष्पक्ष होना अस्वाभाविक था, उसी प्रकार इनके लिए अपने उस्ताद ग़ालिब के लिए होना था। दोनों ही अपने अपने उस्तादों को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे। 'हयाते जावेद' में सर सैयद अहमद का जीवन-चरित्र और उनके कार्यों का वर्णन है। यह कई सौ पृष्ठों का बडा ग्रंथ है। इसमें इन्होंने विशेषतः प्रशंसात्मक ही वर्णन दिया है और शिबली के अनुसार

निष्पक्ष न होकर एक ही पक्ष चित्रित किया है। हाली के निर्णयों का भी एक संग्रह 'मज़ामीने हाली' के नाम से निकला है। इन्होंने 'शेफ्ता' के पत्रों का भी एक संस्करण निकाला है।

हाली की शैली साधारण होते हुए भी बामुहाविरे और ज़ोरदार है। इनका विषय के प्रतिपादन की ओर अधिक ध्यान रहता था और भाषा में ओज लाते हुए भी उसे यह गद्य काव्य नहीं बना सके। यह केवल भाषा ही के लिए नहीं लिखते थे शैली और स्थान और न उसे अलंकारादि से सजाने ही का प्रयत्न किया करते थे प्रत्युत् अपने भाव तथा विचार स्पष्ट तथा ओजस्विनी भाषा में व्यक्त कर दिया करते थे। इनकी समालोचनाएँ मार्मिक होती थीं। समालोचक तथा गद्य लेखक की दृष्टि से भी इतिहास में इनका स्थान बहुत ऊँचा है और इनकी रचनाएँ अब भी लोगों के लिए आदर्श हैं।

शम्सुलउल्मा नज़ीर अहमद खान बहादुर का जन्म बिजनौर के एक गाँव में सन् १८३१ ई० में हुआ था। इन्होंने अपने पिता मीर सआदत अली से आरंभ में शिक्षा पाई थी और नज़ीर अहमद फिर डिप्टी कलेक्टर मौ० नसरुल्ला से कुछ पढ़ा था। इसके अनंतर यह दिल्ली चले गए और मौ० अब्दुल् खलीक़ से कुछ दिन पढ़ते रहे, जिनकी पोती से इनका विवाह हुआ। इसके बाद दिल्ली कालेज में भर्ती होकर इन्होंने यहाँ अरबी साहित्य, गणित आदि पढ़ा। इनके साथियों में हाली, आज़ाद आदि थे। अपने पिता के विरोध करने पर यह अंग्रेजी नहीं पढ़ सके और उस समय पढ़ाई समाप्त कर पंजाब में किसी स्कूल में बीस पचीस रुपये मासिक पर नौकर हो गए। क्रमशः यह डिप्टी इन्सपेक्टर और बलवे में एक मेम की रक्षा करने से इन्सपेक्टर हो गए। इसके सिवा पुरस्कार में इन्होंने कुछ रुपये और एक मेडल भी पाया था। इसके बाद इनकी इलाहाबाद को बदली हो गई, जहाँ इन्होंने अंग्रेजी

सीखी। सन् १८६१ ई० में इन्डिअन पीनल कोड के अनुवाद में कुछ कार्य किया, जिससे प्रसन्न होकर सर्कार ने इन्हें तहसीलदार बना दिया। इसके अनंतर डिप्टी कलेक्टर हुए। ज्योतिष विषयक एक ग्रंथ का अनुवाद करने पर इन्हें एक सहस्र रुपया पुरस्कार मिला। इसी समय हैदराबाद राज्य के प्रधान मंत्री सर सालार जंग ने इन्हें सरकार से माँग लिया और आठ सौ मासिक वेतन पर सेटलमेंट अफ़सर बनाया। इन्होंने सरकारी नौकरी छोड़कर राज्य की नौकरी कर ली, जहाँ उन्नति करते हुए सत्रह सौ मासिक पर बोर्ड ऑव रेवेन्यू के एक सभासद हो गए। इनके लड़के आदि अन्य सबंधियों को भी वहाँ काम मिल गया था। यह सर सालार जग के पुत्र के शिक्षक नियत हुए, जो अपने पिता की मृत्यु पर सालार जंग द्वितीय कहलाए। इसके कुछ दिन बाद पेंशन लेकर यह दिल्ली चले आए, जहाँ सर सैयद आदि के साथ अंत तक साहित्य-सेवा करते रहे। सन् १९१२ ई० में इनकी मृत्यु हुई। सन् १८९७ ई० में एडिंबरा विश्वविद्यालय ने एल० एल० डी० की और पंजाब विश्वविद्यालय ने सन् १९१० ई० में डी० ओ० एल० की उपाधि दी थी।

मौलवी नज़ीर अहमद बड़े परिश्रमी लेखक थे और इन्होंने लगभग तीन दर्जन के पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें कुछ बहुत बड़ी हैं।

रचनाएँ

सरकारी नौकरी के समय शिक्षा-विषयक तथा कानूनी पुस्तकें लिखते रहे। अरबी व्याकरण पर मायग़निक फिल् सर्फ़, तर्क पर मुबादिउल् हिकमत, लेखन-कला पर रस्मुल्ख़त और कहानियों का एक संग्रह 'हिकायात' लिखा। ज़ाब्ता फौजदारी का उल्लेख हो चुका है। कानूने शहादत अर्थात् गवाही का अनुवाद किया। इनकमटैक्स और स्टाम्प ऐक्टों का भी अनुवाद लिखा। डब्ल्यू. एडवर्ड के की लिखी एक पुस्तक का अनुवाद अफ़सानए ग़दर के नाम से किया। यह जब हैदराबाद में थे तब अफसरों के काम की सात पुस्तिकाएँ लिखी थीं पर वे प्रकाशित

न हुई। धार्मिक झगड़े भी चल रहे थे और अहमद शाह ईसाई ने, जो पहले मुसल्मान था, एक पुस्तक उम्महातुल् मोमिनीन लिखी, जिसके उत्तर में इन्होंने उम्महातुल् उम्मत लिखा, जिसकी कुछ लोगों ने प्रशंसा की और कुछ ऐसा बिगड़े कि इसकी प्रतियाँ सर्वसाधारण के सामने जला दीं। सन् १८९३ से १८९६ तक तीन वर्ष में कुरान का सुगम तथा मुहाविरेदार उर्दू में अनुवाद किया। इस पर साथ साथ टीका टिप्पणी भी बहुत की है। इसके अनंतर क्रमशः अदयातुल् कुरान, देहसूर, अलहकूकोअलफ़रायज इजूतिहा और मताछियेकुरान लिखा, जिनमें अंतिम अपूर्ण रह गया। तीसरी पुस्तक बहुत बड़ा तीन जिल्दों में है, जिसमें मुसल्मान धर्म कर्म-विचार आदि का संग्रह है।

स्त्री शिक्षा के लाभ को दिखलाते हुए इन्होंने पहले मीरातुल् उरूस (दुलहिन का आइन) नामक उपन्यास लिखा, जिसके उप संहार रूप में बिनतुन्नाश (जनाजे की पुत्री) नामक दूसरे बड़े उपन्यास की रचना की। इनकी भाषा इतनी सुगम और बामुहाविरे थी कि इनका बहुत प्रचार हुआ। इसके अनंतर तौबतुन्नसूह (सच्चे पश्चात्ताप करनेवाले का अनुताप) लिखा, जिसमें मरणोन्मुख एक पुरुष का बच जाने पर संसार से विरक्त होने का दृश्य है। इब्नुल् वक्त (समय का पुत्र) में शीघ्र उन्नति करनेवाले एक सज्जन का अहंमन्यता से अंग्रेजों की नकल करते हुए अपने लोगों का तिरस्कार करना और अंत में उन्हीं विदेशीय समाज से तिरस्कृत होना दिख लाया है। अयम में विधवा-विवाह के गुण और मुहसिनात में बहु विवाह के दोष दिखलाए हैं। रूप सादिक में दंपति की बातचीत में धार्मिक विचार प्रकट किए हैं। तात्पर्य यह कि इनकी सभी कहानी उपदेश पूर्ण हैं।

अवस्था के उतार के समय यह कुछ कविता भी करने लगे थे, जो बिल्कुल साधारण होती थी। मजमूअए बेनजीर के नाम से

इनकी कविताओं का संग्रह प्रकाशित हुआ। यह कवि का अतर्नाद न होकर किसी विद्वान की कविता-बद्ध विचार-शृंखला मात्र है। व्याख्यान भी अच्छा देते थे और लाहौर के अजुमने हिमायतुल् इसलाम, दिल्ली के मदरसअए तिब्बियः तथा महमडन एजुकेशन कॉनफरेंस के प्रायः हर अधिवेशन में इनका व्याख्यान होता था। ये व्याख्यान प्रायः शिक्षा तथा धर्म विषयक होते थे और इनका संग्रह भी छपा है।

कविता तथा व्याख्यान के संग्रह

सुगम, स्पष्ट और साफ लिखना ही इनकी शैली की विशेषता है। इनके उपन्यासादि में गंभीर विनोद की मात्रा बराबर रहती थी, जिससे यह अपने पाठकों और श्रोताओं का मन आकर्षित कर लेते थे। प्रौढ़ावस्था की रचनाओं में फारसी तथा अरबी के शब्द और उद्धरण आवश्यकता से भी अधिक मिलते हैं और अलकारादि का अनुपयुक्त स्थानों पर प्रयोग हुआ है। इतने पर भी यह समकालीन विद्वानों से बहुत प्रशसित हुए थे। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के यह प्रसिद्ध लेखक थे। इन्होंने नौकरी से बहुत धन सचय किया और उसे व्यापार में लगाकर खूब बढ़ाया। इससे यह दरिद्र विद्वानों की सहायता भी करते थे और अलीगढ़ कालेज को अच्छा चदा भी दिया था। कानूनी पुस्तको तथा रोचक उपन्यासो के कारण इनका नाम सर्वसाधारण में विशेष हुआ और कुरान के अनुवाद से मुसलमानो में बहुत मान्य हुए।

शैली तथा साहित्य और समाज में स्थान

मौलाना शिबली नोअमानी का जन्म सन् १८५७ ई० में आज़मगढ़ के एक ग्राम बिदौल में हुआ था पर इनके पिता शेख हबीबुल्ला आज़मगढ़ के वकील थे, इसलिए इनको आरभिक शिक्षा वहीं मिली। इसके अनंतर रामपुर, लाहौर तथा सहारनपुर जाकर यह अरबी, फारसी तथा धार्मिक

शिबली नोअमानी

विषयों का अध्ययन करते रहे। उन्नीस वर्ष ही की अवस्था में सन् १८७६ ई० में यह मक्का हो आए और इस यात्रा पर एक मसीना तथा किता फारसी में लिख डाला। इसके अनंतर धर्म-सभाओं में जाना आरंभ किया। वहाबी मत के खंडन और हनफी के मंडन पर कई पुस्तिकाएँ फारसी तथा अरबी में लिखीं। परीक्षोत्तीर्ण होकर कुछ दिन आज़मगढ़ तथा बस्ती में वकालत करते रहे पर मन न लगन के कारण सरकारी नौकरी कर ली। इससे भी घबड़ा जाने पर इसे छोड़ कर साहित्य सेवा ही करना निश्चित किया। सन् १८८२ ई० में यह अलीगढ़ कालेज में फारसी के अध्यापक नियुक्त हो गए, जहाँ यह सोलह वर्ष तक रहे। सर सैयद अहमद के साथ तथा उनके पुस्तकालय के उपयोग से इनकी प्रतिभा विशेष जागृत हो गई। प्रो॰ आर्नोल्ड अरबी तथा फारसी के विशेषज्ञ थे, जिनके सत्संग से इन्होंने पाश्चात्य आलोचना का ढंग सीखा। सन् १८८४ ई० में इन्होंने मसनवी 'सुबहे उम्मीद' लिखी, जिसमें मुसलमानों के आलस्य तथा सर सैयद के प्रयत्नों का उल्लेख है। सन् १८८७ ई० में महमडन एजूकेशन कॉन्फरेंस में इन्होंने एक लेख पढ़ा, जिसकी गवेषणा तथा परिश्रम से सभी प्रसन्न हुए। इसके अनंतर इन्होंने मुसलमान वीरों के चरित्रों की एक माला निकालना निश्चित किया। पहली पुस्तक 'अलमामूँ' है और दूसरी 'सीरतुन्नोअमान' सन् १८९० ई० में समाप्त हुई। 'अल्फ़ारूक' लिखने के पहले प्रो॰ आर्नोल्ड के साथ यह कुस्तुनतुनिया गए और छ मास तक इन्होंने एशिया कोचक, शाम और मिस्र देश में भ्रमण किया। 'सफ़रनामए शिबली' में इस यात्रा का वर्णन है। सन् १८९८ ई० में सर सैयद की मृत्यु पर इन्होंने कालेज से संबंध त्याग दिया और आजमगढ़ लौट आए। 'अल्फ़ारूक' कश्मीर में सन् १८९९ ई० में पूरा हुआ। सन् १८८३ ई० में आज़मगढ़ में इनके उत्साह से 'नेशनल इंगलिश स्कूल' स्थापित हुआ था, जिसकी यहाँ आने पर यह बराबर सहायता करते रहे।

इसके अनंतर यह हैदराबाद गए, जहाँ इन्हें सैयदअली बिलग्रामी ने शिक्षा विभाग में दो सौ रुपये मासिक पर नियुक्त कर लिया और शीघ्र वह तीन सौ कर दिया गया। यह यहाँ चार वर्ष रह कर अपना कार्य करते रहे। आसफ़ियः ग्रन्थमाला में, जिसे सैयद अली बिलग्रामी ने चलाया था, इनकी कई पुस्तकें निकलीं। अल्ग़ज़ाली, सवानेहरूमी, इल्मुल् कलाम अल्कलाम और मवाजनः (तुलना) अनीसो-दबीर क्रमशः प्रकाशित किए गए। सन् १९०४ ई० में यह लखनऊ लौट कर नदवतुल्उलमा की सहायता में लग गए। यहाँ की मुख पत्रिका 'अल्नदवा' का यह और हबीबुर्रहमान खाँ शरवानी संपादन करते रहे। सन् १९१३ ई० में यह आजमगढ़ लौट गए और यहीं सीरतुन्नबी नामक विशद ग्रंथ तीन भागों में लिखा। शैरुल् अजम का अंतिम भाग भी यहीं लिखा गया। यहीं पर अकस्मात् अपनी पुत्रवधू द्वारा चलाई हुई गोली के लग जाने से यह सदा के लिए लँगड़े हो गए। यहाँ इन्होंने 'दारुल् मुसन्निफ़ीन' नामक एक संस्था स्थापित की, जिसको अपना गृह, बाग़ और पुस्तकालय वक्फ (दान) कर दिया। एक 'दारुल् तक्मील' भी स्थापित किया कि उसमें विद्यार्थियों को साहित्य में उच्चतम शिक्षा दी जाय। सन् १९१४ ई० में इनकी मृत्यु हो जाने पर मौलाना शाह सुलेमान तथा हमीदुद्दीन ने इनके इस विचार की पूर्ति में बहुत काम किया। सन् १८९२ ई० में भारत सर्कार ने इन्हें शम्सुलउल्मा की पदवी और तुर्की के सुलतान ने मजिदिया मेडल प्रदान किया। यह प्रयाग विश्वविद्यालय के फेलो थे तथा हिंदी-उर्दू विवाद और हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य प्रश्नों पर स्थापित समितियों के मेंबर रहा करते थे। यह सच्चे स्वभाव के तथा मिलनसार पुरुष थे। यह उदार तथा बातचीत में निपुण थे और हिंदू-मुसलमान एकता के बराबर पक्षपाती रहे।

इनकी रचनाओं में इतिहास को प्रथम स्थान दिया गया है और इन्होंने इसलाम के प्राचीन इतिहास का गवेषणापूर्ण अनुसंधान किया

है। अल्फ़ारूक़, अल्कलाम, अल्मामूँ, अल्ग़ज़ाली,
रचनाएँ सीरतुन्नोअमान, मक़ालाते आलमगीर, मुसल्मानों की
गुज़श्त: तालीम, तारीख़े इस्लाम, अल्जज़िया और
सीरतुन्नबी इनकी ऐतिहासिक रचनाएँ हैं। अंतिम तीन भागों में एक
विशद पुस्तक है। इन पुस्तकों के देखने से इनके परिश्रम तथा मनन
शीलता पर आश्चर्य होता है। साहित्यिक पुस्तकों में शेरुल् अजम इनकी
प्रसिद्ध पुस्तक है, जो पाँच भागों में विभाजित है। इनकी विद्वत्ता,
गवेषणा तथा मननशीलता का इसे स्मारक ही समझना चाहिए।
समग्र फ़ारसी साहित्य की यह आलोचना है, जो सुगम उर्दू में लिखी
गई है। मुवाज़न: अनीसोदबीर में दोनों कवियों की कृतियों की तुल
नात्मक विवेचना है। मौलाना रूम की जीवनी भी एक अच्छी पुस्तक
है। छोटे छोटे निबंध तथा पत्र लिखने में यह सिद्धहस्त थे। मक़ालाते
शिबली और रसायले शिबली इनके लेखों के संग्रह हैं। मकातिब
शिबली और ख़तूते शिबली में इनके पत्र संगृहीत हैं। इन्होंने फ़ारसी
तथा उर्दू दोनों ही में खूब कविता भी की है। दीवाने शिबली में फ़ारसी
के क़सीदे और दस्तए-गुल तथा बूए-गुल में फ़ारसी के ग़ज़ल संग्रह
किए गए हैं। पहले यह फ़ारसी ही में कविता विशेष करते थे पर
बाद को समाज, राजनीति, इतिहास आदि विषयों पर उर्दू में कविता
करने लगे। कुल्लियाते शिबली इनकी उर्दू कविताओं का संग्रह है।
सुबहे उम्मीद का ऊपर उल्लेख हो चुका है। इनकी कविता साधारण
श्रेणी की है। इल्मुल्-कलाम, फ़िलसफ़ए-इस्लाम और सफ़रनाम:
स्फुट ग्रंथ हैं।

गद्य तथा पद्य दोनों ही में इनकी लेखन शैली सादगी तथा
स्पष्टव्यक्ति की पोषक रही। वाग्आडंबर में अर्थ को छिपाना यह अनु
चित समझते थे। सर सैयद अहमद ने इनकी शैली
शैली तथा स्थान की प्रशंसा की है। आलंकारिक भाषा लिखते हुए भी
उसकी भरमार नहीं कर देते थे। आज़ाद की सी चट-

ज़ोरदार भाषा न होने पर भी यह शुद्ध व्यवहार के उपयुक्त भाषा थी। मौलाना शिब्ली का स्थान उर्दू साहित्य के इतिहास में इतिहास, समालोचना आदि विषयों पर ग्रंथ-रचना के कारण बहुत ऊँचा है। नदवा तथा दारुल् मुसन्निफ़ीन के कार्य से यह अपने समय के विशिष्ट पुरुषों में माने जाते हैं।

नदवतुल् उलमा

अरबी मदरसों के पुराने ढर्रे की पढ़ाई को उन्नत करने तथा उलमा के झगड़ों को मिटाने के लिए डिप्टी कलेक्टर मौलवी अब्दुल् गफ़ूर के हृदय में एक संस्था खोलने का विचार उठा। सन् १८९४ ई० में मौलवी मुहम्मद अली कानपुरी के उत्साह से नदवतुल् उलमा स्थापित हुआ जिसके वह प्रथम मंत्री हुए। शिबली और मौलवी अब्दुल्हक़ देहलवी ने भी इस कार्य में बहुत उत्साह दिखलाया। विक़ारुल् मुल्क ने सौ रुपये मासिक सहायता दी और सर सैयद अहमद तथा मुहसिनुल् मुल्क भी इसकी बराबर सहायता करते रहे। सन् १८८९ ई० में बरेली में दारुल् उलूम नामक एक मदरसा भी समयानुकूल शिक्षा देने के लिए खोला गया। सन् १९०४ ई० में शिबली ने हैदराबाद से लौट कर नदवतुल् उलमा का कार्य अपने हाथ में लिया, जिसकी अवस्था अब तब हो रही थी। भूपाल तथा रामपुर से क्रमशः २५०) तथा ५००) रु० वार्षिक सहायता प्राप्त की। नवाब आग़ा खाँ ने भी ५०० रु० वार्षिक सहायता देना आरंभ कर दिया। भावलपुर के नवाब की दादी ने पचास सहस्र रुपया इमारत के लिए दिया, जिससे सन् १९०९ ई० में लखनऊ में सरकार की दी हुई भूमि पर इसकी नीव डाली गई। प्रांतीय सरकार ने धन से भी सहायता की। इस प्रकार इस संस्था को शिब्ली ने पुनर्जीवन दिया। इतना करने पर भी उलमा इनके स्वतंत्र विचारों पर क्रुद्ध ही रहते थे, इससे सन् १९१३ ई० में यह उस संस्था से हट गए। नदवा का पुस्तकालय बहुत ही अच्छा है, जिसमें हस्तलिखित प्रतियों की संख्या भी काफी है। इसकी मुख पत्रिका का ऊपर उल्लेख

हो चुका है। शिबली के हट जाने से इस संस्था की शक्ति क्षीण हो रही थी, पर अन्य सज्जन अब इसकी उन्नति का उपाय कर रहे हैं।

मौलाना शिबली की दारुल् मुसन्निफ़ीन नामक संस्था स्थापित करने के दूसरे ही वर्ष मृत्यु हो गई थी पर उनके उत्तराधिकारी सैयद सुलेमान नदवी ने, जो अरबी तथा फारसी के विद्वान थे और जो शिबली के समय ही में ख्याति प्राप्त कर चुके थे, इस संस्था को जीवित तथा उन्नत बनाए रखा। इनके सिवा मौ० हमीदुद्दीन,

दारुल् मुसन्निफ़ीन

मौ० अब्दुल् बारी, प्रो० नवाब अली, मौ० अब्दुस्सलाम नदवी आदि कई सज्जनों का भी इस संस्था से संबंध है। अंतिम सज्जन ने मौ० शिबली की जीवनी लिखी है। इन्होंने खलीफ़ा उमर की जीवनी तथा उर्दू पद्य साहित्य का इतिहास शेरुल् हिंद के नाम से लिखा है। इस संस्था की उन्नति आशापूर्ण ज्ञात होती है, क्योंकि कई योग्य सज्जन इसके कार्य को उत्साह के साथ करते हैं।

सैयद सुलेमान नदवी का जन्म बिहार के अंतर्गत दसना में सन् १८८५ ई० में हुआ था। इन्होंने नदवतुल् उलमा कॉलेज लखनऊ में शिक्षा प्राप्त की और यहाँ मौलाना शिबली

सुलेमान नदवी

के सत्संग में रहे। सन् १९१२ ई० में डेकन कॉलेज पूना में फारसी-अरबी के प्राध्यापक हुए पर दो वर्ष बाद मौलाना शिबली की मृत्यु पर यह उक्त पद त्याग कर लौट आए और शिबली एकाडेमी आजमगढ़ के प्रधान हुए। इन्होंने पैगंबरे इसलाम की जीवनी तथा उपदेश पर शिबली द्वारा आरंभ किए गए सीरतुन्नबी पुस्तक को आठ भागों में पूरा किया। इन्होंने सीरते आयशः, अर्जुल कुरान, खुतबे अहमद आदि कई पुस्तकें लिखी हैं और इनके निरीक्षण में एकाडेमी ने प्रायः पचीस महत्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित किए हैं। मुआरिफ़ नामक मासिक पत्रिका का भी संपादन करते रहे। मौलाना अबुल्कलाम आज़ाद के कलकत्ते से प्रकाशित अल् हेलाल के संपादन में भी यह बहुत सहायता देते रहे। इन्होंने प्रायः चालीस

वर्षों तक एकाडेमी में शिक्षण कार्य किया था। इन्होंने अफगानिस्तान, हेजाज़, कैरो, लंदन आदि की यात्राएँ भी की थीं। उमर खैयाम पर इनकी पुस्तक विशेष महत्वपूर्ण है। इसके सिवा अरब और भारत के संबंध पर इनका ग्रंथ इनकी विद्वत्ता, अध्ययनशीलता तथा अध्यवसाय का विशेष परिचायक है। इसका हिंदी रूपांतर हिंदुस्तानी एकाडेमी प्रयाग से प्रकाशित हो चुका है। इनकी मृत्यु २२ नवबर सन् १९५३ ई० को हो गई।

शम्शुल्-उलमा मौलवी मुहम्मद जकाउल्ला का जन्म सन् १८३२ ई० में दिल्ली में हुआ था और यह बहादुर शाह 'ज़फर' क छोटे पुत्र मिर्ज़ा सुल्तान कोचक के शिक्षक हाफ़िज़ सनाउल्ला के लड़के थे। यह बारह वर्ष की अवस्था में मौलवी नज़ीर अहमद तथा प्रो० आज़ाद के साथ एक ही दर्जे में पुराने दिल्ली कॉलेज में भर्ती हुए। यह मित्रता तीनों ने अंत तक निबाही और तीनों ही शम्शुल्उलमा पदवी से विभूषित हुए। शिक्षा समाप्त होने पर उसी कालेज में यह गणित के शिक्षक नियुक्त हुए। इसके अनंतर आगरा कालेज में फारसी तथा उर्दू के अध्यापक नियुक्त हुए। इस प्रकार सात वर्ष अध्यापन कार्य कर सन् १८५७ ई० में यह स्कूलो के डिप्टीइंस्पेक्टर हुए और बुलदशहर तथा मुरादाबाद में कार्य करते रहे। सन् १८६७ ई० में यह दिल्ली नार्मल स्कूल के हेडमास्टर हुए और सन् १८७२ ई० में यद्यपि यह पहले ओरिएंटल कॉलेज के लिए चुने गए थे पर म्योर सेंट्रल कॉलेज ही में अरबी और फारसी के प्रोफेसर नियुक्त हुए, जहाँ अंत तक रहे। इन्होंने छत्तीस वर्ष सर्कारी नौकरी की और चौबीस वर्ष पेंशन लेकर सन् १९१० ई० में मरे। गवर्नमेण्ट ने इनके कार्यों के पुरस्कार में इन्हें शम्शुल्उल्मा तथा खान बहादुर की पदवी दी और डेढ़ सहस्र रुपया पुरस्कार दिया। स्त्री शिक्षा के लिए प्रयत्न करने के कारण इन्हें खिलअत भी मिल चुका था।

ज़काउल्ला

इनकी रचनाएँ विशेष कर स्कूलों के लिए पाठ्य ग्रंथ तथा उनकी कुंजियाँ थीं और यह प्रायः गणित, इतिहास, भूगोल, साहित्य, विज्ञान आदि विषयों ही पर कलम चलाते थे।

रचनाएँ

इन्होंने भारत के मुसलमान काल का इतिहास 'तारीखे-हिंदोस्तान' के नाम से तेरह जिल्दों में लिखा है। क्वीन विक्टोरिया के राज्यकाल के युद्धों का वर्णन, भारतीय युद्धों को छोड़ कर, मुहिम्माते अर्ज़ाम में लिखा है। क्वीन विक्टोरिया के राज्यकाल का भारत का इतिहास तीन जिल्दों में और उसी काल के राज्य-प्रबंध नीति के अदल बदल का वर्णन आइने-कैसरी में लिखा है। फर्हंगे फिरंग का तारीख़ (यूरोप का सभ्यता), क्वीन विक्टोरिया तथा उनके पति प्रिंस अलबर्ट की जीवनी और मौलवी समीउल्ला सी० एम० जी० का जीवनवृत्त भी लिखा है। इन पुस्तकों के सिवा रिसालए-हसन, तहज़ीबुल् इख़लाक आदि बहुत से पत्रों में यह बराबर अनेक विषयों पर लेख भेजा करते थे।

इनकी शैली साधारणतः सादी और सुगम है तथा इसमें किसी प्रकार के साहित्यिक सौंदर्य के लाने का प्रयत्न नहीं ज्ञात होता। यह केवल अनेक विषयों पर ज्ञानवृद्धि करने की साधन शैली तथा स्थान मात्र है। इनकी विद्वत्ता विस्तृत थी पर किसी विषय में गंभीर नहीं थी और न यह कोई प्रतिभाशाली लेखक ही थे। इतिहास के ज्ञान तथा शिक्षा-विषयक प्रयत्नों के कारण इनका नाम साहित्य के इतिहास में भी सम्मानपूर्वक लिया जाता है।

सन् १८०३ ई० में शाहआलम बादशाह ने अंग्रेज़ों की शरण ली और कुल अधिकार इन्हें सौंप कर पेंशन लेने लगे। अंग्रेजी अधिकार होने से लूट मार बिल्कुल कम हो गया और शिक्षा प्रचार के लिए सन् १८ ७ ई० में एक अंग्रेजी स्कूल दिल्ली में खुला, जिसमें शीघ्र ही कई सौ लड़के नाम लिखा कर शिक्षा प्राप्त करने लगे। अंग्रेजी शिक्षा के विरुद्ध मत बहुत

दिल्ली कालेज

स्टेट की कौंसिल के मेंबर रहे। इनके निर्णयों और व्याख्यानों का संग्रह 'रसायल उमदतुलमुल्क' में हुआ है। अरबी की धार्मिक पुस्तकों के प्रकाशनार्थ एक संस्था 'दैरतुलमुआरिफ़' संगठित हुई, जो विशेषतः इन्हीं के उत्साह के फल-स्वरूप थी। इन्होंने उर्दू में क़ुरान का अनुवाद किया है। सर सालार जंग प्रथम की जीवनी तथा निज़ाम राज्य का ऐतिहासिक तथा वर्णनात्मक वृत्तांत दो भागों में लिखा है, जो अंग्रेज़ी में है।

मौलवी मुहम्मद अज़ीज़ मिर्ज़ा बुलंदशहर के पहासू ग्राम के निवासी थे और सन् १८८५ ई० में अलीगढ़ कालेज से बी० ए० पास कर हैदराबाद में नौकरी कर ली। यह क्रमशः

मुहम्मद अज़ीज़ मिर्ज़ा

उन्नति करते हुए होम सेक्रेटरी और हाईकोर्ट के जज हुए। साथ ही यह साहित्यिक कार्य भी करते जाते थे। यह अपने समय के प्रसिद्ध गद्यलेखक थे। गुल्दस्ते फ़िरंग के नाम से नवाब फ़तेहजंग मेहदी अली खाँ की इंगलैंड की यात्रा का अंग्रेज़ी से उर्दू में अनुवाद किया। बहमनी बादशाहों के प्रसिद्ध मंत्री महमूद गावाँ की जीवनी 'सीरतुल् महमूद' के नाम से लिखा है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक का मराठी अनुवाद से उर्दू में अनुवाद किया। मुद्राशास्त्र से इन्हें बड़ा प्रेम था और इन्होंने मुद्राओं का संग्रह भी अच्छा किया था। पत्रों में निकले हुए लेखों का संग्रह 'ख्यालाते अज़ीज़' के नाम से प्रकाशित हुआ है। अलीगढ़ कालेज तथा मुसलमानों में शिक्षा प्रचार के लिए बहुत उद्योग किया। सन् १८९९ ई० में किसी कारण नौकरी छोड़कर अलग हो गए पर पेंशन मिलती रही और उमा बाद मुस्लिमलीग के अवैतनिक जेनरल सेक्रेटरी हुए। इनकी सन १९१२ ई० में मृत्यु हुई।

राय बहादुर प्यारेलाल 'आशोब' राजा टोडरमल के वंश में थे और टंडन खत्री थे। इनका जन्म सन् १८३८ ई० में दिल्ली में हुआ था। इनके पितामह मराठा राज्य में अच्छे पद पर थे। इन्होंने दिल्ली

मिला था। सन् १८७१ ई० में मग्राय दल्लिय पर पुन डेढ़ सौ रुपये पुरस्कार में मिले। इसी बीच डा० फैलों की सहायता के लिए यह बिहार गए, जहाँ सात वर्ष के परिश्रम पर फैलों साहब का कोष समाप्त हुआ। इसी मध्य में इन्होंने मिरातुल्उरूस का उत्तर पुस्तक स्त्री-शिक्षा पर लिखी। इनके सिवा तफ्सीलुल्-कलाम, तहकीकुल्कलाम, रमसान (हिंदी कविता का संग्रह), रीति बखान (हिंदुओं के रस्म, हिंदी), नारी कथा (हिंदी), ब्रयाय उर्दू, सुखावुल्निसा तहरीरुल्निसा, इखलाकुल्निसा, इल्मुलनिसा, रसूमे दिहली और बेगहत जमाने का किस्सा लिखा। ये सब प्रकाशित हो चुके हैं। सैरेशिमला, रोजमर्रा दिहली आदि और भी पुस्तकें लिखा है। सन् १८६८ ई० ही से यह अपने बृहत् कोष के लिये सामग्री एकत्र करने लगे थे पर धनाभाव से यह कार्य दुष्कर हो रहा था। सन् १८८१ ई० में हैदराबाद के प्रधान मंत्री नवाब आस्मान जाह ने शिमले में इसे देख कर पसंद किया और सहायता का वचन दिया। सन् १८९२ ई० में यह कोष समाप्त होकर 'फर्हगे आसफिया' कहलाया। निज़ाम सरकार से पाँच सहस्र रुपए पुरस्कार और पचीस रुपया की मासिक वृत्ति यावज्जीवन के लिए मिली। पंजाब सरकार ने भी इन्हें इसी प्रकार पुरस्कृत किया। वास्तव में यह ग्रंथ विद्वत्ता तथा परिश्रम का विशद स्मारक है। केवल इस कोष के कारण इनका नाम उर्दू साहित्य में अमर है।

हाजी फरीदुद्दीन के पुत्र मौलाना सैयद वहीदुद्दीन 'सलीम' ने लाहौर में शिक्षा पाई थी। एंट्रेंस तथा मुंशी फाजिल की परिक्षाएँ पास कर इन्होंने भावलपुर राज्य के शिक्षा विभाग में

वहीदुद्दीन 'सलीम' नौकरी कर ली। छ वर्ष के अनन्तर यह रामपुर गए पर छ महीने ही कार्य कर बीमार हो गए। जालंधर में एक हकीम के यहाँ बराबर दवा करते रहे और स्वयं हकीमी सीखी। इस प्रकार छ वर्ष बीमारी से कष्ट पाकर अच्छे हुए और पानीपत में हकीमी की दुकान खोली। 'हाली' ने सर सैयद अहमद से इनका परिचय

श्रीराम और खुमखानए जावेद

इनके चाचा रायबहादुर प्यारेलाल आशोब का उल्लेख हो चुका है। इनका जन्म सन् १८७५ ई० में हुआ था और सन् १८९८ ई० में इन्होंने एम ए तथा मुन्सिफी पास कर सर्कारी नौकरी कर ली। सन् १९०२ ई० में यह क्षय से आक्रान्त हुए और सन् १९०७ ई० में नौकरी से त्यागपत्र देकर साहित्यिक कार्य में लग गए। सन् १९३० ई० में इनकी मृत्यु हो गई। इन्होंने चखाने अनवर, महताबे दाग तथा जमीमा यादगारे दाग प्रकाशित कराए। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ खुमखानए जावेद है, जिसके प्रथम पाँच भाग प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें वर्णक्रम से उर्दू-कवियों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है तथा उनकी कविता चुनकर संकलित की गई है। यह संग्रह अपूर्व हुआ है। विद्वत्ता, मर्मज्ञता, मननशीलता तथा परिश्रम की छाप हरएक पृष्ठ पर है। एक एक भाग मासिक पत्रिकाओं की साइज के लगभग एक सहस्र पृष्ठों के हैं। भाषा *अत्यंत सरल और सुगम है तथा कविता-चयन में इनकी आलोचना* शक्ति ने खूब कार्य किया है। पूर्ण होने पर यह संग्रह प्रत्येक साहित्य-विलास लेखकों के लिए आवश्यक वस्तु हो जाएगा और जिनके पास यह रहेगा उसके पास उर्दू साहित्य का मानो संक्षिप्त पुस्तकालय ही रहेगा।

अब्दुलहक

मौलवी अब्दुलहक उर्दू के प्रसिद्ध साहित्यसेवी तथा परम पोषक हैं। 'अंजुमन तरक्कीए उर्दू' के प्रधान मंत्री तथा 'उर्दू' पत्रिका के संपादक हैं और इस पद से आपने उर्दू के उन्नयन में बहुत सहायता पहुँचाई है। अनेक मौलिक, अनूदित तथा सुसंपादित अच्छे ग्रंथ इनकी तत्त्वावधानता में निकले तथा निकल रहे हैं। इनकी लिखी प्रस्तावनाएँ तथा लेख गंभीर गवेषणापूर्ण होते हैं। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों की खोजकर उन्हें प्रकाशित कराने का यह निरंतर प्रयास करते रहे हैं, जिससे अनेक अच्छे *ग्रंथ* प्रकाश में आगए। यह चुपचाप ठोस काम करने

बीस वर्ष तक स्वयं इसका संपादन किया। यह उच्च कोटि के गद्य लेखक थे। इनकी मृत्यु हो चुकी है।

पं० मनोहरलाल जुत्शी के पिता पं० कन्हैयालाल एन्जिनियरिंग विभाग में फैज़ाबाद में काम करते थे और वहीं सन् १८७९ ई० में इनका जन्म हुआ। सन् १८९४ ई० में बी० ए० और

मनोहरलाल जुत्शी इसके अनंतर ट्रेनिंग परीक्षा पास कर अध्यापकी करने लगे। सन् १९०२ ई० में एम० ए० प्रथम श्रेणी में पास कर इलाहाबाद ट्रेनिंग कालेज में प्राध्यापक हुए। इसके अनंतर स्कूलों के इंस्पेक्टर, काशी विश्वविद्यालय के एक वर्ष रजिस्ट्रार तथा एक वर्ष ट्रेनिंग कालेज प्रयाग के प्रिंसिपल रहे। सन् १९१५ ई० में प्रांतीय सरकार के अंडर सेक्रेटरी और सन् १९२१ ई० में एक वर्ष असिस्टेंट डाइरेक्टर रहे। इसके अनंतर जुबिली कालेज लखनऊ के प्रिंसिपल हुए। सन् १९४७ ई० में इनकी मृत्यु हुई। यह अंग्रेजी तथा उर्दू में बराबर लेख लिखते रहे। इनकी आलोचनाएँ निष्पक्ष तथा गंभीर होती थीं, जो प्रायः ज़माना, अदीब तथा कश्मीर दर्पण में निकला करती थीं। 'गुलदस्तए अदब' नाम से इन्होंने एक पुस्तक लिखी है। मिर्ज़ा ग़ालिब और चकबस्त पर इनके कई लेख बड़े विद्वत्तापूर्ण हैं। यह उच्च कोटि के समालोचक थे।

मुं० दयाराम निगम का जन्म कानपुर में सन् १८८४ ई० में हुआ था। सन् १९०३ ई० में बी० ए० पास कर इन्होंने 'ज़माना' नामक पत्र निकाला जो अबतक चल रहा है। सन्

दयाराम निगम १९१० ई० में इन्होंने 'आज़ाद' नामक दैनिक पत्र निकालना आरम्भ किया जो अब साप्ताहिक हो गया है। यह समाज सुधार, शिक्षा तथा राजनीतिक सभी देशसेवा के कार्यों में उत्साह पूर्वक यावज्जीवन लगे रहे। उर्दू साहित्य की अपने लेखों द्वारा इन्होंने बड़ी सेवा की है।

प० बिशन नारायन (विष्णु नारायण) दर 'अब्र' उर्दू के सुकवि

तेरहवाँ परिच्छेद

नाटक, उपन्यास, पत्र आदि

नाटक

भारतीय नाटकों के इतिहास में देखा जाता है कि संस्कृत नाटक-रचना की शृंखला मुसलमानी आक्रमणों से अस्त व्यस्त हो गई और यद्यपि मुगलकाल में दो चार नाटक लिखे गए पर यह शृंखला विशेष न चली। नाटकों में कथोपकथन के लिए बोलचाल ही की भाषा उपयुक्त होती है

विषय प्रवेश

इसीलिए संस्कृत से हिंदी-काव्य भाषा—ब्रजभाषा या अवधी—में होता हुई यह शृंखला खड़ी बोली या उर्दू हिंदी तक नहीं चली आई। अब के साहित्यकार नाटकों की ओर भाषा के इसी अभाव के कारण नहीं झुके। नाटकों के प्रति सभी सभ्य जातियों की रुचि होती है और यही कारण है कि ब्रजभाषा में भी कुछ नाटक लिखे गए पर वे नाट्य-कला की दृष्टि से महत्व के नहीं हुए। इस्लाम धर्म में नाटक, चित्र आदि की रचनाएँ इस कारण धर्म विरुद्ध माना जाती हैं कि वे खुदाई कामों की नकल हैं और इस कारण ऐसी कृतियाँ फारसी में अलभ्य थीं। फारसी की प्राचीन पुस्तकों में कभी कभी ऐसे चित्र अब तक मिलते हैं जिनमें सर्वांग चित्रित रहते हुए भी मुख लीपा पुता हुआ रहता है। उर्दू को फारसी से इस प्रकार नाट्य-संपत्ति कुछ न मिल सका और जिस प्रकार उसने यथासाध्य हिंदी का बहिष्कार कर तथा फारसी से सर्वस्व लेने का प्रयत्न कर साहित्य के अनेक अन्य अंग पुष्ट किए थे उसी प्रकार इसको भी करती पर वैसा न हो सका। उर्दू-साहित्यकार संस्कृत से अनभिज्ञ थे और संस्कृत नाटकों के हिंदी अनुवाद बहुत बाद को तैयार हुए, इसलिए उनका उर्दू नाटक

निसार कर दिया था और उनमें की एक परी गुलफाम पर निछावर हो गई थी। इस नाटक के सिवा वाजिद अली शाह कन्हैया बन कर अपनी असंख्य हरमों को गोपियाँ बनाकर रास लीला भी करते थे। इन एक एक खेला में लाखों रुपए स्वाहा हो जाते थे। अमानत के इंदर सभा का प्रथम दृश्य इंद्र की राजसभा है। इसमें दो देव उपस्थित हैं, लाल देव और काला देव। यह देव शब्द उर्दू में असुर-बोधक होता है। अब कई रंग की परियाँ आती हैं और नाच गान होता है। इन्हीं में एक सब्ज परी नायिका है, जो दूसरे दृश्य में गुलफाम को देखकर आशिक होती है और काले देव से उसे अपने यहाँ मँगा लेती है। दोनों की प्रेम लीला दिखलाई जाती है और इसके बाद यह उठकर परी के साथ इंदर सभा में जाता है। लाल देव के चुगली खाने पर इसका पता पाते ही इंदर गुलफाम को कुएँ में फेंक करता है और परी को जंगल में छोड़वा देता है। वह जोगिन बनकर फिर इंदर को रिझाती है और पुरस्कार में गुलफाम को माँग लेती है। इसके साथ ही यह नाटक समाप्त होता है। इस नाटक की उस समय खूब धूम थी। मदारी लाल ने एक बड़ा इंदर सभा लिख डाला और पारसी थिएटरों में यह खेल खेला भी गया। पचास वर्ष के ऊपर हुए कि उस समय भी इस इंदरसभा को स्यात् कजन थिएटर में देखा था। पर अब उस कोटि के नाटकों का समय बीत गया। सब कुछ होते हुए भी साहित्य-मर्मज्ञों में इसकी प्रतिष्ठा नहीं थी और हिंदी के श्रेष्ठ नाटककार भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र ने इसी के वजन पर बंदर सभा लिखकर इसकी हँसी उड़ाई थी।

उर्दू के प्रथम नाटक का उल्लेख हो चुका और अब इसके बाद जिन नाटकों का आपको उल्लेख मिलेगा, वे वास्तव में नाटक शब्द संयुक्त थियट्रिकल्स हैं, जो पारसी स्टेज के लिए तैयार किए गए थे और किए जाते हैं। इनमें उर्दू के गजल ही गाने के लिए दिये जाते थे

विक्रमविलास, गोपीचंद, हरिश्चन्द्र, नाजाँ आदि कई खेल लिखे। इन्होंने नाटकों की भाषा में बहुत कुछ परिमार्जन किया। बालीवाला की मृत्यु पर यह कंपनी टूट गई और कयासजी ने 'एल्फ्रेड थियेट्रिकल कंपनी' खोली। कयासजी करुणापूर्ण अभिनय में पारंगत थे। यह सन् १९१४ ई० में मर गए और यह कंपनी भी चार पाँच वर्ष बाद बंद हो गई। इसके प्रथम नाटक लेखक सैयद मेहदी हसन 'अहसन' लखनवी थे जिन्होंने शेक्सपीअर के मर्चेन्ट ऑव वेनिस का दिल-फरोश और कॉमेडी ऑव एरर्स का भूल भुलैया नाम से तथा अन्य नाटकों का अनुवाद किया था। गुलनार-फीरोज, बकावली, चंद्रावली आदि कई और नाटक लिखे। यह सुकवि तथा संगीतज्ञ भी थे। इनकी भाषा स्वच्छ तथा मुहाविरेदार है। इस कंपनी के दूसरे लेखक नारायण प्रसाद 'बेताब' थे। ये फारसी ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम महाराज डालाराय था। यह ग़ालिब के शिष्य हकीम सरदार मुहम्मद खाँ 'तालिब' के शिष्य थे और नजीर हुसेन 'सखा' को भी कविता दिखलाते थे। बंबई से 'शेक्सपियर' नामक पत्र निकाला था, जिसमें उसी के नाटकों का अनुवाद छपता था। यह अब बंद हो गया। इनके नाटक गोरखधंधा, पत्नीप्रताप, रामायण, महाभारत, कृष्ण-सुदामा आदि में हिंदी का और जहरी साँप, करेबे मुहब्बत आदि में उर्दू का आधिक्य है। भाषा बेढब खिचड़ी है, गंगा जमुनी के समान शोभापरक नहीं है। पात्रों के मुख से समय कुसमय भी शेरबाजी कराना स्वाभाविकता का नाश करना है। कथावस्तु के संगठन तथा चरित्र-चित्रण पर भी विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

मुहम्मद अली नाखुदा तथा सोराबजी के साझे में यह कंपनी खुली। बेताब के सिवा आगा हश्र काश्मीरी, तुलसीदत्त शैदा और हरिकृष्ण जौहर इसके नाटक-लेखक थे। हश्र का न्यू ऐल्फ्रेड कंपनी परिवार बनारस में बहुत दिनों से बसा हुआ था। न्यू ऐल्फ्रेड कंपनी छोड़ने पर इन्होंने अपनी 'शेक्स-

मुन्शी जगन किशोर 'दुरुज' फीरोज़ाबाद के भटनागर कायस्थ थे। यह फारसी तथा उर्दू के कवि थे। सदारे इन्सानिया इनका फारसी काव्य है। उर्दू में नील नासिर अली शाह और जवाब मुसद्दसे हाली लिखा। हाली कहते हैं कि इसलाम धर्म के आरंभ के पहले 'इस्लाम हिन्द में हर तरफ था अँधेरा', जिसका उत्तर उधर इसमें दिया गया। मुबाहिसा फ़राज़ाबाद में आगेसमानिया तथा अंजनी का विवाह कवितावद्ध हुआ है। इन्होंने रामार्णव, विद्या अविद्या, प्रह्लाद नरसिंह, शीरीं-फरहाद और हरिश्चन्द्र नाटक लिखे। शकुंतला का फारसी में अधूरा अनुवाद छोड़कर सन १८९९ ई० में ३२ वर्ष की अवस्था में मर गए।

पूर्वोक्त नाटक-लेखकों के सिवा अन्य कुछ लेखकों का भी यहाँ उल्लेख किया जाता है। आगा हश्र के शिष्य मुंशी मुहम्मद इब्राहीम महशर ने भी एक दर्जन नाटक लिख डाले हैं, जिनमें ख़्वाब-नाटकसागर काश्मीरी नाग, रमाछा जोगी, मारा बाई आदि प्रसिद्ध हैं। राधेश्याम कथावाचक ने पौराणिक कथाएँ लेकर कई नाटक लिखे हैं। पं० ज्वालाप्रसाद बर्क ने शेक्सपीअर के कई नाटकों का अनुवाद किया है। दिल्ली के मुंशी ज्ञानधर प्रसाद मायल ने नूरे हिंद या चन्द्रगुप्त और सेरो शिकम लिखे। हकीम अहमद शुजा बी० ए० ने बाप का गुनाह, आँचल, भारत का लाल आदि कई नाटक लिखे तथा बँगला से अनूदित किए। सैयद इम्तियाज़ अली ने अनारकली, दुल्हन आदि, सैयद दिलावर अली शाह ने पंजाब मेल, अहमद हुसेन ने हुस्न का बाज़ार, अब्दुल मजीद ने जुर्म पशेमाँ तथा मनमोहन दत्तात्रेय ने राजदुलारा और गुरारा दो नाटक लिखे।

उर्दू साहित्येतिहास के एक लेखक का कथन है कि पाश्चात्य-संपर्क ने उर्दू क्षेत्र में नाटक का बीजारोपण किया है। हो सकता है, पर इन्दर सभा में कुछ भी पाश्चात्य नहीं है। पारसीयों ने अवश्य ही व्यवसाय रूप में यूरोपीय ढाँचे पर थिएटर खोले और भाँड़ों की

का तिलस्म होशरुबा के नाम से उर्दू अनुवाद हुआ, जिसमें सात भाग हैं। प्रथम चार का मीर मुहम्मद हुसेन 'जाह' ने और तीन का उन्हीं के शिष्य मिर्जा जाफर हुसेन 'कमर' ने अनुवाद किया था। इसका प्रथम भाग सन् १८८४ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसी कथा के प्रथम दफ्तर नौशेरवाँनामा का अनुवाद दास्ताने अमीर हमजा के नाम से (सन् १२१५ हि०) सन् १८०१ ई० में छपा, जो डा० गिल्क्राइस्ट की आज्ञा से खलील खाँ अश्क द्वारा हुआ था। तोताराम शायाँ ने इसका पद्य में और शेख तसद्दुकहुसेन ने इसी का गद्य में अनुवाद किया। ये दोनों नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित हुए।

कहानियों का एक और बड़ा संग्रह बोस्ताने ख्याल (कल्पना का उद्यान) है, जिसे मीर तकी 'ख्याल' गुजराती ने लिखा था।

बोस्तान ख्याल मुहम्मद शाह रँगीले को यह बहुत पसंद था। इसके उर्दू अनुवाद कई हुए, पर अच्छा अनुवाद मिर्जा मुहम्मद अस्करी उर्फ छोटे आगा लखनवी तथा ख्वाजा बदरुद्दीन अमन देहलवी का है। प्रथम ने पहले दो भाग का और दूसरे ने अंतिम पाँच भाग का अनुवाद किया था। इसका संक्षिप्त अनुवाद 'जुब्दतुल् ख्याल' के नाम से सन् १८४४ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसके अनुवादक आलमअली पटना के पास पछिया परगना के अंतर्गत मौजा करई के रहने वाले थे। यह ग्रंथ तत्कालीन डिप्टी गवर्नर विलिअम विलवरफोर्स साहब को समर्पित है।

प्राचीन काल की अमानुषिक असंभाव्य कहानियों का समय पूरा हो चला था और नई रोशनी में इन तिलस्म तथा जादू के अंधकार नष्ट हो चले थे। मानव विचारों, भावों आदि का

परिवर्तन-काल कहानियों में विश्लेषण होने का समय आ रहा था। लखनऊ में रज्जब अली बेग 'सरूर' ने प्रसिद्ध 'फिसान' अजायब' तथा अन्य कहानी किस्से लिखे थे, जिसका

एकता का यह पत्र समर्थक था और हिंदू, मुसलमान तथा ईसाई तेहवारों पर साक़ीनामे तथा लेख निकलते थे। इनके लेखकगण भी उर्दू के तत्कालीन श्रेष्ठ साहित्यिक थे, जिनमें से कुछ के नाम ये हैं— सज्जाद हुसेन, मिर्ज़ा मछू बेग आशिक़ सितम ज़रीफ़, ज्वाला प्रसाद बर्क़, नवाब सैयदमुहम्मद आज़ाद आदि।

सज्जाद हुसेन

यह मंसूर अली डिप्टी कलेक्टर के लड़के थे जो बाद को हैदराबाद राज्य में जज नियत हुए थे। सज्जाद हुसेन का जन्म काकोरी में सन् १८५६ ई० में हुआ और इन्होंने सन् १८७३ ई० में एंट्रेंस पास किया। यह कुछ दिनों सेना में मुंशीगिरी पद पर रहे, पर वहाँ से लौटकर सन् १८७७ ई० में इन्होंने लखनऊ से 'अवध पंच' नामक पत्र निकालना आरंभ किया। इनकी निजी विनोद-प्रधान शैली से लोग ऐसे मुग्ध हुए कि यह पत्र शीघ्र लोकप्रिय हो गया और योग्य लेखकगण इसमें लेख देने लगे। रतननाथ सरशार दो वर्ष तक इसके लेखक थे पर 'अवध अखबार' के संपादक नियुक्त होने पर उन्होंने इससे संबंध त्याग दिया। सज्जाद हुसेन के लकवे की बीमारी से जर्जरित हो जाने पर पत्र भी जरा जीर्ण हो चला और सन् १९१५ ई० में इनकी मृत्यु होने के दो-तीन साल पहले ही बंद हो गया। मुंशी सज्जाद हुसेन ने उर्दू पत्र द्वारा देश-सेवा की और असभ्यता या हठधर्मी से सदा दूर रहे। यह स्पष्ट वक्ता थे, पर जो कुछ कहते थे वह विनोदपूर्ण होता था। इन्होंने 'प्यारी दुनिया', 'धोका' 'मीठी छुरी', 'तरहदार लौंडा', 'कायापलट', 'नश्तर' आदि कई उपन्यास लिखे, जो सभी खूब प्रचलित हुए। इन सब की भाषा मुहाविरेदार तथा अलंकृत है और इनकी निजी विशेषता—हँसी मज़ाक से पूर्ण है।

मिर्ज़ा मुहम्मद मुर्तज़ा मछू बेग 'आशिक़' के पिता का नाम असग़र अली था। इन्होंने ग़दर के पहले शस्त्र चलाने में अच्छा नाम पैदा किया था, पर उसके बाद पठन-पाठन तथा कविता करने में

वाद-प्रतिवाद किया था। इन्होंने अंग्रेजी घर ही पर पढ़ी थी। यह पहले सब-रजिस्ट्रार नियत हुए और अंत में इम्पीरियल सर्विस आर्डर में हो गए। सन् १९१२ ई० में नौकरी छोड़ी। यह पहले फारसी में रचना करते थे, पर बाद को उर्दू में लिखने लगे। यह 'अवध-पंच', 'अवध अखबार', आगरा अखबार' आदि में लेख देने लगे। सन् १८७८ ई० में इन्होंने 'नवाबी दरबार' नामक उपन्यास लिखा, जिसमें पुरानी चाल के नवाबों पर खूब फबतियाँ कसी गई थीं। यह विलायत भी गए थे और वहाँ से जो पत्र लिखे हैं, वे बड़े मनोहर हैं। इनका एक लुगात भी है, जो तुकबंदी-युक्त भाषा में है, जिसे इन्होंने गिल्टपाड़ में लिखा था।

शौक

अहमदअली क़िदवाई 'शौक़' 'असीर' के शिष्य थे। यह सुकवि थे और इन्होंने कई अच्छी मसनवियाँ लिखी हैं। इनका दीवान भी प्रकाशित हो चुका है। इन्होंने कई नाटक गद्य-पद्य में लिखे हैं, जिनमें क़ासिमो ज़ुहरा तथा मैकफरसन और लूमा मशहूर हैं। यह उर्दू शायरी के नियमादि के पूर्ण ज्ञाता थे और बहुत दिनों तक रामपुर दरबार में रहे। यह 'अवध-पंच' में बराबर लेख लिखा करते थे और इनका भाषा की शुद्धता तथा सौष्ठव पर विशेष ध्यान रहता था।

सरशार

पं० रतननाथ दर उपनाम 'सरशार' काश्मीरी ब्राह्मण पं० बैजनाथ के पुत्र थे, जिन्हें यह चार वर्ष की अवस्था में छोड़कर मर गए थे। इनका जन्म सन् १८४६ ई० में लखनऊ में हुआ था। इन्होंने कैनिंग-कालेज में शिक्षा प्राप्त की थी पर कोई डिगरी न प्राप्त कर सके। खेरी के जिला स्कूल में यह टीचर हो गए और वहीं से 'मरसलए-काश्मीर' तथा 'अवध पंच' में लेख लिखते रहे। यह शिक्षा विभाग के लिए अनुवाद का कार्य भी करते रहे, जिसके लिए उनकी प्रशंसा भी हुई थी। यह 'मिरातुल हिंद' तथा 'रयाजुल् अखबार' में भी लेख देते थे। सन्

में हुआ था। इनके पिता का नाम तफ़ज़्ज़ुल हुसेन हकीम था। इनके नाना नवाब वाजिदअली शाह के साथ कलकत्ते गए, जहाँ यह सन् १८७७ ई० तक रहे। सन् १८८० ई० में यह 'अवध अखबार' के सहायक संपादक नियत हुए

शरर

और मुंशी अहमद अली कसमंडवी से लखनऊ की शिक्षा पाई। यह साहित्यिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि सभी विषयों पर लिखते थे। सन् १८८२ ई० में इन्होंने अपने मित्र के नाम से 'महशर' पत्र निकाला, पर दो वर्ष बाद यह बन्द हो गया। सन् १८८४ ई० में अवध अखबार की ओर से यह हैदराबाद गए, पर वहाँ लोगों ने 'हज़ार दास्ताँ' का संपादन ग्रहण करने को इन्हें बाध्य किया जिस पर 'अवध अखबार' से संबंध छोड़ने को यह लखनऊ आए, पर इसी बीच 'हज़ार दास्ताँ' मर गया, जिससे लखनऊ में ही रह गए। इसी समय इनका पहला उपन्यास 'दिलचस्प' दो भागों में निकला, जिसमें परेलू झगड़े तथा स्त्रियों की पराधीनता के दृश्य दिखलाए गए हैं। इसी समय दुर्गेशनंदिनी का भी अनुवाद प्रकाशित हुआ। सन् १८८६ ई० में 'दिलगुदाज़' पत्र निकला, जो कई बार बंद हुआ। इसका मूल्य पहले केवल एक रुपया और बाद को दो रुपये हो गया। 'मलिकुल् अज़ीज़ वर्जिनिया' इनका पहला ऐतिहासिक उपन्यास है। सन् १८८९ ई० में 'हसन ऐंजिलिना' निकला जिसकी घटना रूम और रूस की लड़ाइयों से ली गई है। 'मंसूर मोहाना' सोमनाथ पर मुहम्मद गोरी की चढ़ाई से संबंध रखता है। इसी समय इनका ऐतिहासिक नाटक 'शहीदे वफ़ा' निकला। इन सब में इनका धार्मिक जोश ही प्रधान है। सन् १८९० ई० में 'मुहज़्ज़ब' साप्ताहिक पत्र निकला। इसके पहले 'दिलकश' और 'यूसुफ़नजम' दो उपन्यास और भी निकल चुके थे। इसके बाद यह हैदराबाद गए, जहाँ दो वर्ष रहे और इसी बीच 'सिंध का इतिहास' बड़े परिश्रम से लिखा। सन् १८९२ ई० में यह इंगलैंड गए, जहाँ तीन वर्ष रहे। वहाँ अंग्रेजी और फ्रेंच भी सीखी।

उपन्यास के पठन का इतना प्रचार हो गया कि पैसा कमाने के लिए खूब उपन्यास लिखे जाने लगे, जिनमें साधारण कोटि के ही अधिक थे।

ख्वाजा हसन निजामी का जन्म सन् १२९० हि० में दिल्ली में हुआ था और यह ख्वाजा निजामुद्दीन औलिया की दरगाह के प्रधान मुजाविर थे। यह सूफी थे और इनका प्रभाव मुसल्मानों पर बहुत था। इनमें हठधर्मी बहुत थी। इन्होंने लगभग पचास पुस्तकें छोटी-बड़ी लिख डाली हैं। इनमें दस तो सन १८५७ ई० के विद्रोह तथा मुगल सम्राटों की संतानों की दुर्दशा से संबंधित हैं। इनकी लेखन शैली बड़ी आकर्षक थी पर भाव-गांभीर्य की कमी है। इनकी मृत्यु ३१ जुलाई सन् १९५५ को अस्सी वर्ष की अवस्था में दिल्ली ही में हुई। इनकी रचनाएँ कृष्णबीती, मुहर्रमनामा, मीलादनामा, बीबी की तालीम, जगबीती आदि हैं।

निजामी

मिर्जा मुहम्मद हादी 'रुसवा' बा० ए०, पी-एच० डी० कवि, नाटककार तथा उपन्यासकार तीनों थे। कविता में यह 'औज' के शिष्य हुए। 'मुरक्का लैला मजनूँ' इनका एक नाटक है। 'उमरावजान अदा' इनका प्रसिद्ध उपन्यास है। उम्मीदो बीम, मुम्हे उम्मीद, जाते शरीफ, खूने आशिक आदि इनके अन्य उपन्यास हैं। मसनवी नौबहार कविता है। मौलवी सैयद अफ़ज़लुद्दीन अहमद खाँ अजीमाबाद (पटना) के रईस थे, जिनके पिता नवाब अमीर अली खाँ अवध के वजीर थे। इन्होंने 'फिसानए खुर्शेदी' नामक बड़ा उपन्यास दो भागों में लिखा है, जिसमें गार्हस्थ्य जीवन के उद्देश्य दिखलाए गए हैं। हकीम मुहम्मद अली 'तबीब' प्रसिद्ध उपन्यासकार थे। इन्होंने ऐतिहासिक उपन्यास विशेष लिखे हैं। देवल देवी, इबरत, जाफर-अब्बास, अख्तर व हसीना आदि इनके उपन्यासों के नाम हैं। इन्होंने कुछ अंग्रेजी उपन्यासों का भी अनुवाद किया है जैसे नील का साँप।

अन्य उपन्यासकार

पत्रिका के भी संपादक हैं और इन्होंने कई उपन्यास भी लिखे हैं। इन्होंने 'अज नगमा' के नाम से गीतांजलि का अनुवाद भी किया है। प्रो० जलील अहमद क़िदवई की गल्पों की भाषा मर्मस्पर्शिनी होती है तथा उसके भाव भी गहन होते हैं। करुणोत्पादक घटनाएँ लेकर यह विक्षेप लिखते हैं। यह संयत भाषा में आभास मात्र देकर आगे बढ़ते हैं और बहुत कुछ पाठकों की समझ पर छोड़ देते हैं। मिस्टर एम० अस्लम ने राधा की कंठी सोहाग की रात आदि अच्छी गल्पें लिखी हैं। हामिदुल्ला अफ़सर मेरठी शिष्ट चलती हुई भाषा में घटनाओं का वर्णन करते हैं। ख्वाजा हसन निजामी ने भी बहुत सी गल्पें लिखी हैं। सुदर्शन जी के गल्पों के कई संग्रह चश्मो चिराग, बहारिस्तान, पारस आदि नाम से निकल चुके हैं। हास्य रस के गल्प लेखकों में मुल्ला रमूज़ी, शौकत थानवी, रशीद अहमद सिद्दीकी आदि प्रसिद्ध हैं। सुखद लाहौरी जासूसी कहानियाँ लिखते हैं। केवल गल्पों की पत्रिका के अभाव का सुदर्शन जी ने चंदन पत्र निकालकर पूर्ति की है। पूर्वोक्त सज्जनों के सिवा अनेक योग्य उपन्यास तथा गल्प लेखक उर्दू साहित्य की वृद्धि में दत्तचित्त हैं, जिनका स्थानाभाव के कारण उल्लेख नहीं हो सका है।

पत्र तथा पत्रिका

सवा सौ वर्ष से अधिक हुए कि उर्दू का पहला अख़बार सन् १८२१ ई० में कलकत्ते में राजा राममोहन राय के प्रबंध में 'मिरातुल् अख़बार' के नाम से निकला था। इसके दूसरे ही वर्ष से 'जामे जहाँ नुमा' नामक पत्र वहीं से निकला। यह फ़ारसी भाषा का पत्र था और इसका कुछ अंश उर्दू में भी रहता था।

प्रारंभिक पत्र

इसके प्रबंधक पं० हरिहर दत्त शर्मा थे। यह पत्र सन् १८७६ ई० में बंद हुआ था। इस पत्र के साथ साथ 'शम्सुल् अख़बार' भी किसी हिंदू के प्रबंध में निकला था पर शीघ्र ही बंद हो गया। इनके अनंतर उत्तरी भारत में दिल्ली से पहला अख़बार सन् १८३८ ई० में 'देहली उर्दू अख़बार' नाम

था। दिल्ली का अशरफुल् अखबार, स्यालकोट का विक्टोरिया पेपर, बंबई का कशफुल् अखबार, लखनऊ का कारनामा, मद्रास का जरीदए रोजगार और शम्सुल् अखबार सभी पद्रह बरस के भीतर पहले निकलने लगे थे। सन् १८५९ ई० में मुं० नवलकिशोर ने लखनऊ से 'अवध अखबार' प्रकाशित किया, जो अब तक उसी चाल से चला जा रहा है। यह साप्ताहिक था पर कुछ दिन ही बाद दैनिक हो गया। पं० रतनाथ सरशार के संपादक होने पर इसका प्रचार विशेष बढ़ा। इसकी भी निजी कोई पालिसी नहीं थी। समाचार के नाते विलायती तारों के तर्जुमे छपते थे और पायोनियर आदि के लेख भी अनूदित हो प्रकाशित होते थे। लाहौर से पं० मुकुंदराम ने अखबारे आम' निकाला और इसका मूल्य भी जनसाधारण के उपयुक्त रखा। इसके पहले पत्रों के मूल्य इतने होते थे कि हर एक उसे नहीं ले सकता था। यह पहले कोरा समाचार पत्र था और स्कूलों के लिए लिया जाता था। अफगान तथा रूस-रूम युद्धों के समय इसका प्रचार खूब बढ़ा। इसका आकार बढ़ा तथा यह क्रमशः अर्द्ध साप्ताहिक, सप्ताह में तीन बार और बाद को दैनिक हो गया। साहित्यिक अंश भी अधिक रहने लगा पर यह भाषा या नीति के लिए कभी प्रसिद्ध नहीं हुआ। लखनऊ से सन् १८७७ ई० में 'अवध पंच' निकला, जो हास्य रस का प्रथम पत्र है। इसके संपादक मुं० सज्जाद हुसेन स्वयं हास्य रस के सजीव रूप थे। इसकी भाषा टकसाली उर्दू थी। इसमें धर्मांधता नाम को न थी और इसके लेखों में स्वतन्त्रता पूर्वक विचार प्रकट किए जाते थे। इनकी देखा देखी कई पंच निकले पर कोई भी अधिक दिन नहीं चला और न इसके समकक्ष हो सका। अब तक के प्रायः सभी पत्र अपना उद्देश्य स्थिर कर नहीं चले थे पर अब यह समय आ गया था कि पहले ही उसे निश्चय कर तब पत्र निकाला जाय। सन् १८८३ ई० में लखनऊ से हिंदुस्तानी-पत्र निकला, जिसके संपादक गंगा प्रसाद वर्मा थे। आरंभ में यह हिंदी और उर्दू दोनों में निकलता था पर कुछ

'गुलदस्तए नतीजए सखुन' मासिक पत्र निकला, जिसमें तरह पर लिखी अनेक गजलें छपती थीं। इसकी देखा देखी आगरे से 'गुलद स्तए सखुन', लखनऊ से निसार हुसेन का 'पयामे यार' और 'गोहरए उश्शाक' तथा कन्नौज से 'पयामे आशिक़' निकले। इन सब में ग़ज़लों का ज़ोर था। इनमें कई अभी चलते हैं पर उनका अब समय नहीं रहा। अब्दुल् हलीम शरर ने 'दिलगुदाज़' पत्रिका निकाला जिसमें धाराबाही उपन्यास निकलना एक विशेषता थी। यह पत्र अब तक बराबर चल रहा है। सन् १८८९ ई० में फ़ारोख़ाबाद से सैयद अकबर अली के संपादकत्व में अदीब निकलने लगा पर बारह महीने की बारह संख्याएँ निकल कर रह गईं। इस नाम की एक पत्रिका इसके बहुत दिनों बाद इंडियन प्रेस प्रयाग से निकली पर शीघ्र ही बंद हो गई। सन् १९०१ ई० में लाहौर से 'मख़ज़न' प्रकाशित होने लगा। यह मासिक पत्र अत्यंत सुचारु रूप से निकलता था। इसके संपादक अब्दुल् क़ादिर बा० ए० थे, जिनके अध्यवसाय से इस पत्र की बराबर तरक्की होती गई। सन् १९११ ई० तक यह मख़ज़न के स्वयं संपादक रहे और सन् १९२० ई० तक सम्मान्य संपादक बने रहे। इनका उल्लेख पहले हो चुका है।

'मुआरिफ़' नामक एक मासिक पत्र सन् १८९८ ई० में आरंभ हुआ और तीन वर्ष चलकर बंद हो गया। इसमें हाली की कविता छपती थी। अरबी भाषा के दार्शनिक लेख निकलते थे और एक नाविल भी छपता था। हैदराबाद से 'हसन' नामक एक पत्र निकालता था। नवल-किशोर प्रेस से 'अवध रिव्यू' निकला, जो छ मास चल कर बंद हो गया। मु० नौबतराय नज़र प्रसिद्ध कवि थे। इन्होंने 'ख़दंगेनज़र' नामक पत्रिका निकाली जिसमें एक भाग पद्य और एक भाग गद्य का होता था। यह प्रयाग के आबिद और लखनऊ के अवध अख़बार के भी संपादक रहे। हैदराबाद से दकिन रिव्यू और अफ़साना निकला था जिसका अधिकांश नाविल होता था। हैदराबाद से दबदबए

कई कंपनियाँ खुल गई। अब टॉकियों का बहुत प्रचार हो गया है। सितारा, फिल्मिस्तान आदि इसी विषय के पत्र हैं। क़ानून तथा हकीमी की पुस्तकें उर्दू में काफी प्रकाशित हो चुकी हैं और उर्दू के प्रचार के लिए भी कई संस्थाएँ बहुत अच्छा कार्य कर रही हैं। इनमें नदवतुल् उलमा, दारुल् मुसन्निफ़ीन और अंजुमन तरक्क़ी उर्दू का उल्लेख हो चुका है। अलीगढ़ कॉलेज से भी फारसी तथा उर्दू का अच्छा प्रकाशन हो रहा है। इस प्रांत की गवर्नमेंट के आश्रय में हिंदुस्तानी एकेडेमी भी उर्दू का ठोस कार्य कर रही है। नवलकिशोर प्रेस ने भी उर्दू के लिए जो कार्य किया है वह भी किसी संस्था से कम नहीं है।

इस समग्र इतिहास के पढ़ जाने पर पाठकों को ज्ञात होगा कि उर्दू में उन्नति के लिए जैसा कार्य हो रहा है और उसके कुछ प्रेमी जितने निस्वार्थ भाव से उसकी सेवा में दत्तचित्त हैं वह हिंदी के दिग्गज विद्वानों तथा हामियों के लिए आदर्श है।

—:o:—

केवल यह उच्च स्तर के सुशिक्षित पढ़े लोगों के लिए है। क्या ऐसी ही उर्दू को जन साधारण की सामान्य बोलचाल की भाषा कहा जा सकता है।

इधर मौलाना अब्दुलहक साहब फर्माते हैं कि 'उर्दू जुबान जदीद (नई) हिंदी की तरह किसीने बनाई नहीं, यह तो खुद बखुद बन गई और उन कुदरती हालात ने बनाई जिन पर किसी को कुदरत न थी।' इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं, पहली यह कि हिंदी नई बनाई हुई भाषा है और दूसरी यह कि उर्दू पुरानी तथा स्वत बनी हुई प्राकृतिक भाषा है। सैयद सुलेमान साहब भी इसका समर्थन करते हैं कि 'हिंदी के नाम से एक जुबान की तखलीक शुरू हुई है और बाज सूबों में यहाँ तक किया गया कि उर्दू सब तक अदालतों से खारिज कर दिया गया। और अब यह तहरीक यहाँ तक जोर पकड़ रही है कि यह कोशिश की जा रही है कि इस सूबे के चंद शाअरों ने जिस भाषा में कुछ मजहबी नग्में कभी लिखी थीं वही पूरे मुल्क की जुबान बना दी जाय।' इसके खंडन में कुछ कहना सामान्य लोगों का शक्ति के बाहर समझना चाहिए क्योंकि वे 'सनद' (प्रमाण) माने नहीं जायँगे अत पहले सैयद इंशाअल्लाह खाँ 'इंशा' (मृत्यु सन् १८१७ ई०) की बात सुननी चाहिए। ये कहते हैं कि 'यहाँ (दिल्ली) के खुश बयानों ने मुत्तफिक हो कर मुतअद्दिद जुबानों से अच्छे अच्छे लफ्ज निकाले और बाजे इबारतों और अल्फाज में तसर्रुफ करके और जुबानों से अलग एक नई जुबान पैदा की जिसका नाम उर्दू रक्खा।' (दरियाए लताफत पृ० २)। मीर अम्मन अपने बागो बहार की भूमिका में लिखते हैं कि 'इकट्ठे होने से आपस में लेन-देन, सौदा-सुल्फ, सवालो-जवाब करते करते एक जुबान उर्दू की मुकर्रर हुई।' पूर्ववर्तीगण इंशा अम्मन उर्दू को नई कृत्रिम भाषा बतलाते हैं और परवर्तीगण मौलाना-सैयद इसीके उत्तर में उसे पुरानी कुदरती प्रमाणित कर रहे हैं पर ध्यान

आदि के समान ही नई गढ़ी हुई भाषा न होकर उन्हीं सी विकसित भाषा है और उतनी ही पुरानी है। इसी सत्य को दुराग्रह के कारण छिपाने तथा उर्दू का प्रचार करने के लिए ऊपर लिखे भ्रम-जाल फैलाए जा रहे हैं जिनका भाव है कि—

१ हिंदी ही नई गढ़ी हुई भाषा है और उर्दू 'कुदरती' स्वत' बनी हुई भाषा है।

२ हिंदी कलकत्ते के फोर्ट विलिअम में गढ़ी गई है अतः उससे प्राचीन नहीं है और उर्दू बहुत पुरानी तथा तेरहवीं शती के खुसरू के पहले ही कुदरती तौर पर बन गई थी।

३ हिंदी नहीं प्रत्युत् उर्दू या हिंदुस्तानी सारे भारत की सामान्य भाषा है।

श्रीमान् सक्सेनाजी ने या जनाब सक्सेना साहब ने उक्त ग्रंथ में पूर्वोक्त लिखी बातों का अनेक रूप से समर्थन करते हुए यह विचित्र बात लिखी है कि 'हिंदू और मुसलमान दोनों ने अपनी-अपनी जातीय और देशी भाषाओं को छोड़कर एक तीसरी भाषा अंगीकार करके परस्पर मेल-मिलाप का उदाहरण उपस्थित किया है और यह (तीसरी) भाषा यद्यपि हिंदुस्तान में पैदा हुई लेकिन विदेशी साधनों से इसकी उन्नति और विकास हुआ।' मुसल्मानों की, नवागतुक मुसलमानों की, भाषा पश्तो, फारसी, अरबी, तुर्की आदि अनेक निजी देशीय भाषाएँ थीं या रही होंगी पर हिंदू की निजी—देशीय भाषा या भाषाएँ कौन थीं, जिन्हें छोड़कर तीसरी भाषा अंगीकार की गई यह विचारणीय है। यह तीसरी भाषा, मेल-मिलाप की भाषा, उर्दू है यह तो स्पष्ट ही आप घोषित कर रहे हैं, जिसका मुसल्मानों की भाषा के विदेशी साधनों से उन्नति और विकास हुआ पर हिंदू की भी किसी भाषा का कुछ अंश इसमें है या नहीं यह स्पष्ट नहीं किया गया है। गुजराती, मराठी, बंगला आदि कहा नहीं जा सकता क्योंकि हिंदू की निजी—देशीय भाषाएँ होते भी इनका चिन्ह मात्र भी उर्दू में नहीं है और

उर्दू को अंतर्जातीय तथा सारे भारत की सामान्य भाषा बतलाया गया है और कुछ अंशों तक इसे इसलिए ठीक मान सकते हैं कि उर्दू उस भाषा के आधार पर बनाई गई है जो वास्तव में अंतर्जातीय तथा सारे भारत की सामान्य भाषा है। मि० सक्सेना साहब ने बीम्स साहब का एक उद्धरण दिया है कि 'मैं उर्दू को एक बहुत उन्नति करने वाली और उस विशाल भाषा का सभ्य रूप समझता हूँ जो हिंदुस्तान में प्रचलित है। उर्दू न केवल एक विस्तृत, परिमार्जित, जर्य सूचक और परिपूर्ण भाषा है बल्कि यही एक साधन है, जिससे गंगा किनारे रहने वाली जातियाँ अपनी भाषा की समृद्धि दिखला सकती हैं।' संभव है पर यह तो केवल बीम्स साहब की निजी रुचि तथा सम्मति है। उक्त उद्धृत अंश में 'उस विशाल भाषा' से किस भाषा का तात्पर्य है इसे सक्सेना साहब ने नहीं लिखा क्योंकि उसके लिखते ही उर्दू के सारे भारत की सामान्य भाषा होने की घोषणा करने का उन्हें साहस न रह जाता। उर्दू तो भारत में जहाँ जहाँ हिंदी वाली या समझी जाती है वहीं अपने को भी प्रगट करती है, अन्यत्र नहीं। पूर्वी पाकिस्तान में हिंदी का स्थान कभी नहीं था और न है प्रत्युत् बंगला भाषा का है अतः वहाँ उर्दू का कितना घोर विरोध तथा बंगला का पक्षपात हो रहा है यह सभी जानते हैं और इससे इस बात की पुष्टि होती है कि उर्दू का हिंदी भाषी प्रान्तों ही में स्थान मिल सकता है अन्यत्र नहीं। परंतु हिंदी को स्थानान्तरित कर उर्दू का उसका स्थान ग्रहण करने का प्रयास दुस्साहस मात्र है। सक्सेना साहब ने गारसाँ दतासी, जॉर्ज कैम्पेल तथा विंसेन्ट स्मिथ तीन विदेशियों की सम्मतियाँ भी अपने समर्थन में उद्धृत की हैं क्योंकि उनकी राय में ऐसे विद्वानगण ही सम्मान्य हैं और उनके विचार कुछ आपके विचारों से मिलते हैं परन्तु ये सम्मतियाँ वास्तविक विवेचनीय विषय पर कुछ प्रकाश नहीं डालतीं।

इसीके आगे 'उर्दू का बोधापन' दिखलाते हुए आप स्वयं कहते

पहले यह शुद्ध हिन्दी ही थी और बाद में बनी दक्खिनी। इसके उपरान्त जब यह उत्तर आई तब तक मुगलवंशजात तैमूरिया खानदान दिल्ली में कई पीढ़ियों से जमा हुआ था और उसका पक्ष उर्दू हो नहीं था फिर भी उसका मुख्य भी बन चुका था। उर्दू शब्द तुर्की है और तैमूरिया खानदान के साथ ही भारत में आया है तथा यही कारण है कि यह पहले यहाँ अप्राप्य था। दिल्ली के मुसलमानों ने जब इस दक्खिनी हिन्दी की कविताएँ देखीं तो उन्हें उनकी इच्छानुसार एक ऐसी भाषा उनमें मिली जिसे वे 'मुतमादिल ज़ुबानों से' अच्छे अच्छे लफ़्ज़ निकालकर और खास इबारतों और अल्फ़ाज़ का इस्तेमाल कर और ज़ुबानों से अलग एक नई ज़ुबान पैदा कर सकें तथा इस प्रकार एक नई भाषा पैदाकर उसका नाम उर्दू रखा। इस प्रकार इस भाषा के तीन रूप दिखलाई पड़ते हैं, प्रथम मौलिक द्वितीय दक्खिनी और तृतीय उच्च स्तर के लोगों द्वारा उनकी इच्छानुसार परिमार्जित उर्दू। यही सामयिक रूप वास्तविक उर्दू है, जो जनसाधारण की सामान्य भाषा नहीं है परन्तु जो समभाव्य तथा आते-जाते आनेवाली है। दक्खिनी इसका पूर्वरूप है और भाषा की दृष्टि से प्रथम मौलिक रूप ही है अतः हिन्दी ही है जिसमें कुछ विदेशी शब्द मिल गए हैं।

उक्त तथ्य का विचार कर लेने पर देखा जाता है कि इस परिशिष्ट के आरंभ में जो अनेक उद्धरण दिए गए हैं उन सब का कुछ न कुछ समाधान हो जाता है। दास तथा मीर साहब और इंशा एवं अन्सार इसी तीसरे रूप वर्तमान उर्दू के संबंध में कह रहे हैं। मौलाना अब्दुलहक साहब तीनों रूपों को एकमय मान कर तथा हिंदी के अस्तित्व को भूलकर अपने स्याह को साफ कह डालते हैं और इसी का समर्थन सुलेमान साहब भी करते हैं पर दोनों ही तथ्य को अस्पष्ट रखकर। वास्तव में उर्दू ही नई गढ़ी हुई भाषा है, जो हिंदी (खड़ी बोली) तथा फारसी अरबी भाषाओं के आधार पर बनी है और जिनके आधार पर बनी है वे उससे बहुत प्राचीन भाषाएँ हैं।

दुरूह भी होता है। हिंदी के प्रचार में उर्दू के कारण जितनी बाधाएं पहुँच चुकी हैं और पहुंच रही हैं उसमें हिंदुओं का भी हाथ कम नहीं रहा है तथा न है पर इससे उसके सहज प्रचार का ऐसा अव्याहत बात रोक नहीं सकती।

इधर ही एक अंग्रेजी पत्र में सूचना निकली है कि 'द नेशनल जियोग्रैफ़ सोसाइटी ऑफ द यूनाइटेड स्टेट्स' की जाँच से पता लगा है कि संसार में अंग्रेजी भाषा के बोलनेवाले छब्बीस करोड़, हिंदुस्तानी के इक्कीस करोड़, रूसी के साढ़े चौदह करोड़ तथा स्पेनिश के साढ़े ग्यारह करोड़ हैं और इस प्रकार हिंदुस्तानी संसार की सबसे अधिक बोली जानेवाली भाषाओं में द्वितीय है। अब इस हिंदुस्तानी शब्द को लेकर एक पक्ष इसे उर्दू कहेगा और दूसरा हिंदी। परंतु ध्यान रखना चाहिए कि वास्तविक उर्दू भाषा आते आते आती है और जिस देश में नब्बे प्रतिशत मनुष्य अशिक्षित हैं वहाँ उर्दू का बोलनेवाले कितने हो सकते हैं। वास्तव में हिंदुस्तानी से यहां तात्पर्य हिंदी ही से है, जिसके अंतर्गत राजस्थानी, अवधी, बुंदेली, बिहारी आदि सभी आ जाती हैं और उर्दू भी हिंदी से फटी हुई एक विभाषा मात्र है।

इधर कुछ दिनों से ऊपर लिखे गए विचारों के अनुसार उर्दू को बोलचाल की भाषा बनाने या बापत करने के उद्देश्य से कुछ लेखकों ने उसे सरल बनाने का भी प्रयत्न आरंभ किया है पर यह बहुत कम हो पाया है और इसका कारण मुख्यतः यही है कि उर्दू का मूल उद्देश्य मुसलमानों की निजी भाषा बनी रहने का है। इस उद्देश्य को उसके प्रेमीगण किसी अवस्था में भूल नहीं सकते और इसी से दूसरी ओर उसे अधिक जटिल बनाने का प्रयास भी चल रहा है। अरबी शब्दावली तथा फारसी का योजनाएं चुन चुनकर उर्दू भाषा में खपाई जा रही हैं और हिंदी के केवल वे ही शब्द आ पाते हैं जिनके अभाव में उर्दू उर्दू ही न रह जायगा। एक सज्जन लिखते हैं—

सत्ता प्रकृत्या है व रहेगी पर हिंदी-साहित्य में वैसी भाषा उच्च स्तर के विशिष्ट विषयों तक ही सीमित है। क्लिष्ट या सरल या बोलचाल की हिंदी हिंदी ही बनी रहती है पर उर्दू में यह बात नहीं है। फारसी-अरबी की शब्दावली के अभाव में या अधिक कमी कर देने से उर्दू हिंदी ही बन जाती है उर्दू नहीं रह जाती और ऐसा करने के लिए उर्दू के प्रेमीगण कभी तैयार भी नहीं हैं और न होंगे क्योंकि वे उसे मुसलमानों की निजी भाषा बनाए रखना अपना कर्तव्य समझते हैं। ऐसी अवस्था में अब दोनों के क्षेत्र भिन्न हो गए हैं और उन्हें अपनी अपनी उन्नति बिना एक दूसरे पर आक्षेप करते हुए अपने अपने क्षेत्रों में करना चाहिए।

—:o:—